मानसिक आरोग्य

लेखक

लालजीराम शुक्ल एम० ए० बी टी०

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज

काशी विश्व-विद्यालय

[सरल मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान, नवीन मनोविज्ञान,
मानसिक चिकित्सा नीतिशास्त्र प्रभृति ग्रन्थों के रचयिता]

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रादर्स, चौक

बनारस

प्रथम बार ११००] मूल्य ४)

प्राक्कथन

संसार का कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा है जिसे किसी न किसी प्रकार का मानसिक रोग न हो। आधुनिक सभ्यता की एक विशेषता यह है कि मनुष्य के मानसिक रोगों की संख्या बढ़ गई है। जैसे-जैसे इस सभ्यता का प्रसार होता है वैसे-वैसे मानसिक रोगों की संख्या बढ़ती जाती है। बढ़ते हुए मानसिक रोगों के रोकने का वैज्ञानिक उपाय खोजा गया तो मनुष्य का लौकिक जीवन असह्य हो जायगा।

मानसिक रोगों की एक विशेषता यह है कि स्वयं रोगी को अथवा दूसरे व्यक्तियों को यह पता नहीं चलता कि उनसे मिलने वाले व्यक्ति को मानसिक रोग है। मानसिक रोग छिपा हुआ रोग होता है। कई मानसिक रोगियों का रोग शारीरिक रोग का आवरण लिए रहता है। अतएव किसी व्यक्ति के मानसिक रोग की पहचान कर सकना मनोवैज्ञानिक सूझ और अनुभव की अपेक्षा रखता है। इसके लिये मन की गुप्त क्रियाओं का ज्ञान करना नितांत आवश्यक है।

इस पुस्तक का उद्देश्य मन की उन गुप्त क्रियाओं पर प्रकाश डालना है जो प्रत्येक व्यक्ति के मन में उसके अनजाने चलती रहती हैं और जिनके चलने में गड़बड़ी होने से मानसिक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। मन की क्रियाओं को समझना न केवल अपने आसपास के लोगों को समझने और गिरी मानसिक स्थिति में उनकी सहायता करने के लिए आवश्यक है वरन अपने आपको समझने और अपने बिगड़े मानसिक साम्य को फिर से प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक है। मनुष्य दूसरों की मानसिक स्थिति को पहले समझ लेता है पीछे उसे अपनी ही मानसिक स्थिति का ज्ञान होता है। इस तरह मानसिक रोगियों के मन की बनावट को समझ कर मनुष्य स्वयं अपने आपको समझता है और अपने मानसिक रोग को पहचान लेता है। किसी प्रकार का मानसिक रोग अपने आपके विषय में अर्थात् अपने भीतरी मन के

विषय में अज्ञान को स्थिति में रहता है, जब मनुष्य अपने आपको समझने की चेष्टा करने लगता है तो उसके सभी प्रकार के रोग दोष का अन्त हो जाता है। जिस प्रकार किसी तरह के विषैले जीव-जन्तु और शारीरिक रोगों के कीटाणु वहाँ नहीं रह पाते जहाँ सूर्य का प्रकाश जाता है, उसी तरह जहाँ मनुष्य की चेतना का प्रकाश जाता है वहाँ मनुष्य को नुकसान पहुँचाने वाले अभद्रभाव और मानसिक रोगों के कीटाणु नहीं रह पाते।

आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि मनुष्य के रोगों का कारण उसके मन में रहने वाली मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ उसके मन की किसी गहरी तह में रहती हैं, जब तक ये ग्रन्थियाँ उलझी हुई अवस्था में रहती हैं व्यक्ति का मानसिक रोग नहीं जाता। ग्रन्थियों के सुलझाने के लिये उन्हें चेतना के प्रकाश में लाना और उनके सुलझाने का सतत् यत्न करना नितांत आवश्यक है। साधारणतः जिस व्यक्ति के मन में जटिल मानसिक ग्रन्थियां रहती हैं वह अपने आपके विषय में सोचने की क्षमता नहीं रखता ऐसी अवस्था में उसे किसी बाहरी उदार व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता होती है। स्वस्थ मनुष्य के सम्पर्क में आकर दूसरे लोग भी स्वस्थ [illegible] हैं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उलझे मन के व्यक्ति को अपने आचरण और विचारों के द्वारा अपने आपको सुलझाने में सहायता दे।

यह पुस्तक उन लोगों के लिए विशेषकर लिखी गई जो अपने आपको पहचानना चाहते हैं और अपनी मानसिक व्याधियों की चिकित्सा स्वयं करना चाहते हैं। इस पुस्तक में कुछ मानसिक रोगियों की सफल चिकित्सा के उदाहरण दिये गए हैं। ये केवल इसलिए लिखे गए हैं कि मनुष्य उनके द्वारा अपने आपको भली प्रकार से पहचान सके और अपने रोग का अपने आप ही उपचार कर सके। जब हम दूसरे लोगों को अपनी कठिनाइयों को पार करते देखते हैं तो हमें विश्वास हो जाता है कि हम अपनी कठिनाइयों को भी पार कर सकेंगे। जब मनुष्य मानसिक रोग की अवस्था में रहता है तो उसका आत्म-

विश्वास जाता रहता है। इस खोये आत्म-विश्वास का फिर आ जाना रोग से मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

मानसिक चिकित्सा के विशेषज्ञों का कथन है कि मानसिक रोग मनुष्य को तभी होता है जब वह उसका स्वागत करता है। मनुष्य बाहरी मन से रोग से परेशान रहता है पर भीतरी मन से वह उसे चाहता है। रोगी स्वयं इस बात को नहीं जानता। अतएव कोई चिकित्सक तबतक मानसिक रोगी को आरोग्य प्रदान करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता जबतक स्वयं रोगी भीतरी मन से रोग को छोड़ना न चाहे। इसके लिए रोगी को अपने आपको समझना, अपने अनेक प्रकार के भ्रम को नष्ट करना, जीवन के प्रति अपना उचित दृष्टि कोण बनाना आवश्यक है। जहाँ तक चिकित्सक रोगी का इस कार्य में सहायक होता है वह स्थायी आरोग्य लाभ करने में उसकी सच्ची सहायता करता है। यह पुस्तक रोगी व्यक्तियों को अपने जीवन के प्रति उचित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को देने चेष्टा करती है। यह दृष्टिकोण आये हुए रोग को नष्ट करने और नहीं आये रोग को रोकने के लिए आवश्यक है।

मानसिक आरोग्य और मानसिक शान्ति एक ही तथ्य के दो नाम हैं। जब मनुष्य विकास के आध्यात्मिक नियमों की अवहेलना करता है तो पहले उसे साधारण चिन्तायें और भय घेर लेते हैं, पीछे यही बढ़कर मानसिक रोग का रूप धारण कर लेतेहैं। यदि कोई व्यक्ति प्रारंभ से ही अपने जीवन को उचित ढंग से चलावे तो उसे मानसिक रोगों का शिकार ही न बनना पड़े। जीवन-यापन के उचित नियम क्या हैं, इन्हें पुराने प्राच्य और पाश्चात्य ऋषियों और दार्शनिकों ने तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने बताने की चेष्टा की है। यहाँ ऐसे कुछ विचारों का उल्लेख है। ये आज भी हमें भारतवर्ष में उसी प्रकार उपयोगी हैं जिस प्रकार वे पुराने समय में थे और दूसरे देशों के लोगों को अभी उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

यह पुस्तक प्रधानतः अपने अथवा दूसरे लोगों के प्रयोगों के

आधार पर लिखी गई है। इस पुस्तक में कहे गये कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जिनपर अधिक प्रयोग करने की आवश्यकता है। परन्तु कोई भी ऐसा सिद्धान्त यहां प्रतिपादित नहीं किया गया है जिसकी सत्यता में लेखक को सन्देह हो। हमें विश्वास है कि पाठक भी अपने अनुभव की कसौटी पर इस पुस्तक में कहे गए विचारों को ठीक पावेंगे। अपने आपके विषय में बार बार चिन्तन करने से आत्म-ज्ञान बढ़ता है। यदि यह पुस्तक पाठकों को अपने मन के विषय में सोचने भर की सामग्री दे तो भी लेखक को संतोष होगा।

जिन पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के विचारों से लेखक को विशेष लाभ हुआ उनमें इमील कूये, फ्रायड, युंग, होमरलेन, जोशुआ लाथ लीबमेन महाशय के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक विचारों की पूर्णता तो तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य का उचित दार्शनिक दृष्टिकोण बन जाता है। इस दार्शनिक दृष्टिकोण को प्राप्त करने में जिन महात्माओं के विचारों से सहायता मिली उन सबके नाम यहाँ देना असंभव है। इस पुस्तक में स्थान स्थान पर उनके नाम उल्लिखित किए गये हैं; परन्तु इतना करने से उनका ऋण नहीं चुकता। उनके शुभ चिन्तन के कारण ही आज हम शुभ चिन्तन कर रहे हैं। दर्शन और आरोग्य शास्त्र को एक दूसरे से मिलाना एक कठिन कार्य है। पर भारतवर्ष के पुराने ऋषियों ने यही करने की चेष्टा की है। इस परंपरा को मानते हुए लेखक ने भी मानसिक आरोग्य के सिद्धान्तों का दार्शनिक विचारों से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। लेखक का विश्वास है कि इससे पाठकों का लाभ होगा।

काशी विश्वविद्यालय
११ जून १९५०

लालजीराम शुक्ल

विषय-सूची

प्रथम प्रकरण

दूसरा प्रकरण

तीसरा प्रकरण

चौथा प्रकरण

पाँचवा प्रकरण

छठाँ प्रकरण

सातवाँ प्रकरण

आठवाँ प्रकरण

नवाँ प्रकरण

दसवाँ प्रकरण

ग्यारहवाँ प्रकरण

बारहवाँ प्रकरण

तेरहवाँ प्रकरण

चौदहवाँ प्रकरण

पन्द्रहवाँ प्रकरण

सोलहवाँ प्रकरण

सत्रहवाँ प्रकरण

अठारहवाँ प्रकरण

उन्नीसवाँ प्रकरण

बीसवाँ प्रकरण

इक्कीसवाँ प्रकरण

बाइसवाँ प्रकरण

प्रथम प्रकरण

विषय प्रवेश

मानसिक आरोग्य के ज्ञान की महत्ता

वह मनुष्य बड़ा भाग्यवान है जिसका स्वास्थ्य अच्छा है। धन-सम्पत्ति, पारिवारिक सुख और संसार में कीर्त्ति मनुष्य के स्वास्थ्य के ऊपर निर्भर करती हैं। अस्वस्थ मनुष्य अपने लिये और दूसरों के लिये भार होता है, दूसरे लोग उसकी सेवा करते करते ऊब जाते हैं और धीरे धीरे वे उसकी इच्छाओं की अवहेलना करने लगते हैं। बहुत देर तक रोगी रहने वाला व्यक्ति संसार से निराश हो जाता है। वह सभी लोगों को स्वार्थी, धूर्त्त और ठग के रूप में देखने लगता है। ऐसा व्यक्ति बार बार मन में आत्महत्या के विचार लाता है देर तक रोगी रहनेवाले कितने ही व्यक्ति आत्महत्या कर भी डालते हैं। यदि मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो उसका कुछ भी ठीक नहीं है। उसे मीठे पदार्थ कड़वे और प्रिय वस्तु अप्रिय दिखाई देने लगती है। उसमें अपने स्थान परिवर्तन की क्षमता भी नहीं रह जाता। वह जहाँ जाता है वहाँ दुःख का जीवन ही पाता है। वास्तव में जो मनुष्य अपने आप से परेशान रहता है वह बाहरी वातावरण से परेशान रहता है। अपने आप में आनन्द की स्थिति रहने पर बाहरी जगत् सुखदायी होता है और अपने आप में दुःख की स्थिति होने पर बाहरी जगत् दुःखरूप प्रतीत होता है।

मनुष्य का स्वास्थ्य दो प्रकार का होता है—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। दोनों प्रकार के ही स्वास्थ्य जीवन को सुखी और सफल

बनाने के लिये आवश्यक हैं। वे एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य के ऊपर मानसिक स्वास्थ्य निर्भर करता है और मानसिक स्वास्थ्य के ऊपर शारीरिक स्वास्थ्य। अँग्रेजी में कहावत है कि स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में रहता है (हैल्दी माइन्ड इन ए हैल्दी बाडी)। जिस प्रकार उक्त कथन सत्य है इसी प्रकार यह भी सत्य है कि स्वस्थ शरीर के लिये स्वस्थ मन का होना नितांत आवश्यक है। जब तक मनुष्य की दृष्टि बहिर्मुखी होती है, तब तक वह स्थूल पदार्थों को, अर्थात् भौतिक जगत की बातों को, मनुष्य के जीवन को सुखी और दुःखी बनाने में अधिक महत्ता देता है। जब मनुष्य की बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है तो वह स्थूल जगत की प्रत्येक घटना का कारण सूक्ष्म तत्त्वों में खोजने की चेष्टा करता है। भौतिक चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के शारीरिक और मानसिक आरोग्य रखने में प्रधान कारण शारीरिक क्रियायें हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर मनुष्य के सभी प्रकार का आरोग्य उसके मन के व्यापारों पर निर्भर करता है। मनुष्य जैसी कल्पना करता है वैसी ही उसकी शक्ति हो जाती है। मनुष्य की कल्पना ही उसके रोग और स्वास्थ्य का कारण बनती है। स्वस्थ मनुष्य वह है जिसकी कल्पनायें भली हैं, जिसका मन अपने वश में है, जो अपने जीवन को एक लक्ष्य की ओर लगाये हुए है, जो अपने बारे में चिन्तन न कर दूसरों की भलाई का चिन्तन करता है, जिसे रोगी बनने की फुर्सत ही नहीं मिलती और जिसका मानसिक साम्य सुधरा हुआ है। ऐसे व्यक्ति के जीवन के सभी अंगों में समता और सौन्दर्य दिखाई देते हैं, ऐसे व्यक्ति का शरीर स्वस्थ और सुन्दर होता है। मानसिक आरोग्य रखनेवाले व्यक्ति का मन बलवान होता है, उसके निश्चय दृढ़ और प्रगतिशील होते हैं, उसके मन में निरर्थक संदेह नहीं रहते, अकारण भय और चिन्ता उसको नहीं सताती। ऐसे व्यक्ति का शरीर भी बलवान होता है। जब मनुष्य का मानसिक बल नष्ट हो जाता है, तो उसका शारीरिक बल भी नष्ट हो जाता है। मन के निर्बल हो

जाने पर, किसी प्रकार का बुरा विचार मन में घुस जाने पर बाहर नहीं निकलता, वह मनुष्य के मन को और भी निर्बल बना देता है। जब मनुष्य का मन निर्बल रहता है तो शरीर भी निर्बल रहता है। निर्बल शरीर में जब किसी प्रकार रोग के कीटाणु आ जाते हैं तो वे शरीर से बाहर नहीं निकलते। कभी कभी वे शरीर को ध्वस्त कर डालते हैं।

कितने ही लोग शारीरिक रोगों के निराकरण में मानसिक स्थिति की महत्ता न जानकर रोगी का शारीरिक उपचार किया करते हैं, इससे रोगी को कुछ ऊपरी लाभ हो जाता है, परन्तु उसके मन की कमजोरी न जानने के कारण रोगी पीछे पहले से भी अधिक भयानक रोग से आक्रान्त हो जाता है। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के कुछ विशेषज्ञ इस निष्कर्ष पर आये हैं कि जिस प्रकार वकील लोग संसार में अपराधों की संख्या बढ़ाते हैं इसी प्रकार डाक्टर लोग भी अपनी चिकित्सा द्वारा संसार में रोगों की संख्या बढ़ाते हैं। प्रत्येक रोग मनुष्य को शिक्षा देने के लिये आता है। प्राकृतिक चिकित्सकों का कथन है कि प्रकृति के किसी नियम की अवहेलना के कारण मनुष्य को किसी प्रकार का रोग होता है। यह रोग जड़ से तब तक नष्ट नहीं होता जब तक कि मनुष्य अपने अपराध का प्रायश्चित्त नहीं कर लेता और अपना जीवन प्राकृतिक नहीं बना लेता। किसी प्रकार का रोग रोगी का सुधार करने के लिये आता है। उसका हेतु उत्तम होता है। जब रोग को समय के पूर्व हटाने की कृत्रिम चेष्टा की जाती है। तो रोग ऊपरी दृष्टि से तो हट जाता है परंतु वास्तव में वह हटता नहीं। जब रोगी का सच्चा सुधार हो जाता है तभी वह हटता है।

अब यदि हम यह पूछें कि यह सच्चा सुधार क्या है। तो हम इसे मानसिक बल की वृद्धि, मानसिक आरोग्य की प्राप्ति, स्वावलंबन की शक्ति आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं पायेंगे। इस प्राकृतिक चिकित्सा का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य को मानसिक आरोग्य प्रदान

करना है। कई प्राकृतिक चिकित्सक प्राकृतिक चिकित्सा के इस लक्ष्य को जानते हैं परन्तु कुछ प्राकृतिक चिकित्सक इस लक्ष्य को भली भाँति नहीं जानते। इसके कारण वे प्राकृतिक चिकित्सा को स्वयं लक्ष्य बना लेते हैं। यह प्राकृतिक चिकित्सा की मूर्त्ति-पूजा करना है। प्राकृतिक चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सुधारना है। यदि इस उद्देश्य को प्राकृतिक चिकित्सा के प्रवर्तक ध्यान में रखें तो वे मानव जाति का कितना कल्याण कर सकेंगे, यह कौन कह सकता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तिम लक्ष्य को समझ लेने पर ये चिकित्सक न केवल असाध्य शारीरिक रोगों का भलीभाँति उपचार करने में सफल होंगे, वरन् वे जटिल मानसिक रोगों का भी उचित उपचार कर सकेंगे।

सभी प्रकार के रोग मनुष्य के मानसिक साम्य बिगड़ने से उत्पन्न होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा इस मानसिक साम्य की प्राप्ति का एक उपाय है। इस उपायके अतिरिक्त दूसरे उपाय भी हैं। जिस विधि से मनुष्य अपने खोये मानसिक साम्य को प्राप्त कर ले वही विधि रोग की उपयुक्त उपचार विधि है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अवांछनीय संस्कार जब बढ़ जाते हैं तो वे किसी न किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग के रूप में प्रकाशित होने लगते हैं। इस तरह जब स्वयं प्रकृति ही मनुष्य के मन से गंदगी निकालने की चेष्टा करती है तो उसका मन निर्मल और आरोग्यवान बन जाता है। ऐसे मनुष्य का शरीर भी रोगरहित और सुन्दर हो जाता है। अतएव मानसिक आरोग्य की विधि को जानना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा के लिये नितांत आवश्यक है।

मानसिक आरोग्य के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना न केवल अपने व्यक्तिगत स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये आवश्यक है, वरन् अपना सामाजिक जीवन भी सुखी बनाने के लिये आवश्यक है। समाज में अनेक प्रकार के कलह इसलिये होते हैं कि समाज के लोगों में मानसिक साम्य नहीं है। पति-पत्नी के झगड़े, पिता-पुत्र के झगड़े,

भाई-भाई के झगड़े के मूल में मानसिक अशान्ति रहती है। जब मनुष्य का मन दुःखी रहता है तो वह अपने आसपास रहनेवाले व्यक्तियों से अनेक प्रकार के झगड़े उत्पन्न कर लेता है। जिस मनुष्य का मन सुखी है वह दूसरों को भी सुखी बनाने की चेष्टा करता रहता है और जिसका मन दुःखी रहता है वह दूसरों को भी दुःखी बनाने का यत्न करता रहता है। उसे किसी मनुष्य का सुखी अवस्था में देखना सुहाता नहीं।

हम साधारण पारिवारिक जीवन में देखते हैं कि कितने ही लोग अपने जीवन को इसलिये दुःखी बनाये रहते हैं कि उनसे दूसरों की बात सही नहीं जाती। बड़े बड़े विद्वान् छोटी छोटी बातों पर इतने दुःखी हो जाते हैं कि वे अपना प्राणान्त करने के लिये तैयार हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है, यह जानना अपने सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिये नितांत आवश्यक है। हाल ही में लेखक के पास एक विद्यार्थी आया। इस विद्यार्थी को अपने पिता से कुछ कहा सुनी हो गई। पिता ने उससे कह दिया, "तुम निकम्मे हो और मेरे ऊपर भार बनकर जीते हो। मैं तुम्हें पालने के लिये सब समय काम करता रहता हूँ और तुम मौज उड़ाते रहते हो।" पिता के ये वाक्य विद्यार्थी को चुभ गये। अब उसे जीना भार-स्वरूप हो गया। पिता के घर में ठहरना तो उसे बिल्कुल ही असह्य होगया। वह घर से भाग निकला। उसके मन में क्या क्या विचार आए होंगे कौन जानता है। जब वह ऋषिकेष जा रहा था, अनायास लेखक से मिल गया। इस विद्यार्थी की सभी बातों को सहानुभूतिपूर्वक सुनने से उसका स्नेह लेखक के प्रति हो गया, उसके पुराने विचार कुछ शिथिल हो गये। इस विद्यार्थी के अपने पिता के साथ पुराने सम्बन्ध के बारे में जानने से ज्ञात हुआ कि उसका अपने पिता से कई वर्षों से संघर्ष चला आया है। यह बालक प्रतिभावान् है, इसने अपनी सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में पास की हैं। यह घर का सबसे बड़ा लड़का है और माँ का बड़ा प्यारा है। इसने छोटी अवस्था में

मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। पिता केवल हिंदी के ही ज्ञाता हैं। साधारणतः यदि देखा जाय तो ऐसे पुत्र को पाकर पिता को बड़ी प्रसन्नता होनी चाहिये थी। परन्तु ऐसा न होकर उल्टा ही हुआ। पुत्र की सफलता पिता के मन में शांति उत्पन्न न कर अशांति का कारण बन गई। लड़के का कहना है कि जब तक वह घर में रहता है तब तक घर में माँ बाप के बीच झगड़ा बना रहता है और इस झगड़े का प्रधान कारण वह लड़का ही होता है। पुत्र की भूलों के कारण पिता माँ को डाँटते दपटते अथवा मारते पीटते भी हैं।

उक्त पारिवारिक स्थिति मानसिक रोग की स्थिति को चित्रित करती है। यदि पिता को मानसिक साम्य प्राप्त हो जाय तो न केवल उसी का जीवन सुखी हो, वरन् घर के सभी प्राणियों का जीवन सुखी हो जाय। यह मानसिक रोग पिता के मन में अनेक प्रकार की अवांछनीय मानसिक-ग्रन्थियों के कारण उत्पन्न होता है। फिर जैसा पिता होता है वैसा ही पुत्र भी बन जाता है। मानसिक रोग संक्रामक होते हैं और पिता से पुत्र पर परम्परागत जाते रहते हैं। यदि हम एक ही व्यक्ति को मानसिक-आरोग्य प्रदान कर सके तो हम समाज का भारी कल्याण करेंगे। इससे न केवल उस व्यक्ति के वर्तमान संबंधियों का जीवन सुखमय बन जाये, वरन् उसकी सन्तान भी मानसिक आरोग्य को प्राप्त करने में समर्थ हो।

जिस प्रकार मनुष्य के पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के लिये मानसिक आरोग्य की आवश्यकता है इसी प्रकार सम्पूर्ण समाज को सुखी बनाने के लिये समाज के नागरिकों में मानसिक आरोग्य की आवश्यकता है। स्वस्थ समाज स्वस्थ व्यक्तियों का बना होता है। जिस समाज के लोगों में किसी विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि रहती है उस समाज के लोगों में शुद्ध निरपेक्ष रूप से चिन्तन करने की शक्ति नहीं रह जाती। उनकी दृष्टि दूषित हो जाती है। वे संसार की घटनाओं का विशेष प्रकार का अर्थ लगाने लगते हैं। जो राष्ट्र बहुत दिनों तक दूसरे राष्ट्र की गुलामी करता रहता है उसमें अपने आपको ऊँचा

सिद्ध करने के लिये अनेक प्रकार की असाधारण भावनाएँ उठा करती हैं। जो लोग लौकिक सफलता में अपने आपको आगे ले जाने की संभावना नहीं देखते वे आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा अधिक करने लग जाते हैं। जिन लोगों में दूसरे लोगों को अपनी साधारण योग्यता दिखाकर प्रभावित करने की शक्ति नहीं रहती वे असाधारण तप व त्याग करके दूसरों को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस तरह उनका जीवन के प्रति विशेष प्रकार का एकांगी दृष्टिकोण बन जाता है। अपना विरोध करने वाले लोगों को वे पागल समझने लगते हैं। जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के द्वारा हराया जाता है तो हार जाने वाला राष्ट्र बदला लेने का भावना मन में रखता है। इसके कारण उस राष्ट्र के लोगों के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिस राष्ट्र के लोगों में आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि रहती है वे अपने आपको दूसरे राष्ट्र के लोगों से अधिक योग्य सिद्ध करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं। कभी कभी इस मनोवृत्ति के कारण बड़े बड़े युद्ध होते हैं पिछले जगत् व्यापी युद्ध का मूल कारण जर्मनी के लोगों में व्यापक आत्म-हीनता की भावना थी। उन्हें मानसिक साम्य प्राप्त नहीं था। वे जर्मन जाति को ही संसार क सर्वोच्च जाति मानते थे। उनका विश्वास था कि संसार में सभ्यता तभी तक टिक सकती है जब तक कि जर्मन लोग संसार के लोगों के अगुआ रहेंगे। वे किसी प्रकार दूसरों के विचार को अपने विचारों में स्थान नहीं देना चाहते थे। दूसरों पर प्रभुता जमाने की इच्छा ने उनका विनाश कर डाला। इसके कारण न केवल उनको ही घोर कष्ट सहना पड़ा वरन् संसार के दूसरे देशों को भी दुःख उठाना पड़ा। जिस तरह किसी पागल के कहीं पर रहने से आस पास के लोगों को अनायास दुःख उठाना पड़ता है, इसी प्रकार किसी व्यक्ति का मानसिक साम्य बिगड़ने पर साधारण लोगों को भी कष्ट उठाना पड़ता है।

आधुनिक कालमें हम समाज में जो व्यापक अशांति देखते हैं उसका प्रधान कारण समाज के नेताओं का मानसिक साम्य बिगड़ना

ही है। इस साम्य के बिगड़ने को कारण समाज के कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियों में धनसंग्रह करने की असाधारण पिपासा उत्पन्न हुई। उन्होंने अरब-खरब द्रव्य इकट्ठा करना आरंभ किया। उनकी देखादेखी दूसरे लोग भी आँख मूँदकर धन इकट्ठा करने में लग गये। फिर जिन लोगों में धन कमाने की योग्यता तो है परन्तु धन प्राप्त करने की सुविधाएँ नहीं हैं वे धनी लोगों के दुश्मन बन गये। धनी लोगों के बिगड़े हुए साम्य ने संसार के दूसरे प्रतिभावान् लोगों का मानसिक साम्य बिगाड़ दिया। यही कारण है कि वर्तमानकाल से धनियों का नाश करने के लिये अनेक प्रकार के वाद उठ खड़े हुए। समाजवाद, साम्यवाद आदि ऐसे मत हैं। ये स्वयं एकांगी विचार हैं, परंतु पूंजीवाद की एकांगिता के निराकरण के लिये नितांत आवश्यक दिखाई देते हैं। कभी कभी एक रोग का निराकरण दूसरे प्रतियोगी रोग से हो जाता है। कहा जाता है कि जहर का विनाश जहर करता है। समाज में तब तक पूर्ण स्वस्थ विचार नहीं आ सकता जब तक कि समाज के लोगों में मानसिक साम्य की उपस्थिति नहीं होती। इस मानसिक-साम्य को प्राप्त करने के लिये उन नियमों पर चलना आवश्यक है जो मानसिक आरोग्य के साधन हैं।

मानसिक रोगों की व्यापकता

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि मानसिक आरोग्य प्राप्त करने की विधि को जानना हमारे जीवन को सफल बनाने के लिये अत्यंत आवश्यक है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी अपने मानसिक साम्य को खो देता है। हमारा मानसिक-साम्य क्यों नष्ट हो जाता है इसे जानना हमें अपने आपको सुखी बनाने के लिये आवश्यक है। फिर दूसरे लोगों की उचित सेवा करने के लिये भी हमें मानसिक-आरोग्य के नियमों को जानना आवश्यक है। हम अपने चारों ओर मानसिक रोगियों को पाते हैं। जिस व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक दृष्टि है वह देखेगा कि उसके संबं-

धियों और मित्रों में अनेक जटिल-मानसिक रोगी व्यक्ति वर्तमान हैं। मानसिक रोग शारीरिक रोगों के समान स्पष्ट नहीं होते। शारीरिक-रोग साधारण निरीक्षण से जाना जा सकता है, परन्तु मानसिक रोग के जानने के लिये विशेष प्रकार की दृष्टि की आवश्यकता होती है। आधुनिक मनोविज्ञान के प्रवर्त्तक सिगमंड फ्रायड महाशय का कथन है कि संसार का कोई विरला ही व्यक्ति सर्वदा मानसिक रोगों से मुक्त रहता है। संसार के स्वस्थ से स्वस्थ समझे जानेवाले व्यक्ति में किसी न किसी प्रकार का मानसिक रोग उपस्थित रहता है। जो व्यक्ति जितना ही प्रतिभावान होता है, उसमें उतनी ही किसी विशेष प्रकार के मानसिक रोग की उपस्थिति की संभावना रहती है। जहाँ कहीं हमें किसी विशेष प्रकार की एकांगिता दिखाई पड़े वहाँ हमें मानसिक रोग की उपस्थिति की शंका करना युक्ति-संगत है।

मानसिक रोग पहले तो अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों से पीड़ित रहनेवाले व्यक्तियों में रहता है। बहुत से शारीरिक रोगों का कारण शारीरिक न होकर मानसिक रहता है। साधारणतः हम अनिद्रा, मृगी, हिस्टीरिया, निरर्थक बकवाद करना आदि रोगों को ही मानसिक रोग मानते हैं। परंतु कितने ही दमा शूल, हृदयरोग, आँख के रोग, वमन ऐसे शारीरिक-रोगों का भी कारण मानसिक होता है। इस प्रकार के रोगों का वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

कुछ मानसिक रोग स्वयं रोगी पहिचान लेता है; परन्तु अधिक मानसिक रोगों को स्वयं रोगी नहीं पहिचान पाता। इसके लिये मानसिक रोगों के विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है। कितने ही लोगों को अपनी किशोरावस्था या युवाकाल में स्थाई रूप से सिर की पीड़ा रहती है। वे इसकी अनेक विधियों से चिकित्सा करवाते हैं, परन्तु कुछ लाभ होते नहीं दिखाई देता। ऐसे कुछ रोगी लेखक के पास आये। उन्हें जब यह बतलाया गया कि उनका रोग शारीरिक नहीं अपितु मानसिक है तो उन्हें बड़ा आश्चर्य

हुआ। वास्तव में बहुत सी युवतियों को अविवाहित रहने के कारण अथवा उनका पारिवारिक जीवन सन्तोष-जनक न होने के कारण इस प्रकार का रोग हो जाता है। देखा गया है कि ऐसे रोगों से पीड़ित रहनेवाली युवतियाँ अपनी किसी व्यथा के बारे में कुछ काल पूर्व अत्यधिक चिन्ता करती थीं। उनका रोग इस प्रकार की चिन्ता का प्रतीक मात्र होता है। जब किसी व्यक्ति का मस्तिष्क चिन्ता से भर जाता है और उसे बाहर निकालने का कोई मार्ग नहीं रहता, अर्थात् अपने मन की बात वह किसी से नहीं कह सकता, तो वह किसी न किसी प्रकार के रोग का शिकार बन जाता है। यह रोग उसे उसकी मानसिक-व्यथा से मुक्त करने के लिये आता है। रोग के लक्षणों का भली भाँति अध्ययन करने से पता चलता है कि उसकी विशेष प्रकार की बातें मानसिक-व्यथा की प्रतीक-मात्र हैं।

मानसिक-रोग जब किसी शारीरिक चेष्टा अथवा रोग के रूप में प्रकाशित नहीं होते तब उनका पहिचानना बड़ा कठिन होता है। हम देखते हैं कि कभी-कभी किसी व्यक्ति को विशेष प्रकार की झक होती है। वह स्वयं अपनी झक को नहीं जानता। हम स्वयं किसी विशेष प्रकार की बातों को भूल जाते हैं। यदि हम अपने मन की छान-बीन करें तो हम देखेंगे कि ऐसे काम का संबंध किसी अप्रिय घटना से है। कितने ही लोगों के पत्रों का जवाब देना हमें याद नहीं रहता। कुछ लोगों का हमें नाम याद नहीं रहता। ऐसे लोगों के नाम भूलने के कारण की खोज करने पर देखते हैं तो किसी विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि उनके मन में पाते हैं। जो व्यक्ति अपने मन के विषय में जितना अधिक जानता है, वह अपने आपको ऐसे रोगों से मुक्त करने में उतना ही सफल होता है।

मानसिक रोग संसार के अशिक्षित व्यक्तियों में स्वभावतः अधिक पाये जाते हैं। अशिक्षित व्यक्तियों में किसी बात पर स्वतंत्र-चिन्तन करने की योग्यता नहीं होती और उनमें अनेक प्रकार के भय और द्वेष वर्तमान रहते हैं। इनका निराकरण स्वतंत्र-विचार से होता

है। विचार करने के अभाव में इनकी वृद्धि ही होती है। जिस प्रकार अन्धकार में अनेक प्रकार के विषाक्त कीटाणु बढ़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य में विचार करने की योग्यता के अभाव में अनेक प्रकार के मानसिक-रोगों के कीटाणुओं की वृद्धि होती है। विचार वह प्रकाश है जिसके सामने आते ही सभी प्रकार के घातक प्राणी, कीटाणु आदि भाग जाते अथवा नष्ट हो जाते हैं।

परन्तु जब हम यह कहते हैं कि मानसिक-रोगों की उत्पत्ति अज्ञान में होती है और विचारवान् लोगों में इनकी कमी रहता है तो यह कदापि न मान लिया जाय कि पढ़े-लिखे लोगों में मानसिक-रोग नहीं पाये जाते, अथवा उनकी ऐसे लोगों में कमी होती है। मानसिक-रोग पढ़े-लिखे लोगों में वैसे ही पाये जाते हैं जैसे अपढ़ लोगों में। इसका कारण यह है कि संसार में पठित-मूर्खों की संख्या अधिक है। किताब पढ़ सकने की योग्यता प्राप्त कर सकने से सभी मनुष्यों में स्वतंत्र चिन्तन करने की योग्यता नहीं आ जाती। जिन लोगों में मानसिक गुलामी का भाव दृढ़ है वे पढ़-लिखकर किताब लिखने वाले लोगों के मानसिक दृष्टि से गुलाम हो जाते हैं। जो विचार कोई प्रतिष्ठित विद्वान् अपनी पुस्तक में लिख देता है उसी को वे अन्तिम प्रमाण मान लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। स्वतंत्र चिन्तन से ही इच्छाशक्ति बलवती होती है। जिन लोगों में स्वतंत्र चिन्तन करने का अभाव पाया जाता है उनमें मानसिक-रोगों की बहुतायत होती है, चाहे ऐसे लोग पढ़े हों अथवा अपढ़। कितने ही पढ़े-लिखे लोगों की विशेष प्रकार की धारणा बन जाती है। इस धारणा को ठीक सिद्ध करने के लिये वे अपनी पढ़ी पुस्तकों से अनेक युक्तियाँ भी ढूँढ़ लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अपने गलत विचार से मुक्त करना बड़ा कठिन होता है। उन्हें जो कुछ भी नई सूझ दी जाय वे उसका तुरंत खण्डन कर डालते हैं। लेखक से पत्र-व्यवहार करने वाला एक मानसिक-रोगी बड़ा ही विद्वान् व्यक्ति है। उसकी जीवन की प्रधान समस्याओं के विषय में कुछ ऐसी धारणायें बन गई हैं जिनके

कारण वह अनेक प्रकार के मानसिक-संताप भोग रहा है, परन्तु वह इनसे मुक्त नहीं हो सकता। उसकी विद्या ही उसे अनेक रोगों से मुक्त करने में बाधा डालती है।

जब तक मनुष्य किसी प्रकार के प्रबल भावों के वश में रहता है तब तक उसमें स्वतंत्ररूप से चिन्तन करने की शक्ति नहीं आती। स्वतंत्र-चिन्तन भावों के आवेग को रोकता है। परन्तु भावों का आवेग भी स्वतंत्र-चिन्तन में बाधक होता है। सतत-चिन्तन के प्रयत्न से मनुष्य उस साम्य को प्राप्त करता है जो उसे स्वस्थ व्यक्ति बनाता है। पर बिरला ही व्यक्ति चिन्तनशील होता है। अतएव सम्पूर्ण मानसिक आरोग्य भी विरले ही व्यक्ति को प्राप्त होता है। जहाँ कहीं हम किसी विशेष प्रकार के मत, वाद अथवा विचार में किसी व्यक्ति की असाधारण लगन देखें, वहाँ हमें मानसिक विषमता अथवा रोग की उपस्थिति का संदेह करना चाहिये। जिस व्यक्ति में जितनी ही अधिक हठधर्मी होती है वह उतना ही बड़ा मानसिक रोगी है। हठधर्मी से मनुष्य अपना विनाश कर लेता है। अतएव मनुष्यों के कल्याण के लिये उन्हें उनकी हठधर्मी से मुक्त करके मानसिक आरोग्य प्रदान करना आवश्यक है।

साधारणतः जिन लोगों में विचारों की जटिलता अथवा हठधर्मी होती है उनमें किसी प्रकार के शारीरिक रोग की भावना भी बनी रहती है। वे शारीरीक रोगों के निराकरण के अनेक प्रकार के प्रयोग किया करते हैं। ऐसे लोगों के अनेक शारीरिक रोग कल्पित ही होते हैं। बहुत से लोगों के कल्पित शारीरिक रोगों की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा और होम्योपैथिक दवाइयों से भली प्रकार से होती है। कल्पित रोग केवल मन में ही नहीं रहते, वे शारीरिक रोगों का रूप भी धारण कर लेते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा का एक बड़ा लाभ यह है कि वह मनुष्य में आरोग्य के विचार उत्पन्न करती है और इन विचारों के द्वारा मनुष्य के मन का सुधार करके उनमें नव-जीवन का उनमें संचार करती है।

मानसिक आरोग्य के साधन

मानसिक रोगों का निराकरण और आरोग्य की प्राप्ति दुःसाध्य वस्तु हैं। पहले तो मानसिक रोग से पीड़ित बहुत से व्यक्तियों को यह ज्ञान भी नहीं रहता कि उन्हें कोई रोग है। जब मानसिक रोग शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है तब उसका पहचानना और भी कठिन हो जाता है। यदि मनोविकार-जनित शारीरिक रोग से पीड़ित व्यक्ति को कोई व्यक्ति कहे कि उसे किसी प्रकार का मानसिक रोग है तो वह विश्वास नहीं करेगा। अपने मनोभावों के ऊपर आवरण डालने के लिये ही प्रायः ऐसे रोग होते हैं। अतएव उनके मानसिक कारण को रोगी अपनी रुग्णावस्था में स्वीकार नहीं करता। ऐसी अवस्था में उसकी चिकित्सा करना बड़ा ही कठिन काम होता है। रोगी अपने रोग का कारण अपने से बाहर किसी बाहरी वस्तु में खोजने की चेष्टा करता है। उसे जितना ही किसी बाहरी बात को रोग का कारण बताया जाता है उतना ही उसे आत्म-संतोष होता है। कितने ही रोगी रोग द्वारा नहीं पकड़े जाते, वरन् वे स्वयं रोग को पकड़े रहते हैं। ऐसे रोगियों की चिकित्सा तभी हो सकती है जब वे अपने रोग से परेशान हो जावें और उसे छोड़ना चाहें।

प्रत्येक मानसिक रोगी अन्ततोगत्वा किसी मानसिक रोग से अपनी ही इच्छा से मुक्त होता है। यह इच्छा उसके आन्तरिक मन की इच्छा होती है। कितने ही रोगी बाहरी मन से रोग से परेशान दिखाई देते हैं, परन्तु भीतरी मन से उसे चाहते हैं। ऐसी अवस्था में उनका रोग उन्हें नहीं छोड़ता। रोग रोगी को एक विशेष प्रकार का आत्म-संतोष देता है। कभी कभी रोग रोगी के लिये अपने स्वजनों पर प्रभुता दिखाने के लिये एक साधन बन जाता है, कभी वह अप्रिय कर्त्तव्य से रोगी को बचाता है और कभी वह आत्महत्या का प्रतीक होता है। जब तक रोगी की आन्तरिक मानसिक स्थिति में परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक रोग का विनाश नहीं होता।

किसी मनुष्य की आन्तरिक मानसिक स्थिति बदलने के लिये उसे स्वयं यत्न करना पड़ता है। दूसरा व्यक्ति इस कार्य में रोगी का पथ-प्रदर्शक मात्र बन सकता है परन्तु चिकित्सा का वास्तविक कार्य स्वयं रोगी को अपने आप करना पड़ता है। चिकित्सक के सम्पर्क में आने से रोगी अपने रोग का मानसिक कारण जान लेता है। चिकित्सक रोगी में आत्मविश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। जब किसी रोगी में आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है तो वह अपने आपको जानने का यत्न करता है, अपने मानसिक विकारों को समझने की चेष्टा करता है और उनकी आत्म-स्वीकृति करके उन्हें हटाने की चेष्टा करता है, तब उसे आरोग्य लाभ होता है। यदि हम मानसिक आरोग्य प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अपने आपको समझने की चेष्टा करनी चाहिये। कितने ही मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति अपने आपको समझने की चेष्टा न कर मानसिक रोगों के डाक्टरों के पास दौड़ते फिरते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वे अपने रोग को और भी जटिल बनाते हैं। डाक्टरों की शरण में आने से मानसिक रोगी का आत्मविश्वास पहले से भी कम हो जाता है। रोग की अवस्था में जो कुछ भी चिकित्सा डाक्टर लोग करते हैं उससे रोगी को सामयिक लाभ भले ही हो उसे स्थायी लाभ नहीं होता। अतएव जहाँ तक कोई व्यक्ति अपने मानसिक रोग की समस्या स्वयं हल कर सके वहाँ तक अच्छा है। मनुष्य को चाहिये कि वह मानसिक आरोग्य प्राप्ति के उपायों को जाने और अपने आपकी चिकित्सा करने की चेष्टा करे। मनुष्य जहाँ तक अपने मन और उसके व्यापारों की अधिकाधिक जानने की चेष्टा करता है वहाँ तक वह अपने आप आरोग्यवान् बनने में सफल होता है।

जो व्यक्ति स्वयं आरोग्यवान है और जो मन की गुप्त क्रियाओं को भली प्रकार से जानता है वह दूसरे लोगों को भी आरोग्य लाभ करने में सहायता दे सकता है। अपने आप रोग से मुक्त रहना भी दूसरों की सहायता है। स्वास्थ्य और रोग दोनों ही संक्रामक होते

हैं। एक स्वस्थ व्यक्ति के संपर्क में आने से दूसरा व्यक्ति स्वस्थ होता है; इसी प्रकार एक रोगी व्यक्ति के सम्पर्क में आने से दूसरा व्यक्ति भी उसी रोग से पीड़ित होने लगता है। यदि हम अपनी मानसिक उलझनों को हटा लेते हैं तो अपने अनजाने ही हम सहज स्वभाव से मानव समाज की अमूल्य सेवा करते हैं। जिन लोगों के मन में मानसिक उलझनें वर्तमान हैं उनमें हम यह विश्वास पैदा करते हैं कि उलझनरहित मानसिक स्थिति को प्राप्त करना मनुष्य के लिये संभव है। मानसिक रोगियों में इस प्रकार का विश्वास हो जाना ही उनके लिये कल्याणप्रद है।

व्यक्ति के मानसिक रोग के निराकरण के लिये अनेक प्रकार के मानसिक चिकित्सा विधियों की खोज हुई है। पुराने समय में मानसिक रोगों को विशेष प्रकार का रोग माना ही नहीं जाता था। इसे भूत बाधा, देवी-देवता आदि का प्रकोप मान लिया जाता था। इस प्रकार के रोगों की चिकित्सा समाज के ओझा लोग करते आये हैं। इस तरह संसार के सभी देशों में हिस्टीरिया, बाध्य विचार, अकारण भय आदि मानसिक रोगों की चिकित्सा सदा ओझा लोगों के द्वारा होती आई है। ये रोग जिस प्रकार रहस्यमय कारणों से आते हैं उसी प्रकार के रहस्यमय विधियों से नष्ट भी हो जाते हैं। आज भी अनेक प्रकार के मानसिक रोग ओझाओं की चिकित्सा के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। स्वयं ओझा लोग न तो रोगों के कारणों को जानते, और न रोगी के आरोग्य प्राप्त करने की वास्तविक प्रक्रिया को। परन्तु यह कहना निर्विवाद है कि कई प्रकार के मानसिक-रोग ओझाओं के द्वारा नष्ट किये जाते हैं।

आधुनिक-काल में मानसिक चिकित्सा को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की चेष्टा की गई है। वैज्ञानिक ढंग से किसी मानसिक रोगी का निराकरण करने के लिये मनोविज्ञान के गंभीर ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब तक कोई मानसिक चिकित्सक मन की रहस्यमयी क्रियाओं को नहीं समझता तब तक किसी व्यक्ति की मान

मानसिक-चिकित्सा नहीं कर सकता। मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में जो मानसिक चिकित्सा होती है उससे रोगी को सामयिक लाभ हो जाता है परन्तु उसमें स्वावलंबन का भाव न आने के कारण उसके फिर से रोग द्वारा ग्रसित होने की संभावना रहती है। वर्तमान-काल में हमारे देश में बहुत से लोग कई प्रकार के मानसिक रोगों की चिकित्सा निर्देश-विधि के द्वारा करते हैं। इस विधि में रोगी के मन में विश्वास उत्पन्न किया जाता है कि चिकित्सक में कोई विशेष प्रकार की शक्ति है। कई एक हिस्टीरिया से पीड़ित स्त्रियाँ ऐसे चिकित्सकों के पास जाती हैं। ये स्त्रियाँ अपने आपको किसी भूत-प्रेत के द्वारा पकड़ा हुई बताती हैं। इन रोगियों के रोग के वास्तविक कारण को खोजने की यहाँ चेष्टा नहीं की जाती, वरन् निर्देश-विधि से उनके भूत-प्रेत भगाने की चेष्टा की जाती है। कहीं कहीं मानसिक चिकित्सा को धार्मिक रूप दिया जाता है। रोगी सामूहिक प्रार्थना के स्थल में बैठाया जाता है और उसे प्रार्थना करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। इससे बहुत से मानसिक रोगियों के रोग अपने आप चले जाते हैं। जिन लोगों को प्रार्थना की उपयोगिता में विश्वास है, उन्हें विशेष लाभ होता है परन्तु जिन व्यक्तियों की बुद्धि तर्कयुक्त है उन्हें ऐसे उपचार से विशेष लाभ नहीं होता। चिकित्सक को निर्देश-विधि में रोगी को अपने व्यक्तित्व की विशेषता से प्रभावित करना नितांत आवश्यक है। जो रोगी ऐसे मानसिक-चिकित्सक के व्यक्तित्व की विशेषता को स्वीकार नहीं करता उसे ऐसी चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता।

निर्देश चिकित्सा-विधि का सफल प्रयोग फ्रांस के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक इमील कूये महाशय ने किया है। इन्होंने अपनी चिकित्सा-विधि को आत्म-निर्देश की विधि कहा है। इमील कूये महाशय की चिकित्सा-विधि से अनेक रोगियों को लाभ होता था। वे अपनी विधि से न केवल मानसिक रोग अच्छे करते थे वरन् शारीरिक-रोगों को भी अच्छा करते थे। जब किसी रोगी में मानसिक-चिकित्सक यह विश्वास उत्पन्न कर देता है कि वह स्वस्थ हो

तो उसके शरीर में भी तदनुसार परिवर्तन होने लगते हैं। आरोग्य का विश्वास उत्पन्न होने के लिये मानसिक-चिकित्सक के प्रति रोगी के मन में श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा के अभाव में निर्देश-विधि से विशेष लाभ नहीं होता। हमारे देश के एक प्रसिद्ध मानसिक-चिकित्सक निर्देश-विधि से अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की भी चिकित्सा करते हैं। जब मानसिक रोगी उनके पास आ जाते हैं तो वे उनके गले को छूते हैं। इससे रोगी क्षणिक सम्मोहन की अवस्था में आ जाता है। फिर वे रोगी को एक खट्टी सी दवा दे देते हैं। सभी रोगियों को प्रायः एक सी ही दवाई दी जाती है। जब यह दवाई रोगी को दी जाती है तो वे उस दवाई को छूकर उसमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रवेश कर देते हैं। वे जब अँगुली से दवाई छूते हैं तब रोगी को विश्वास हो जाता है कि उन्होंने उसमें विशेष प्रकार की शक्ति डाल दी है। कभी कभी रोगी को तीन चार दिन के लिये इकट्ठी दवाई दी जाती है। परन्तु ऐसी अवस्था में प्रतिदिन शीशी को छूने के लिये चिकित्सक महाशय के पास लानी पड़ती है। एक दिन की 'करेन्ट' एक ही दिन काम करती है। इस प्रकार अनेक मानसिक रोगी उनकी चिकित्सा से लाभ उठाते हैं।

उक्त चिकित्सा से उन लोगों को लाभ नहीं होता जिनकी तर्क बुद्धि बहुत प्रवीण है। लेखक के एक मित्र को एक बार कमर में पीड़ा हो गई थी। वे भी अन्य लोगों के समान एक महीने तक प्रति दिन अपनी चिकित्सा कराने के लिये उक्त चिकित्सक महाशय के पास गये। इन्होंने उक्त चिकित्सा-विधि में इतनी रुचि दिखाई कि वे अपने रोग की चिकित्सा कराने का लक्ष्य भूलकर चिकित्सा-विधि के रहस्य को ही समझने में लग गये। इसके परिणाम-स्वरूप उनका रोग जहाँ का तहाँ रहा। परन्तु वे इस बात को समझ गये कि इस विधि से उन्हीं लोगों को लाभ होता है जिनमें मानसिक चिकित्सक के प्रति श्रद्धा का भाव है और जो उसके उपचार के समय प्रभाव में आ जाते हैं।

आधुनिक काल के श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निर्देश-चिकित्सा-विधि को अवैज्ञानिक चिकित्सा-विधि कहते हैं। फ्रायड महाशय का कथन है कि इस चिकित्सा-विधि से रोगी को सामयिक-लाभ हो जाता है परन्तु उसे आत्मज्ञान नहीं होता। वह अपने रोग के कारण को नहीं जान पाता। स्वयं चिकित्सक भी रोग के कारण को जानने की चेष्टा नहीं करता। निर्देश-चिकित्सा-विधि में रोगी को रोग का कारण जानने के लिये प्रोत्साहित ही नहीं किया जाता। चिकित्सक रोगी से उसके रोग के विषय में अधिक पूछताछ नहीं करता और यदि स्वयं रोगी ही अपने रोग के कारण के विषय में अधिक चर्चा करे तो वह उसे रोक देता है। निर्देश-चिकित्सा-विधि में मनुष्य की तर्क बुद्धि को शान्त किया जाता है, इससे मनुष्य की इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है।

किसी प्रकार का मानसिक रोग प्राकृतिक दंड के रूप में मनुष्य के समक्ष आता है। दंड का नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्य मनुष्य की इच्छा शक्ति को बली बनाना और उसमें आत्मज्ञान बढ़ाना है। दंड मिलने पर मनुष्य अपने दोषों को पहचानने की चेष्टा करता है। यदि किसी मनुष्य को दंड मिले परन्तु उसको यह न बताया जाय कि उसे किस लिये दंड मिल रहा है तो इससे उसका कोई भी आध्यात्मिक-लाभ न होगा। वह अपने गलत मार्ग को न छोड़ेगा। और इसके कारण उसे बार बार दंड भोगना पड़ेगा। अतएव यदि किसी चिकित्सा-विधि में रोगी को अपने मानसिक रोग के कारण का ज्ञान नहीं होता तो उनकी चिकित्सा से उसे सामयिक लाभ भले ही हो जाय, परन्तु स्थायी लाभ न होगा। एक रोग उसे छोड़ देगा तो कोई दूसरा रोग पकड़ लेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थायी मानसिक आरोग्य की प्राप्ति के लिये रोगी के मानसिक रोग के कारण का अध्ययन करना, उन कारणों की रोगी से आत्म-स्वीकृति कराना, उनके लिये प्रायश्चित कराना और उसमें नये दृष्टिकोण को लाना नितान्त आवश्यक है। यह कार्य वैज्ञानिक-

चिकित्सा-विधि करती है जिसकी कि रूपरेखा हम इस पुस्तक के अगले पृष्ठों में दर्शाने की चेष्टा करेंगे ।

वैज्ञानिक-चिकित्सा-विधि में रोगी से दिन-प्रतिदिन बातचीत करने की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति का आत्म-विश्वास खो गया है उसमें आत्म-विश्वास फिर-से लाने के लिये कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है। अतएव कोई भी चिकित्सक सामूहिक रूप में वैज्ञानिक ढंग से मानसिक चिकित्सा नहीं कर सकता, उसे एक ही रोगी को इतना समय देना पड़ता है कि वह कई रोगियों की जिम्मेदारी एक साथ नहीं ले सकता। प्रत्येक मानसिक रोगी की समस्या विशेष प्रकार की होती है। इन समस्याओं के अध्ययन करने के लिये समय की आवश्यकता होती है। फिर यदि रोगी की सम्पूर्ण चिकित्सा की जाती है तो उससे न केवल उसके रोग के विषय में पूछताछ की जाती है, वरन् उसके मन में स्वस्थ विचारों को लाने की भी चेष्टा की जाती है।

बहुत से लोग मानसिक-चिकित्सा का कार्य डाक्टरी चिकित्सा के व्यवसाय (रोजी) के रूप में अपनाते हैं। ऐसे लोग रोगियों को उतनी ही दूर तक लाभ करते हैं जहाँ तक कि कोई विशेष रोग का संबंध है। जिस प्रकार 'निर्देश-चिकित्सा-विधि का लाभ स्थायी नहीं होता, उसी प्रकार डाक्टरी ढंग से मानसिक रोगों की चिकित्सा करने का लाभ भी स्थायी नहीं होता। इससे मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवती नहीं होती । रोगी की इच्छाशक्ति तभी बलवती होती है जब रोगी किसी नये विचार को प्राप्त करता है। हाल ही में डाक्टर फ्रायड द्वारा आविष्कृत मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा विधि के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है। इस चिकित्सा-विधि को निर्देश-चिकित्सा-विधि से श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु उसे भी इतना उपयोगी नहीं माना जाता जितना कि कुछ वर्ष पूर्व लोग उसे मानते थे।

वर्तमान काल में बहुत से मानसिक रोगों की चिकित्सा रोगी से केवल विचार विनिमय करके की जाती है। अमेरिका में इस प्रकार की चिकित्सा का वर्तमान समय में प्रचार हो रहा है। अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैगडूगल महाशय का कथन है कि मनुष्य के मन के विभिन्न भागों में विषमता उत्पन्न हो जाती है, तभी रोग की उपस्थिति होती है। विषमता की स्थिति का अन्त करने के लिये अपनी आन्तरिक भावनाओं को जानना और उन पर विचार करना आवश्यक है। इस तरह सच्चे आरोग्य के लाभ के लिये प्रत्येक मनुष्य को स्वयं प्रयत्न करना होता है। मानसिक-चिकित्सक रोगी को केवल अपने आपको समझने में सहायता-मात्र देता है।

मानसिक रोग विचार में तारतम्यता बिगड़ जाने से उत्पन्न होता है। विचारों में फिर-से व्यवस्था उत्पन्न करने के लिये विचार की ही आवश्यकता होती है। कितने ही लोग अपनी वास्तविक इच्छाओं को जानना नहीं चाहते। वे अपने आपको भुलाने की चेष्टा करते हैं। उनके मन में अनेक प्रकार के ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध और प्रबल कामेच्छायें रहती हैं, परन्तु वे इन्हें स्वीकार नहीं करना चाहते। उन्हें रोग इसी कारण हो जाता है। मानसिक चिकित्सक अपने उचित परामर्श से उन्हें आत्म-स्वीकृति में सहायता देता है। इससे वे अपने आपको जानकर अपने आपमें वास्तविक सुधार करने की चेष्टा करते हैं तब उनका रोग नष्ट हो जाता है।

मानसिक-आरोग्य का सर्वोच्च साधन नित्यप्रति आध्यात्मिक चिन्तन है। जो व्यक्ति अपने आपके विषय में नित्यप्रति विचार करता रहता है, जो मन के स्वरूप और उसकी क्रियाओं को जानने की चेष्टा करता है, उसे मानसिक रोग की उत्पत्ति नहीं होती। अपने मन को सदा परोपकार में लगाए रखने से, सब लोगों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने से मानसिक रोग नष्ट होते हैं। इन सभी बातों का विस्तार पूर्वक विवेचन इस पुस्तक के अगले प्रकरण में किया जायगा।

मनुष्य का स्वास्थ्य, उसका सुख और सफलता उसकी मानसिक शक्ति की प्रगति पर निर्भर करते हैं। प्रति दिन के भोजन से जो शक्ति बनती हैं वह किसी प्रकार प्रकाशित होने को उद्यत रहती है। मानसिक शक्ति के प्रकाशन के दो रूप हैं एक भाव तथा क्रिया और दूसरा ज्ञान। पशुओं में मानसिक शक्ति प्रधानतः क्रिया और भाव में ही प्रकाशित होती है; मनुष्य में मानसिक शक्ति का प्रकाशन ज्ञान में भी होता है। मानसिक शक्ति का नैसर्गिक प्रकाशन क्रिया और भाव में ही होता है। उसका ज्ञान में परिणत होना मनुष्य की विशेषता है।

मानसिक शक्ति के प्रकाशन में रुकावटें

मनुष्य में जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है और विवेक का उदय होता है मानसिक शक्ति के नैसर्गिक प्रकाशन में बाधा उत्पन्न होने लगती है। ज्ञान की वृद्धि से मनुष्य आगा-पीछा सोचकर अपनी शक्ति को प्रकाशित करता है। ज्ञान की वृद्धि से ही मनुष्य में नैतिक भावनाओं का जागरण होता है। जब मनुष्य का विवेक बढ़ता है तो आगे-पीछे का विचार और नैतिक भावनायें मानसिक शक्ति के नैसर्गिक प्रकाशन में रुकावटें डालने लगती हैं। जब से मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति होती है तभी से ये रुकावटें आने लगती हैं। कभी कभी ये रुकावटें एकाएक आ जाती हैं। ऐसी अवस्था में एक उद्वेगजनित मानसिक घटना होजाती है। यह घटना मानसिक शक्तिके प्रकाशन को एकाएक रोक देती है। इससे कुछ मानसिक शक्ति पुरोगामी अवस्था में चली जाती है और कुछ प्रतिगामी बन जाती है। जो शक्ति पुरोगामी होती है वह मनुष्य के व्यक्तित्व को बढ़ाती है और उसके द्वारा असाधारण कार्य होने का कारण बन जाती है; पर जो शक्ति अवरुद्ध होकर प्रतिगामी हो जाती है वह शारीरिक और मानसिक रोग में प्रकाशित होती है। मानसिक रोग मानसिक शक्ति के प्रतिगमन का परिणाम है।

मनुष्य के साधारण जीवन में भी मानसिक शक्ति के प्रवाह की रुकावट होती है। बालक को जो आत्म-संयम की शिक्षा दी जाती है, उसे जो नैतिक बातें सिखाई जाती हैं उसका यही उद्देश्य होता है कि मानसिक शक्ति साधारण नैसर्गिक मार्ग से प्रकाशित न होकर शिष्ट मार्ग से प्रकाशित हो और उसका उपयोग बालक के व्यक्तित्व के विकास में हो। विकासमय जीवन में बालक धीरे धीरे अपने आप पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है; वह अपनी मानसिक शक्ति का सदुपयोग करना सीख जाता है।

मानसिक शक्ति के प्रकाशन का सामान्य नैसर्गिक मार्ग काम-क्रिया और प्रेम सम्बन्ध है। फ्रायड महाशय के इस कथन में मौलिकसत्य है कि मनुष्य की सभी प्रकारकी क्रीडा कलाओं और रोगों का प्रधान कारण कामवासना है। कामवासना एक ओर सृजन शक्ति का कारण बनती है और इसलिये रति क्रियाओं में प्रकाशित होती है और दूसरी ओर यह मनुष्य की सभी रागात्मक वृत्तियों को अनुप्राणित करती है। कामवासना ही मनुष्य के विभिन्न प्रकार के प्रेम संम्बन्ध का आधार है। स्वप्रेम, मातृ प्रेम, सखा प्रेम, पत्नी प्रेम, शिशु प्रेम और लोक प्रेम काम वासना से सम्बन्धित रागात्मक वृत्तियो के प्रकाशन के भिन्न भिन्न रूप हैं। ये सभी प्रकार के सम्बन्ध कामवासना के प्रकाशन के निम्न अथवा उच्च कोटि के मार्ग हैं। जब मनुष्य का जीवन विकासमय होता है तो उसकी कामवासना एक एक सीढ़ी को पार करती जाती है, वह अपने प्रकाशन का मार्ग अथवा साधन बदलती जाती है। बालक में जैसे जैसे विवेक और नैतिक बुद्धि की वृद्धि होती है वह निम्न कोटि के प्रेम को छोड़ देता है। परन्तु प्रेम के मार्गान्तरीकरण के लिये यह आवश्यक है कि बालक प्रेम की पहली अवस्था में भली प्रकार से रह ले। समय के पूर्व किसी अवस्था में आ जाना अथवा समय के पूर्व उससे अलग हो जाना दोनों ही हानिकारक होते हैं। बालक जिस अवस्था

को समय के पूर्व बरवस छोड़ता है उसके प्रति बालक के आन्तरिक मन में लगन बनी रहती है अतएव जब वह ऊपरी मन से आगे बढ़ता है तो भीतरी मन से वह पीछे की ओर ही जाने लगता है। बालक के जीवन के समुचित विकास के लिये धीरे धीरे ही उसे सब अवस्थायें पार करनी चाहिये। किसी अवस्था में समय के पूर्व आने अथवा उसमें अधिक देर ठहरने से वैसी ही हानि होती है जैसी उस अवस्था को बरवस छोड़ने से होती है ।

एकाएक रुकावट के परिणाम

मानसिक रोगों की उत्पत्ति मानसिक शक्ति की प्रगति में एकाएक रुकावट से होती है। जिस अवस्था में व्यक्ति रहता है उस अवस्था की समान्य क्रिआओं में तथा भावात्मक वृत्तियों के प्रकाशन में जब एकाएक रुकावट आ जाती है तो मानसिक रोग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । मानसिक शक्ति जब किसी कारण से अत्यधिक उत्तेजित हो जाती है और फिर बाहरी प्रतिबंधों के कारण अथवा नैतिकशिक्षा के कारण उसकी रुकावट होती है तो मानसिक शक्ति का दमन होता है और ऐसी अवस्था में यह शक्ति पुरोगामी न बन कर प्रतिगामी बन जाती है ।

कितने ही बालकों को समय के पूर्व माता का स्तन पान कराना छुड़ा दिया जाता है। जिन बालकों को समय के पूर्व माँ का दूध पीना छोड़ना पड़ता है उनमें शैशवावस्था की ओर जाने की आन्तरिक प्रवृत्ति होती है। वे बुद्धि में आगे बढ़ते हुए भी कल्पना में पीछे की ओर ही सोचते हैं। हाल ही में लेखक से एक सुशिक्षित नवयुवक ने अपनी एक कल्पना को कहा जो बार बार आती है। वह कभी कभी मन में सोचता है कि वर्तमान काल के लोगों को दो हजार वर्ष का कोई पुराना मनुष्य किस प्रकार देखेगा और वह वर्तमान सभ्यता के बारे में क्या सोचेगा। वह ऐसे व्यक्ति से अपना

इतना आत्मसात कर लेता है कि वह सोचने लगता है कि वह स्वयं ही दो हजार वर्ष पहले का व्यक्ति है और उसे फिर अपने वर्तमान वातावरण में उसी प्रकार की उद्विग्नता की अनुभूति होने लगती है जो दो हजार वर्ष पुराने मनुष्य को होगी। इस व्यक्ति के मनोविश्लेषण से पता लगा कि इसकी मानसिक शक्ति की गति अवरुद्ध हो गई है और वह प्रतिगामी बन गई है। इसे समय के पूर्व माता का स्तन पान करना छोड़ना पड़ा था"।

माता का समुचित प्रेम न पाने वाले बालकों का भावात्मक जीवन ठीक से विकसित नहीं हो पाता। ऐसे बालकों को अनेक प्रकार के व्यर्थ के संशय उत्पन्न होते हैं। युवावस्था में उनके मन में लगातार असाध्य प्रश्न आते रहते हैं। इन प्रश्नों के मारे उन्हें चैन नहीं मिलती। ये प्रश्न वास्तव में मनुष्य के अचेतन मन की प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। जब कोई व्यक्ति आगे नहीं बढ़ना चाहता तो वह अपने वर्तमान काम के विषय में अथवा दूसरी बातों के विषय में निरर्थक प्रश्न मन में लाता है। इस प्रकार के प्रश्न इस बात के प्रतीक हैं कि व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से तो आगे बढ़ गया है, पर वह भावात्मक दृष्टि से अभी बचपन की अवस्था में ही पड़ा है। जिन लोगों के मन में अपने कर्तव्य के विषय में अनंत सदेह होते रहते हैं, जिनका मन हाथ के काम में नहीं लगता वे मानसिक रुकावट की अवस्था को चरितार्थ करते हैं। यह मानसिक शक्ति की प्रगति में रुकावट का सूचक है।

बहुत से किशोर बालकों में हस्तमैथुन अथवा समलिंगी प्रेम की आदत रहती है। यह मानसिक शक्ति के प्रकाशन का एक मार्ग है जो किशोरावस्था के अनुकूल होता है। हस्त मैथुन और समलिंगी प्रेम किशोर बालकों में एक समय आता है। इस अवस्था को पार करके ही बालक आगे की अवस्था में बढ़ता है। हस्त मैथुन बालक के शरीर प्रेम का प्रतोक है और समलिंगी व्यभिचार सखा प्रेम का। यदि बालक की काम वासना का समुचित नियंत्रण किया जाय तो

यह नैतिक दृष्टि से निंदनीय क्रियाओं का रूप नहीं लेता। परन्तु यदि बालक की काम वासना को अधिक उत्तेजित किया जाय तो यह अपने प्रकाशन का उक्त रूप लेता है। अब यदि काम वासना के उत्तेजित हो जाने पर बाहरी परिस्थिति, शारीरिक क्षति अथवा नैतिक भर्त्सना के कारण इन क्रियाओं की एकाएक रुकावट हो जाय तो मानसिक व्यथा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मानसिक शक्ति की रुकावट और मानसिक संघर्ष

बालक की किशोरावस्था में कामवासना और तत्सम्बन्धी प्रेमका जितना आवेग होता है उतना और कभी नहीं होता। इस समय नैतिक भावनायें भी प्रबल होने लगती हैं। अतएव दोनों प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियोंमें संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिस व्यक्ति में काम वासना बार बार उत्तेजित होने के कारण प्रबल हो जाती है और जिसे नैतिक शिक्षा भी उच्च कोटि की दी जाती है उसमें मानसिक संघर्ष की स्थिति भी भीषण होती है। ऐसा बालक कामवासना सम्बन्धी कृत्य करता है और उसके लिये पश्चाताप भी करता है। इस प्रकार के बार बार काम वासना के वशीभूत होने और फिर उसके लिये पश्चाताप करने से मानसिक कमजोरी हो जाती है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी कोई अधिक आत्मग्लानिजनक घटना हो जाती है। इस घटना के पश्चात् व्यक्ति काम क्रीड़ाओं से विरत हो जाता है और वह अपनी नैतिक कमी की पूर्ति के लिये विशेष प्रकार की पवित्रता की साधना करने लगता है। वह एक ओर अपने आपको नैतिक दृष्टि से ऊँचा बनाने की चेष्टा करता है और दूसरी ओर वह अपने पुराने कृत्यों की स्मृति को भुलाता है। यह मन की अतिपूर्ति की क्रिया कहलाती है यही मानसिक शक्ति के दमन की प्रथम प्रतिक्रिया होती है।

मानसिक गंदगी का आरोपण

कभी कभी काम वासना के दमन की अवस्था में मनुष्य अपने आप को सुधारने की चेष्टा न कर दूसरों को सुधारने की चेष्टा करने लगता है। वह फिर अपने आस पास के लोगों में अनेक प्रकार के चरित्र के दोष देखने लगता है, उनकी आलोचना करता और उनके सुधार का बीड़ा उठा लेता है। यह दबी मानसिक शक्ति के आरोपण की क्रिया कहलाती है। जिस नैतिक गंदगी की अनुभूति व्यक्ति एक बार अपने आप में कर चुका है वह जब विस्मृत हो जाती है तो उसे मनुष्य अपने से बाहर दूसरे लोगों में देखने लगता है। बड़ी खोज के बाद ही यह पता चलता है कि स्वयं आलोचक महाशय के अचेतन वे बातें मन में वर्तमान हैं जिनकी आलोचना वे दूसरे के चरित्र में करते हैं।

कभी कभी नैतिक गंदगी का भाव बाहर नैतिक गंदगी की भावना में प्रकाशित होता है। ऐसी अवस्था में रोगी अपने चारों ओर गंदगी ही गंदगी देखता है। इस गंदगी से मुक्त हो जाने की उसे कोई आशा नहीं रहती। वह गंदगी के भय से ंगल में भागना चाहता है। यही गंदगी का भाव कभी कभी सफाई के भाव में प्रकाशित हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को सभी चीजों को साफ रखने की भावना हो जाती है। वह अपने घर को बार बार धुलाता है। नौकरों द्वारा धुली थालियो को फिर से धोता मांजता है। धोबी के धुले कपड़ों को फिर से धोकर पहनता है, शौच जाने के बाद नादभर पानी से हाथ साफ करता है। अपने शरीर को साफ करने के लिये बीसों बाल्टी पानी अपने ऊपर डालता है। यदि कोई व्यक्ति उसे छू ले तो वह समझता है कि वह गंदा हो गया। कभी कभी उसे कीटाणुओं का भय उत्पन्न हो जाता है। वह जहाँ देखोतहाँ कीटाणु देखता है और इनसे बचने के लिये अनेक उपाय करता है, बाजार की कोई वस्तु इसलिये नहीं लाता कि संभवतः उसमें

गंदगी होगी अथवा कोई कीटाणु लग गये होंगे। साफ विस्तर को वह बार बार साफ करता है, स्वच्छ कपड़े, जूते पहनता और किसी भी व्यक्ति की किसी प्रकार की गंदगी को सह नहीं सकता। स्वच्छता का प्रचार करना ही वह अपना धर्म बना लेता है, सफाई ही दैविकता है—इस कहावत को वह अपने जीवन का सिद्धान्त बना लेता है।

इसी प्रकार के एक व्यक्ति को पाखाने के साफ रखने की धुन सवार हो गई है। वह कहता है कि पाखाने ऐसे साफ होना चाहिए कि वहाँ बैठकर कोई भोजन तक कर सके। सभी इस प्रकार के व्यक्तियों को पाखाने की सफ़ाई का बड़ा ध्यान रहता है। इस प्रकार की सफ़ाई का ध्यान इसलिये भी आवश्यक होता है कि ऐसे व्यक्तियों का मल जल्दी साफ न होता हो। यह इस बात का प्रतीक है कि उसका बाहरी मन मल से इतना द्वेष रखते हुए भी भीतरी मन उसे छोड़ना नहीं चाहता। कोष्ठबद्धता का रोग इस प्रकार के लोगों को हो जाता है।

मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य जिस वस्तु की सफाई चाहिए उसकी सफ़ाई न कर वह उनके प्रतीकों की सफाई करता है। उसके मन की सफाई आवश्यक है। वह इसे न कर बाहरी पदार्थों की सफाई करता है। यह मानसिक शक्ति के प्रतिगमन की अवस्था को प्रदर्शित करता है।

मानसिक शक्ति का प्रतिगमन

युवावस्था के पूर्व व्यक्ति अनेक विषयलिप्त व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ता है। यह सम्बन्ध नैतिकता के प्रतिकूल होता है, अतएव इसके लिये या तो समाज से उसे भर्त्सना मिलती है अथवा उसे अपनी नैतिक बुद्धि से ही भर्त्सना मिलती है। इस प्रकार की भर्त्सना बड़ी दुःखद होती है। उसकी स्मृति आत्मग्लानि को उत्पन्न करती है। अतएव भर्त्सना के अवसरों को मनुष्य भुलाने की चेष्टा करता है।

परन्तु इस प्रकारके भुलाने के प्रयत्नके परिणाम स्वरूप उसमें एक ओर साधुपन आ जाता है और दूसरी ओर उसे मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है। मानसिक शक्ति का सहज प्रभाव पत्नी प्रेम और फिर संतान प्रेम की ओर होता है। परन्तु जब किसी आत्मग्लानि जनक घटना के कारण इस प्रकार का प्रवाह रुक जाता है तो मनुष्य कामवासना संबंधी सभी बातों से उदासीन हो जाता है। वह वैराग्य भाव में आकर कभी कभी घर छोड़कर ही चला जाता है।

परन्तु इस प्रकार संसार से विरत होने से वह वास्तव में सांसारिक झंझटों से मुक्त नहीं हो पाता। यदि मनुष्य उद्योगशील हुआ तो वह अपनी मानसिक शक्ति को विद्याध्ययन में लगाता है और इस प्रकार अपने विचार को बढ़ाता है। परन्तु उसका भावात्मक स्वत्व अविकिसित अवस्था में ही रह जाता है। अब उसके भाव आगे की ओर न बढ़ पीछे की ओर जाने लगते हैं। वह प्रौढ़ होकर भी किशोर बालक जैसा बोलने अथवा व्यवहार करने लगता है। कभी कभी अवरुद्ध मानसिक शक्ति किसी विशेष प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग में प्रकाशित होने लगती है। किसी विशेष प्रकार की लत भी इसी प्रकार काम शक्ति के दमन से उत्पन्न हो जाती है। ये लतें दबी वासना की प्रतीक होती हैं। इन झकों, इल्लतों और विशेष प्रकार की शारीरिक सांकेतिक चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य का अचेतन मन अपनी भीतरी इच्छा को संसार के समक्ष प्रकाशित करते रहता है। जिसे अचेतन मन की भाषा समझने की योग्यता है वह जान लेता है कि किस व्यक्ति को किस वस्तु की चाह है। किसी विशेष प्रकार की शारीरिक चेष्टायें, जैसे आँखें मटकाना, मुँह बनाना, नाक फुफकारना, जाँघें हिलाना, हाथ मलना आदि दबी इच्छाओं की प्रतीक होती हैं। इनका ठीक तरह से निरीक्षण करने से पता चलता कि किस प्रकार की वासना व्यक्ति के मन में वर्तमान है और उसके दमन करनेवाला तत्त्व क्या है।

मान लीजिए, किसी महिला का किसी ऐसे व्यक्ति से प्रेम हो गया है जिसमें कोई रूप की, अथवा आचरण की अथवा रोजगार की विशेषता है। अब मानसिक शक्ति के अवरोध की अवस्था में वह सांकेतिक चेष्टाओं के द्वारा उन बातों का अभिनय करेगी जो उसके प्रेमी की विशेषतायें हैं। उसका चेतन मन उसके पुराने प्रेम के अनुभव को भूल चुका है, पर उसके अचेतन मन को वह अनुभव पूरी तरह से स्मरण है और वह बारबार उसी का स्मरण करता है। अपने प्रेमी की विशेष बातों का अभिनय करना अचेतन मन का ही कार्य होता है, अतएव चेतन मन उनका अर्थ नहीं जानता। यह अभिनय साधारणतः चेतन मन के ज्ञान से परे होता रहता है, अर्थात् व्यक्ति को यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि वह किसी विशेष क्रिया का अभिनय करता है। कभी कभी इस प्रकार का अभिनय व्यक्ति अपनी प्रमाद की अवस्था में करता है जब कि उसकी साधारण चेतना को अपनी क्रियाओं का कोई ज्ञान ही नहीं रहता। इस प्रसंग में हार्ट महाशय के अपनी "साइकोलाजी आफ इनसेनिटी" नामक पुस्तक में दिये हुए निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक महिला को प्रत्येक सिक्के के नम्बरों को भली प्रकार से देखने की झक सवार हो गई थी। जब कोई व्यक्ति उसे कोई सिक्का देता अथवा चेकनोट देता तो वह उसके नम्बरों को भली प्रकार से अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी पढ़ती थी। इस झक का कारण खोजने से पता चला कि उक्त महिला ने एक युवक के प्रति प्रेम की प्रबल अनुभूति उस समय की थी जब उसने उससे एक होटल में एक सिक्के को चिल्लड़ मांगी थी। इस युवक ने जो स्वयं देखने और बोलचाल में बड़ा आकर्षक था मुसकराते हुए उक्त महिला से कहा था कि वह उस सिक्कों को वह अपने पास से कभी नहीं जाने देगा और इस प्रयोजन को व्यक्त करते हुए उसने उस सिक्के के नम्बर भली प्रकार से देखे थे। महिला को आशा हुई कि संभवतः वह युवक उसके साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना चाहता

है और उसने उसके प्रति प्रेम का अनुभव किया। परन्तु वह युवक पीछे उक्त महिला को भूल गया और युवती को निराश होना पड़ा। अब उसकी पुरानी स्मृति दुःखद बन गई। अतएव वह अपनी स्मृति को चेतना से अलग करने में तो समर्थ हुई, परन्तु उसका अचेतन मन उसे न भूला। वह पुरानी घटना का बार बार अभिनय करता रहता था। महिला अन्यथा सामान्य व्यक्तियों जैसी ही आचरण करती थी और उसे अपनी झक पर ही विस्मय होता था।

एक दूसरी महिला पागल खाने की निवासी थी। यह एक कोठरी के कोने में बैठकर चुपचाप दिन भर जूता सीने की क्रिया का अभिनय किया करती थी। वह दुःखकारी प्रमाद से ग्रस्त थी। तथा किसी से न बोलती और न किसी को किसी प्रकार सताती थी। उसे जीवन निरर्थक दिखाई देता था। उसके रोग का करण खोजने से पता चला कि अपनी युवा अवस्था में उसका प्रेम एक मोची से हो गया था। यह प्रेम सम्बन्ध विवाह में परिणत न हुआ। उसकी इच्छा मन की मन ही में रही। प्रबल इच्छा के अवरुद्ध हो जाने के कारण उसकी चेतना निर्बल हो गई। अब वह दबी प्रबल इच्छा के आवेग को सम्हाल न सकी; अतएव वह स्त्री उन्माद ग्रस्त हो गई और उन्माद (विषाद) की अवस्था में वह अपने पुराने अनुभव का अभिनय करने लगी।

कितनी ही युवतियों को उन्माद का रोग उस समय हो जाता है जब उनकी साधारण चेतना के ऊपर अधिक बोझ पड़ जाता है, अर्थात् जब उन्हें बाहरी वातावरण के कारण भारी दुःख हो जाता है जब किसी व्यक्ति की मानसिक शक्ति अथवा प्रेम भावना का प्रवाह आगे की ओर बढ़ने से रुक जाता है तो वह पीछे की ओर जाने लगता है। यही रोग की अवस्था है। ऐसी अवस्था में पुराने प्रेम सम्बन्ध का रोगी अभिनय करने लगता है। कुछ दिन पूर्व लेखक को एक महिला के उन्माद के रोग का उपचार करने का अवसर मिला। यह महिला कभी कभी अपने आप को पूरे तरह से भूल

जाती थी। पर कभी कभी वह साधारण लोगों जैसे ही बातचीत करती थी। बातचीत करते समय वह विशेष प्रकार की सांकेतिक चेष्टायें किया करती थी। वह बार बार अपने हाथ को अपने सिर के आस पास फेरती और कपार में टीका लगाने का अभिनय करती, यह कभी कभी पंडे का नाम लेती। एक बार एक व्यक्ति को उसने पण्डा कहकर बुलाया और उसे भोजन करने के लिये आग्रह किया। इस महिला का साधारण गृहस्थ जीवन बड़ा दुःखी था। उसका पति एक रखेली को प्यार करने लगा था और उसे बात बात में याद किया करता था। उसकी खास ननद उसकी चुगली करती रहती थी। अपने सामान्य जीवन में जब महिला ने प्रेम की पूर्ति की आशा न देखी तो वह अपने पूर्व कालीन जीवन का अपनी अचेतन अवस्था में अभिनय करने लगी।

जहाँ तक प्रेम की शक्ति को आगे बढ़ने में रुकावट का सामना नहीं पड़ता, वहाँ तक वह प्रतिगामी नहीं होती, जब इस प्रकार की रुकावट आ जाती है और व्यक्ति उसे पार करने की आशा नहीं देखता तो उसकी शक्ति प्रतिगामी बन जाती है। जिन लोगों को आशा रहती है कि अवरुद्ध मार्ग कभी खुल जायगा उन्हें पूर्ण विक्षिप्तता नहीं आती, परन्तु जिन रोगियों के मन में पूरी तरह से बैठ जाता है कि उनके प्रेम की पूर्ति न हो सकेगी, उन्हें पूरा पागलपन हो जाता है। इस प्रकार अवरुद्ध मानसिक शक्ति अपने प्रकाशित होने का विकृत मार्ग खोज निकालती है। आगे बढ़ने वाले मार्ग में अड़चन देखकर मानसिक शक्ति पुराने पीछे जाने वाले मार्ग का ही अनुकरण करने लगती है। यदि किसी प्रकार शक्ति के आगे बढ़ने वाले मार्ग को साफ कर दिया जाय और शक्ति को नैसर्गिक रूप से प्रकाशित होने का अवसर मिल जाय तो मानसिक रोग की अवस्था का अन्त हो जाय। इसके लिये मार्ग के रोड़े को हटाना और शक्ति को नये प्रकार से प्रवाहित होने में अभ्यस्त करना आवश्यक होता है।

मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण अथवा शोधन

मानसिक शक्ति की प्रगति का ध्येय विश्व-प्रेम है। पहले पहल प्रेम स्वार्थ बद्ध रहता है। शरीर का प्रेम, माता का प्रेम, [illegible] प्रेम, गोपी प्रेम, और बच्चों का प्रेम सभी प्रेम की प्रगति के प्रतीक हैं। जब मनुष्य पारिवारिक प्रेम के ऊपर जाता है तो वह विश्व प्रेम की ओर बढ़ता है। इस अवस्था में प्रेम का रागात्मक रूप बदलकर आध्यात्मिक रूप हो जाता है। यह प्रेम का शुद्ध रूप है।

जैसे जैसे मानसिक शक्ति की प्रगति होती है उसका रूप भी परिष्कृत होता है। मानसिक शक्ति के तीन रूप होते हैं—एक रूप से मानसिक शक्ति रति कार्य में प्रकाशित होती है—इसका हेतु प्रजा की सृष्टि होती है। दूसरे रूप से यह रागात्मक वृत्तियों में प्रकाशित होती है, यह सभी प्रकार के उद्वेगों का कारण होती है और तीसरे रूप से वह आध्यात्मिक ज्ञान और प्रेम में प्रकाशित होती है। यह मानसिक शक्ति का सबसे परिष्कृत रूप है। मनुष्य के जीवन का विकास इस बात में है कि वह अपनी मानसिक शक्ति को निम्न विधि से प्रकाशित होने से रोक कर उच्च विधि से उसे प्रकाशित करे। प्रेम और कामुकता दोनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जहाँ जहाँ प्रेम होता है वहाँ वहाँ कामुकता भी होती है। परंतु यह मनुष्य के विवेक पर निर्भर करता है कि वह कहाँ तक अपनी मानसिक शक्ति को कामुकता के रूप में प्रकाशित करेगा और कहाँ तक प्रेम में। कामुकता इच्छामय मानसिक स्थिति है और प्रेम त्यागमय है। मनुष्य जितना ही त्याग करता है उसकी कामवासना उतनी ही नियंत्रण में आती है और शुद्ध प्रेम की उतनी ही वृद्धि होती है। पाशविकता की प्रबलता की स्थिति में काम वासना की प्रबलता होती है और मानवता की प्रबलता की अवस्था में प्रेम की प्रबलता होती है।

प्रेम कामवासना का शोधित रूप है। काम वासना को घृणा की दृष्टि से देखने से और उसका केवल दमनमात्र करने से उच्चकोटि के प्रेम का विकास नहीं होता। जिस प्रकार कमल के लिये कीच की, अन्न के लिये गोबर की और आलू के लिये मल की आवश्यकता जो होती है, इसी प्रकार मनुष्य के प्रबल समाजोपयोगी भावों के विकसित होने के लिये कामवासना की शक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य का विवेक और तज्जनित नैतिक बुद्धि कामवासना को सदा परिष्कृत करती रहती है और उसे नीचे मार्ग से प्रकाशित न होने देकर ऊँचे मार्ग से प्रकाशित करती है। वासना का नियंत्रण उसके शोध के लिये आवश्यक हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में कामवासना का नियंत्रण नहीं रहता उसमें न तो बुद्धि का और न चरित्र का विकास होता है।

परन्तु यह नियन्त्रण धीरे धीरे नित्यप्रति के प्रयत्न से प्राप्त होता है। जब मनुष्य को उच्चकोटि के सुखों का ज्ञान हो जाता है तो वह निम्नकोटि के सुख से सहज रूप से विरत हो जाता है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञानमात्र न होना चाहिये, यह उसके भावात्मक जीवन को प्रभावित करनेवाला होना चाहिये। जब एक बार मनुष्य उच्चकोटि के आनन्द की अनुभूति कर चुकता है और जब वह फिर से निम्नकोटि के आनन्द में जाता है तो यह उसकी मानसिक शक्ति का प्रतिगमन होता है। ऐसा प्रायः उसी समय होता है जब उस के मन में निम्नकोटि के आनन्द के लिये अतृप्त इच्छा बनी रहती है। बहुत से तपस्वी तथा दार्शनिक इस प्रकार कई दिनों तक दार्शनिक विचार और तपस्या करने के पश्चात् साधारण भोगों में पड़ जाते हैं। मन की अपरिपक्व अवस्था में विषय-भोग से अलग हो जानेपर इस प्रकार का मानसिक शक्ति का प्रतिगमन होता है। जो लोग किसी भावात्मक घटना के कारण काम क्रीड़ाओं से विरत हो जाते हैं वे कामवासना सम्बन्धी सभी बातों से घृणा करने लगते हैं। ऐसे लोगों का जीवन ठीक से विकसित नहीं हो पाता। उनकी भावात्मक

मानसिक स्थिति उसी अवस्था की बनी रहती है जिस अवस्था में कामवासना का दमन हुआ है। आत्मग्लानि जनित कामवासना का दमन मानसिक शक्ति के प्रतिगमन का कारण बन जाता है। विवेकयुक्त काम वासना का नियन्त्रण मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का कारण होता है।

मनुष्य का मन अनेक प्रकार की मूल प्रवृत्तियों का बना हुआ है। ये प्रवृत्तियां जन्मजात होती हैं। ये मनुष्य और पशु में समान रूप से होती हैं। पशु के जीवन का सञ्चालन उसकी जन्मजात मूलप्रवृत्तियां करती हैं। वे ही उसकी अनेक प्रकार की क्रियाओं की प्रेरक होती हैं। भोजन को देखकर पशु खाने दौड़ पड़ता है, घातक प्राणी को देखकर भागता है, बराबरी के प्राणी से दुःखित होनेपर लड़ पड़ता है और कामवासना के उत्तेजित होने पर काम व्यापार में लग जाता है। मनुष्य मूल-प्रवृत्तियों प्रेरणा के अनुसार ही काम नहीं लेता, वह अपने विवेक से भी काम लेता है। विभिन्न प्रकार की जन्महात मानसिक शक्तियों का नियन्त्रण और संचालन मनुष्य का विवेक करता है। यही मामसिक शक्ति का शोध है। यदि मनुष्य अपने किवेक से काम न ले तो वह पशु के समान ही हा जाय। मनुष्य का विवेक उसे अपनी प्रवृत्तियों को समाज के लाभ में काम में लाने के लिये पथ प्रदर्शन करता है। जब अविवेक के कारण भावावेश में आकर मनुष्य कोई अनुचित काम कर बैठता है तब मानसिक साम्य बिगड़ जाता है और मानसिक रोग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

दूसरा प्रकरण

मानसिक रोगों की उत्पत्ति

प्रबल आवेगों का दमन

जबतक मनुष्य तृष्णा के व्यापार में लगा रहता है तब तक वह सामान्य और स्वस्थ दिखाई देता है। दुःखी और क्लान्त मन वे ही लोग दिखाई देते हैं जिनको तृष्णा का व्यापार रुक जाता है, अर्थात् जो लोग पहले जैसा काम अथवा चिन्तन किसी कारणवश नहीं कर पाते। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य को मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब किसी प्रकार की व्यक्तिगत सुख की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और जब एकाएक उसका दमन होता है तो वह प्रवृत्ति प्रतिगामिनी बन जाती है। उसके प्रकाशन की रुकावट के साथ साथ मनुष्य के व्यक्तित्व की बाढ़ रुक जाती है। कभी कभी मनुष्य का समस्त व्यक्तित्व उसकी पूर्वावस्था का अभिनय करने लगता है।

कामवासना का दमन

उक्त बात कामवासना के क्षेत्र में विशेष रूप से होती है। कामवासता के प्रकाशन के साथ साथ मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है और उसके प्रकाशन के अवरोध के साथ साथ मनुष्य की बुद्धि और शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगता है।

कामवासना के प्रकाशन में रुकावट बाहरी अथवा आन्तरिक परिस्थिति से होती है। बाहरी परिस्थिति प्रेमी का चला जाना, मर जाना, उसके द्वारा तिरष्कृति होना आदि है। आन्तरिक-परिस्थिति किसी प्रकार का भय है। यह भय स्वास्थ्य बिगड़ने का, समाज में

निन्दा का, ईश्वर के द्वारा दण्डित होने का अथवा आत्मग्लानि का भय होता है। बाह्य परिस्थिति की प्रतिकूलता साधारणतः उतनी घातक नहीं होती जितनी आन्तरिक-स्थिति की। जो प्रवृत्ति सीधे मार्ग से प्रकाशित नहीं होती वह टेढ़े-मेढ़े मार्ग से प्रकाशित होती है। जबतक पुराने संस्कार नष्ट नहीं हो जाते तबतक मानसिक तथा शारीरिक रोग बना ही रहता है। पुराने संस्कारों को नष्ट करने का उपाय उनका प्रकाशन मात्र ही है। यह प्रकाशन आचरण, विचार और मानसिक तथा शारीरिक रोग में होता है। बाहरी रोग आन्तरिक रोग का लक्षणमात्र है। यह रोग के विनाश का उपाय है। अभद्र विचारों को मन में लाना बुरा है, परन्तु उनका एकाएक दमन होना और भी बुरा है।

लेखक के पास हाल में ही एक नवयुवक आया, इसे अकारण भय, बाध्यविचार और अनिश्चित रहने का रोग है। इसे भय लगा रहता है कि वह पागल हो जावेगा। एक बार उसने भाँग खा ली तो उसे ज्ञात हुआ कि वह एक बैल बन गया है। वह २४ घण्टे नशे में रहा। दूसरी बार जब अपने मित्र का दिया एक लड्डू खा लेने पर वह तीन घंटे बेहोश रहा। इस लड्डू में कोई नशीली वस्तु न थी; उसमें केवल पौष्टिक पदार्थ थे।

रोगी की इस दशा का कारण खोजने पर पता चला कि इसे पहले तो हस्तमैथुन की आदत थी और पीछे यह एक महिला के प्रेम में पड़ गया। जब इस महिला की शादी हो गई तो पुराना प्रेम-संबन्ध जारी न रह सका। उससे पत्र-व्यवहार करना भी बन्द करना पड़ा। समाज के भय के कारण यह सब हुआ। महिला इस व्यक्ति को प्यार करती रही पर उसे अपने आपके ऊपर नियन्त्रण रखना पड़ा। इस समय भी इस व्यक्ति को कामवासना के विचार बहुत सताते हैं और इनसे ही वह संघर्ष करते रहता है। कभी कभी उसके कामवासना सम्बन्धी विचार बहुत उग्र होते हैं, इससे उसे भारी आत्मभर्त्सना होती है।

एक किशोर बालक के शारीरिक रोग का निम्नलिखित वृत्तान्त मिला। इस बालक को सन्देह हो गया है कि उसके पेट में कोई खराबी है। यह उसके मानसिक रोग का कारण है। गांव के एक साधु ने उससे कह दिया कि उसे मानसिक रोग होनेवाला है और उससे बचने के लिये उसे एक जड़ी का सेवन बता दिया। एक व्यक्ति ने उसके पेट को टटोलकर कहा कि उसके पेट में कड़ापन है और वही उसके रोग का कारण है। उसने भी कुछ जड़ियाँ बता दीं। अब वह इन्हीं के पीछे पड़ा रहता है।

इस प्रकार के रोग के पूर्व उसे घर पर डाँका पड़ने का भय हो गया था। यह पहले से ही अफवाह थी कि जब उसके घर के लोग एक शादी में जावेंगे तो उसके घर में डाका पड़ेगा। जब घर के लोग एक शादी में गये थे तो वह अकेला रह गया था। इसी समय उसे भ्रम हुआ कि किसी ने घर के ऊपर एक पत्थर फेंका। वह बाहर आकर पूछताछ करने लगा। एक मनचले व्यक्ति ने कह दिया कि तुम्हारे घर डाँकू आये थे। डाँकू आने की बात पर उसे विश्वास हो गया और इसके कारण वह कई दिनों तक परेशान रहा। पीछे उसके पिता ने उसे समझा-बुझाकर समाधान किया।

यह रोग इस लड़के को शादी के ७-८ दिन बाद प्रारम्भ हुआ। इसका कारण खोजने पर पता चला कि उक्त लड़के की इच्छा शादी करने की नहीं थी। जिन किशोर बालकों को हस्तमैथुन की आदत लग जाती है उन्हें शादी से डर लगता है। शादी हो जाने पर उनकी कामवासना सम्बन्धी चिन्ता बढ़ जाती है। इस चिन्ता को भुलाने के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के अकारण-सन्देह उसके मन में उत्पन्न हो जाते हैं। ये सन्देह फिर मानसिक और शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेते हैं। काम चेष्टाओं अथवा विचारों का एकाएक दमन होने से नपुंसकता का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कभी कभी अकारण भय उत्पन्न होता है। जिन वस्तुओं से भय उत्पन्न होता है वे काम-वासना के प्रतीक होते हैं। डांकू, भूत, सांप, कीड़े, मकोड़े आदि

पदार्थ काम-वासना के प्रतीक हैं। इनका भय कामवासना द्वारा यंत्रणा पाने का भय है।

प्रेम और घृणा, इच्छा और भय, सौन्दर्य और गन्दगी के भाव एक दूसरे के पूरक हैं। एक का दमन होने पर वे उनके विरोधी रूप में परिणत होकर निकलते हैं। प्रेम घृणा का रूप धारण कर लेता है, इच्छा भय का और सौन्दर्य गन्दगी का। मनुष्य के पुराने अभ्यास और संस्कारों के कारण जिन बातों के प्रति मनुष्य के भीतरी अर्थात् अचेतन मन में प्रेम, इच्छा, सौन्दर्य का भाव होता है उन्हीं के प्रति उसके चेतन मन में घृणा, भय और वीभत्सता अथवा गन्दगी का भाव रहता है। परन्तु साधारणतः ये भाव चेतन मन में सीधे उन्हीं वस्तुओं की ओर नहीं होते जिनका उसका आन्तरिक मन इच्छुक है वरन् उनके प्रतीकों के प्रति होते हैं। इस प्रकार स्वयं व्यक्ति अपने बाध्य विचार, अकारण-चिन्ता और भय के कारण को नहीं जान पाता। बड़ी खोज करने पर इनका पता चलता है।

जब दबी वासना का प्रकाशन इस प्रकार विकृत विचारों में नहीं होता तब वह मनुष्य की साधारण चेतना को भी अस्त-व्यस्त कर देता है। इससे मनुष्य अपने साधारण वातावरण को भूल जाता है, उसका विचार क्रमबद्ध न होकर उच्छृंखल हो जाता है। जिधर का विचार चल पड़ा उसी ओर वह चला जाता है। अनेक शारीरिक रोग भी इसी प्रकार दबी वासना के प्रतिक्रिया रूप होते हैं। जब मानसिक अंतर्द्वन्द्व के कारण मनुष्य का मन परेशान हो जाता है तो वह किसी भी प्रकार के रोग की कल्पना अपने आप में करता है। फिर कल्पना की प्रबलता से वह रोग उसे वास्तव में हो जाता है।

सभी प्रकार के मानसिक रोगों के होने के पूर्व व्यक्ति के मन में भारी चिन्ता का भाव रहता है। वह अपनी चिन्ता को किसी से प्रकाशित नहीं कर पाता। इस प्रकार के प्रकाशन से उसे भय होता है। यह चिंता कभी कभी अनिद्रा का रोग उत्पन्न कर देती है। फिर व्यक्ति कभी कभी दबी भावना का भी अभिनय शारीरिक रोग में करने

लगता है। इस तरह हिस्टीरिया की अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक बीमारियां होती हैं। ऊपर से देखनेवाले व्यक्ति को रोग अकारण उत्पन्न हुआ ज्ञात होता है, परन्तु व्यक्ति का पुराना अभ्यास और चिंतन इसका कारण होता है। पुरानी भावात्मक स्मृतियों के दमन से अथवा प्रबल उत्तेजनाओं के दमन से ही रोग उत्पन्न होता है।

कामवासना का दमन और सुनियंत्रित प्रकाशन

कामवासना मनुष्य की सबसे प्रबल वासना है। आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख पंडितों के अनुसार यह वासना सभी वासनाओं में प्रधान है। मनुष्य के अनेय प्रकार के मानसिक रोग इस वासना के दमन के कारण उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों का स्वास्थ्य इसके उचित नियंत्रण तथा उसकी शक्ति से सदुपयोग पर निर्भर करता है। संसार के जितने भी महान् पुरुष हुए हैं उन सभी के जीवन में कामवासना की शक्ति का सदुपयोग देखा जाता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की विक्षिप्तताओं का कारण कामवासना का दमन होता है। मानसिक आरोग्य के लिये यह आवश्यक है हम अपनी कामवासना के नियंत्रण की विधि और उसकी शक्ति के सदुपयोग के उपायों को भली प्रकार से समझें। इस प्रकार के ज्ञान के बिना हम अपना जीवन दुःखी और असफल बना देते हैं।

कामवासना का दमन और उसका सुनियंत्रित प्रकाशन दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। कामवासना का दमन हानिकारक है, परन्तु उसका संयम अर्थात् उसका सुनियंत्रित प्रकाशन लाभदायक है। कामवासना का सुनियंत्रित प्रकाशन ही कामवासना का मार्गान्तरीकरण अथवा शोध कहलाता है। इस शोध के परिणाम स्वरूप ही संसार के अलौकिक कार्य किये जाते हैं और मनुष्य में चमत्कारक प्रतिभा का स्फुरण होता है। कामवासना का दमन एक अज्ञात मानसिक क्रिया है। जिस मनुष्य के जीवन में कामवासना का दमन होता है वह इसे अपना शत्रु मानता है। उसके चेतन मन में कामवासना संबंधी विचार नहीं

आते। वे उसके छुये हुए मन में ही रह जाते हैं। ऐसा व्यक्ति प्रायः तपस्वी-जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करता है। वह स्वभाव से एकान्तवासी; व्रत-उपवास करने वाला, मौन रखने वाला तथा हँसी मजाक से दूर रहने वाला होता है। जिस मनुष्य के आन्तरिक मन में कामवासना जितनी प्रबल होती है उसके बाहरी मन में तथा उसके आचार-व्यवहार में कामवासना सम्बन्धी विचारों और क्रियाओं का उतना ही अभाव पाया जाता है।

जिस व्यक्ति के जीवन में कामवासना का दमन होता है उसे स्वयं ही यह ज्ञान नहीं रहता कि उसके जीवन में इस वासना का दमन हो रहा है; वह अपने आपको कामवासना मुक्त ही समझता है। उसके स्वप्नों में भी कामवासना सामान्य रूप से प्रकाशित होकर छिपे ढंग से प्रकाशित होती है। इसके प्रतिकूल कामवासना की नियंत्रण की अवस्था में उसे इस वासना का ज्ञान रहता है और व्यक्ति जानबूझकर इस वासना का नियंत्रण करने की चेष्टा करता है। उसका प्रयत्न किसी प्रकार के अतिक्रम को नहीं दिखाता। कामवासना का नियंत्रण सम्यक-भाव से होता है और यह जानबूझकर के ही किया जा सकता है। इसके प्रतिकूल उसके दमन की अवस्था में सभी प्रकार का अतिक्रम तथा इस वासना का चेतन मन में अभाव पाया जाता है।

कामवासना का दमन उन लोगों के जीवन में अधिक पाया जाता है जिनका बचपन लालन-पालन बड़ी शिष्टता से हुआ है। जिन बालकों के माता-पिता तथा अन्य-अभिभावक बालक को बहुत ही शिष्ट व्यक्ति बनाना चाहते हैं और उसे सभी प्रकार के संदेहात्मक साथियों से बचाने की चेष्टा करते हैं उन्हीं के जीवन में कामवासना का दमन अधिक होता है। ऐसे बालकों के चेतन मन के आदर्श ऊँचे हो जाते हैं परन्तु उनके अचेतन मन में इन आदर्शों के अनुसार चलने की योग्यता नहीं रहती। जिस वासना के प्रकाशन का मनुष्य के जीवन में कोई अवसर नही आता उसकी शक्ति अवरुद्ध हो जाती है और इसके कारण वह वासना प्रबल हो जाती है। वासना के प्रकाशन से उसकी

ओषधियों के विषय मे—वल्मीक मे मिलनेवाली ओषधि विशेष से अतिसार, अतिमूत्र आदि रोग शान्ति (२।३।१–६), हरिणशृंग और उसके चर्म से क्षय, कुष्ठ, अपस्मारादि नाशन (३।७।१–३), शतवीर्या, दूर्वा से दीर्घायुष्य, नाना रोग शान्ति (३।११।१–८), वृषा शुष्मादि ओषधियो से वृष्यत्व (४।४।१–८); कुष्ठ ओषधि का वर्णन (६।९५।१–३), गुग्गुल धूप की गन्ध से यक्ष्मनाशन (१९।३५।१–३, तुलना कीजिए—सुश्रुत सूत्र० अ० ५।१८ मे दिये धूपन द्रव्यो मे गुग्गुल के नाम से), विष से ही विष का प्रतीकार (७।८८।१, तुलना कीजिए—'तस्माद् दष्ट्राविष मौल हन्ति मौल च दष्ट्रिजम्।' चरक० चि० अ० २३।१७), विप दोहन विद्या से विप का प्रतीकार (८।५।१–१६), मृत्युभय की निवृत्ति लिए दर्भ-मणि बन्धन (१९।३२।१–२) आदि विषय अर्थवेद मे आये है।[1]

अथर्व का सिर तथा अयोध्या नगरी—वेद मे सिर की विशेप महत्ता है, अत्रि-पुत्र ने सिर को सब अगो से श्रेष्ठ कहा है ('यदुत्तमागम ङ्गाना शिरस्तदभिधीयते'—चरक)। इसी सिर को 'देवकोश' कहा गया है।

[अ–थर्व–] स्थिरचित्त योगी अपने मस्तिष्क के साथ हृदय को सीता है। सिर मे मस्तिष्क के ऊपर अपने प्राण को भेज देता है। यह ही अथर्व का सिर है, जिसको देवो का कोश कहा जाता है, इसकी रक्षा प्राण, मन और अन्न करता है। अमृत से परिपूर्ण इस नगरी को जो जानता है, उसको ब्रह्मा और इतर देव चक्षु, प्राण और पूजा द्रव्य देते है। आठ चक्र और नौ द्वारो से युक्त यह देवो की अयोध्या नगरी है, इसमे तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरो से युक्त और तीन स्थानो पर रहे हुए उस तेजस्वी कोश मे जो पूज्य आत्मा है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते है।

इस पुरुषशरीर को अयोध्या रूप मे वर्णित किया गया है, जिसमे कोई भी लड नही सकता (न योद्धु शक्या अयोध्या), इस अयोध्या नगरी मे आठ चक्र और नौ द्वार है, यह देवताओ की नगरी है, इसमे हिरण्य का कोश है। मूलाधार, स्वाधिष्टान, आज्ञा आदि आठ चक्र है, दो ऑखे, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और गुदा ये नौ द्वार है। इसमे ऑख-कान, मन, चन्द्रमा, प्रजापति आदि देवता रहते है, हिरण्य ज्ञान है। शरीर इस तरह ही अयोध्या है, कोई भी रोगरूपी शत्रु इस नगरी से नही लड सकता। (अथर्व० १०।२।३२)।

---

१. विस्तार के लिए—'अथर्ववेद संहिता' श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रकाशित तथा काश्यप संहिता को देख सकते है।

कामवासना के दमन के विभिन्न परिणाम

जिस व्यक्ति के जीवन में कामवासना का दमन होता है उसमें किसी न किसी प्रकार की असाधारणता अवश्य रहती है। कामवासना का दमन अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बन जाता है। जब कामवासना की शक्ति दमन के कारण अवरुद्ध हो जाती है तो वह अपने प्रकाशन के लिये खुला मार्ग न पाकर किसी छिपे मार्ग को खोजती है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार के विचित्र व्यवहार होते हैं। कामवासना की दमन की स्थिति में मनुष्य को किसी विशेष प्रकार को निरर्थक शारीरिक क्रियाओं को करने की टेव सी पड़ जाती है। इच्छा के विरुद्ध सिगरेट पीना, सदा इधर से उधर भागते रहना, अकारण ही दूसरों से लड़ बैठना, लम्बे लम्बे उपवास करना, मौन रखना किसी विशेष प्रकार की युक्तियों के विरुद्ध सिद्धान्त को पकड़ लेना और उसको ठीक सिद्ध करने की चेष्टा करना आदि प्रतिक्रियायें कामवासना के दमन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती हैं।

ऐसे लोगों को कुछ न कुछ शारीरिक निरर्थक कार्य करने की भी आदत रहती है। ओठों को काटना, जांघ हिलाना, हाथ धोते रहना जैसी क्रिया करना, शौच के बाद कई बार हाथ मटियाना, बाहरी सफाई के लिये अत्यंत परेशान रहना आंख को विशेष प्रकार से मटकाना, कभी कभी एक आंख बन्द कर लेना, मुँह पर बार बार हाथ फेरते रहना, किसी अन्य निरर्थक क्रिया को बार बार करना जैसे किसी अँगूठी को बार बार पहनना-उतारना, पेन्शिल को किसी क्लिप में निकालना और डालना, हाथ को सिर पर घुमाते रहना इत्यादि कामवासना के दमन के प्रतीक हैं। ये सभी प्रकार की निरथक क्रियायें सामान्य लोगों में जीवन में पाई जाती हैं। मानसिक रोग की अवस्था में इस प्रकार की क्रियाओं का बाहुल्य हो जाता है।

कामवासना के दमन में कामवासना की शक्ति प्रतिगामिनी हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के संवेगात्मक जीवन का विकास

नहीं होता। वह शरीर से बढ़ता है परन्तु आवेगों की दृष्टि से छोटा ही बना रहता है, अर्थात् उसमें बच्चे जैसा आचरण करने की प्रवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार कामवासना के सम्पूर्ण प्रतिबन्ध को हटा देने पर मनुष्य के आचरण में बेहद कामुकता पाई जाती है इसी प्रकार उसकी दमन की अवस्था में वह अपने आप में मानसिक नपुंसकता की अनुभूति करने लगता है। यदि ऐसे व्यक्ति का विवाह हो गया हो तो वह अपनी स्त्री से मिलने से डरता है। कभी कभी ऐसे लोगों को अनायास ही झक उत्पन्न हो जाती है कि उसकी संतान उसके द्वारा पैदा नहीं हुई है, वह किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा पैदा हुई है अर्थात् वह स्त्री के व्यभिचार के परिणामस्वरूप पैदा हुई है। ऐसे लोग स्त्री को सदा सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और उससे बात बात में झगड़ा किया करते हैं। स्त्री को सुखी देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती। उसे वे दुःखी ही देखना चाहते हैं।

लेखक के एक विद्यार्थी ने हाल ही में अपना कामवासना सम्बन्धी अनुभव बताया। इस विद्यार्थी को किशोरावस्था में हस्त-मैथुन करने की आदत थी, परन्तु कुछ काल से यह आदत छूट गई थी। वह कामवासना सम्बन्धी सभी बात से घृणा करने लगा था। जब कभी किशोर बालक अथवा युवक स्वयं अपनी व्यभिचार करने कोई प्रवृत्ति को जान लेता है तब वह उससे बहुत ही घृणा करता है। इस विद्यार्थी को इक्कीस वर्ष की अवस्था में आत्मभर्त्सना का रोग हो गया। यह इस रोग के कारण अकारण ही अपने आपको कोसने लगता था। वह अपने परिचित व्यक्तियों के सामने अपने से शर्माता था। यदि कोई व्यक्ति उसकी थोड़ी सी नुकता चीनी कर दे तो वह इतना घबड़ा जाता था कि फिर उसे उस व्यक्ति के सामने ठहरना कठिन पड़ जाता था, उसकी आँख नीची हो जाती थी। वह किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के सामने सिर उठाकर नहीं देख सकता था और न बातचीत कर सकता था। उसके मन में सदा यही भाव रहता था कि यह व्यक्ति उसके बारे में कुछ अनुचित धारणा अवश्य रखता

होगा। उसे दूसरों के सामने आते हुए शरम का भाव आ जाता था। यह विद्यार्थी विवाहित है और अपनी स्त्री से मिलता भी रहता है। उसके मन में एक विचार यह बैठा हुआ था कि उसकी जननेंद्रिय छोटी है और वह अपनी स्त्री की काम तृप्ति में अवश्य ही असमर्थ होगा। उसकी स्त्री जब गर्भवती हुई तो उसे सन्देह हो गया कि संभवतः वह उसके द्वारा गर्भवती नहीं हुई है वरन् पर-पुरुष से गर्भित हुई है। इसके कारण उसका आन्तरिक-जीवन दुःखी हो गया। इस विद्यार्थी की उमर अभी बाइस वर्ष की हो गई है परन्तु अभी तक उसके चेहरे के ऊपर जवानी के चिन्ह अर्थात् दाढ़ी, मूछ आदि नहीं आये। यह अभी भी देखने में किशोर बालक जैसा लगता है। जब यह विद्यार्थी १५-१६ साल का था उस समय उसके साथ एक और विद्यार्थी पढ़ता था। इस विद्यार्थी में समलिङ्गी काम-व्यभिचार की प्रवृत्ति थी। इस विद्यार्थी से उक्त विद्यार्थी की पहले तो मित्रता थी परन्तु पीछे वह उससे घृणा करने लगा था। यह अपनी कल्पना में उसके व्यभिचार को कल्पित किया करता था। उसकी कक्षा के मास्टर से ही इस विद्यार्थी का अनुचित सम्बन्ध था, अतएव रोगी को भी सदा अपने मास्टर के प्रति सन्देह और भय का भाव बना रहता था। वह भी अपने मित्र की ही तरह खूबसूरत था। प्रौढ़ अवस्था प्राप्त करने पर रोगी को ये काल्पनिक अनुभूतियाँ दब गई, परन्तु इन कारणों से अनेक प्रकार की मानसिक झझटे उत्पन्न हो गई। अब वह अपने किसी भी काम के लिये उसी प्रकार शरमाने लगा जिस प्रकार किसी व्यभिचारी आदमी को शरमाना चाहिये। उसकी समलिङ्गी प्रेम की भावना के दमन होने के कारण एक ओर उसकी शारीरिक आकृति किशोर बालक जैसी ही बनी रही और दूसरी ओर उसमें स्वगत भोग की इच्छा की प्रबलता हो गई अर्थात् वह हस्त-मैथुन करने लगा। यह आदत काम-वासना के दमन के परिणाम-स्वरूप प्रगट होती है। जब कामवासना की पुरोगामी गति का अवरोध हो जाता है तो वह प्रतिगामिनी बन जाती है।

ऐसी अवस्था में वह विषमलिङ्गी प्रेम की ओर विकसित न होकर स्वगलप्रेम की ओर अर्थात् हस्त-मैथुन की ओर प्रवाहित होने लगती है। इसके लिये मनुष्य के मन में भारी आत्मभर्त्सना भी होती है। उसमें आत्महत्या के भाव आने लगते हैं। वह अपने आपको नपुन्सक सा समझने लगता है। कोई भी साधारण सी शारीरिक कमी को वह नपुन्सकता का प्रतीक मान लेता है और इसके कारण वह अपनी स्त्री से मिलना नहीं चाहता। उसे चिन्ता बनी रहती है कि अपनी स्त्री को वह कैसे सन्तुष्ट करेगा। ऐसे व्यक्ति को परीक्षाओं में बैठने से अकारण भय उत्पन्न होता है। किसी प्रश्न के पूछने पर वह घबड़ा जाता है। उक्त विद्यार्थी में ये सब बातें थीं।

मन को धक्का लगने का परिणाम

हमने पहले कामवासना के दमन के सामान्य-कारणों को बताया है। बालक का कठोर-जीवन, विमाता की उपस्थिति, पिता का बालक को सदाचारी व शिष्ट बनाने की चिन्ता, अभिभावकों का बालक के आचरण के प्रति अति सतर्क रहना, ये कामवासना के दमन के सामान्य कारण हैं। परन्तु इन कारणों के अतिरिक्त कोई भावपूर्ण घटना, जिसमें बालक को एक भारी धक्का लगजाता है दमन का कारण होती है। इसके परिणाम-स्वरूप उस व्यक्ति को या तो कामवासना से घृणा उत्पन्न हो जाता है अथवा वह अपने आपको स्त्रियों से मिलन के अयोग्य समझ लेता है। यदि ऐसी अवस्था में उसका विवाह हो जाय तो वह या तो घर से भाग जाने की चेष्टा करता है अथवा वह अपनी विवाहिता स्त्री से मिलने के दिन को टालने की चेष्टा करता है। यदि उसे जबरन अपनी स्त्री से संभोग के लिये मिलना ही पड़े तो वह अपने आप में किसी प्रकार की कामोत्तेजना की अनुभूति नहीं करता। वह नपुन्सक जैसा व्यवहार करने लगता है। इस प्रसंग में लेखक के एक कल्पित नपुन्सकता के मानसिक रोगी की, जिसकी सफल चिकित्सा हो सकी है, आत्म कथा का

निम्नलिखित वृत्तान्त उल्लेखनीय है—

"मैं ऐसा अभागा व्यक्ति हूँ कि मेरी अपनी माता का देहान्त तब हुआ जब मैं मुश्किल से एक माह का था। तत्पश्चात् मेरी दादी ने मेरा लालन-पोषण किया और जब मैं पाँच वर्ष का हुआ तब वह भी मर गई। मेरे पिताजी ही केवल मेरे परिवार में थे जिन्हें मजबूरन दूसरी शादी करनी पड़ी। तदनुसार मेरी सौतेली माताजी अबतक हैं और उन के एक लड़की व एक लड़का है। इस समय उनकी लड़की अर्थात् मेरी बहिन की आयु अठारह वर्ष की है जो इस समय विधवा हो गई है और उनके लड़के, मेरे भाई साहब की आयु सोलह वर्ष की है जो दसवीं क्लास में पड़ते हैं। मेरी माताजी का व्यवहार मेरे प्रति असन्तोषजनक रहता है, अतः मैं अपने जीवन के प्रारंभ से ही उनसे दूर रहता चला आया हूँ।

मेरे पिता का व्यवहार तो मेरे प्रति सदा अच्छा रहा है। जब मेरी सौतेली माँ नई नई आईं थीं तो उनके कुछ बहकावे में आकर मेरे पिताजी का व्यवहार मुझ से कुछ खराब हो गया था जिससे उन्होंने मुझे एक बार मार-पीटकर घर से निकाल दिया था और मैं घर छोड़कर बाहर एक रिश्तेदार के यहाँ चला गया था। बाद में उन्हें मेरा वियोग दुखदायी लगा और वे मुझे पुनः वापस लाये थे। पर साधारणतः उनका व्यवहार मेरे प्रति काफी अच्छा था। मैंने अपने जीवन का अधिक समय (बालपन) उन्हीं के साथ बिताया। प्राइमरी कक्षा के चौथे दर्जे को मैंने उन्हीं की क्लास में पढ़कर पास किया। वे अबतक प्राइमरी-स्कूल के प्रधानाध्यापक हैं। इसके बाद मैंने मिडिल स्कूल में भी बोर्डिङ्गहाउस में रहकर पढ़ा और यहाँ अब भी अकेले ही हूँ। बोर्डिङ्गहाउस के जीवन के समान यहाँ का भी जीवन है। कभी कभी मेरी देवीजी यहां आ जाती हैं।

माता का व्यवहार जब तक मैं काम-काज में नहीं लगा था तब तक तो शत्रुवत था। वे मुझ से बात-बात में क्रुद्ध हो जाती थीं और

रूठती थीं पर जब से मैं काम-काज में लग गया तब से अब बहुत सुधर गई हैं। पिताजी ने अब उन्हें बहुत समझाया है। मैं प्रतिमास उन लोगों के सहायतार्थ कुछ रुपये भी भेज देता हूँ क्योंकि मेरे पिता की मासिक-आय केवल ४०) ही है जो आजकल के प्रधानाध्यापक-प्राइमरी पाठशालाओं की है। अतः इन कारणों से अब माताजी के व्यवहार इतने अच्छे हो गये हैं कि कुछ ठिकाना नहीं है। मैं उनके दुलार के डर के मारे अब घर बहुत कम जाता हूँ।

रोग का आरंभ बचपन से हुआ। इसको हम रोग न कहकर एक बुरी आदत कहेंगे। मुझे पहले ज्ञात भी न था कि हस्तमैथुन किसे कहते हैं। जब मैं लगभग १२-१३ वर्ष का था तो अपनी हो आयुवाले मेरे एक साथी ने नदी नहाने जाते हुए रास्ते में एक अरहर के खेत में बैठकर मुझे हस्तमैथुन की क्रिया प्रथम बार सिखलायी थी। यद्यपि तब मुझे इसका विशेष आनन्द न आता था, पर प्रारंभ वहीं से हुआ था। इसके बाद भी एक पैतीस वर्ष के वृद्ध सज्जन से भी मुलाकात हुई थी जो अपनी स्त्री के पास नहीं जाते थे और हस्तमैथुन करते थे। उन्होंने बताया कि हस्तमैथुन करने पर वीर्य बड़ी दूर तक पिचकारी की तरह चला जाता है। उनकी बातें सुनकर मेरे मन में उस पिचकारी की तरह क्रिया करने की लालसा बढ़ी। धीरे धीरे जब मैं १५-१६ वर्ष का हुआ तो मेरी यह आदत पड़ने लगी और मैं इसमें कुछ आनन्द प्राप्त करने लगा। सत्रह, अठारह वर्ष की आयु तक मुझे पूरा पूरा आनन्द आने लगा और मैं लगभग प्रतिसप्ताह-एकवार इस क्रिया को करने लगा। कभी कभी मेरी इस आदत के पुराने व प्रथम साथी मेरी लिंगेंद्रिय को पकड़कर स्वयं मेरा हस्तमैथुन किया करते थे। पर यह बात तब होती थी जब मैं अपने गाँव में जाता था। जब अपने स्कूल में रहता था तो एकान्त समय मिलने पर अकसर किया करता था। जब हाई स्कूल में पहुँचा तब नवम और दशम श्रेणी में मैं इस आदत की चरम सीमा पर पहुँच गया। एक निर्जन वाटिका थी जिसमें भाँति भाँति के पुष्प विकसित रहते थे; वही स्थान मेरा नियत

था। मैं प्रारंभ से ही एकान्तवासी था और इसी एकान्तवासिता में मेरी यह क्रिया एकबार अवश्य होती थी। मैं उस उद्यान में अपनी कुछ पुस्तकों को लेकर पढ़ने की इच्छा से जाता था। पर पढ़ने को कौन कहे वहां यह क्रिया एकबार अवश्य करता था; तब बाद में पढ़ता था। धीरे धीरे ऐसा हो गया कि जिस प्रकार प्रातस्नान किया जाता है मैं उसी प्रकार हस्तमैथुन भी प्रतिदिन अवश्य करता था। यों ही समय बीतने लगा और इस प्रकार मेरी यह आदत भी पुरानी होती गई। मुझे उस समय तक कुछ भी ध्यान में न आया कि इसका परिणाम क्या और कैसा होगा। मैं १९४० में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की एडमिशन परीक्षा में पास हो गया। अब निर्धनता के कारण मेरे पिता जी की आगे पढ़ाने की हिम्मत न हुई। अतः अब मैं सर्विस की तलाश करने लगा। गाँव में रहने लगा, अखबारी 'वेकेन्सीज' में सप्लाई करने लगा। गाँव के कामों में विशेष समय देने लगा। गाँव वालों की पंचायत बुलाकर उनसे गाँव में एक पुस्तकालय खुलवाने का प्रस्ताव रखा। पुस्तकालय खुल गया, मैं पुस्तकालयाध्यक्ष बनाया गया। दिन को गाँव के लोग उसमें आते, मैं सबको अखबार पढ़कर सुनाता था। कभी कभी गांव की रामलीला में भी डटकर भाग लेता था। इन सब कारणों से गाँव के छोटे बड़े सभी लोग मुझे बहुत मानने लगे। यहाँ तक कि गाँव के सबसे बड़े व्यक्ति ने अपनी लड़की की शादी मुझसे करने का प्रसंग उठाया। इसी गांव में मेरी जाति के ही एक पुरुष की लड़की, जो १५-१६ वर्ष की थी, मुझसे प्रेम करने लगी। वह मुझे नित्य घर से देखा करती थी। मुझे भी उसे देखने पर हृदय में एक अजीब सिहरन पैदा होती थी। धीरे धीरे कोशिश करके मैं एकबार उससे मिला। उसका घर सुनसान था मैं उसके पास चला गया; वह भी पास चली आई। मैं उसे देखने लगा वह भी मुझे देखने लगी, मैं भी कुछ कहना चाहता था और वह भी; पर कोई कुछ न कह सका। इसी बीच में मुझे एक मेरे एक साथी ने बुला दिया और मुझे उस लड़की के पास खड़ा देख लिया। मैं चुपचाप

वापस चला आया। अब रात दिन मुझे और उसे चैन न आवे। दुबारा फिर एक दूसरे सज्जन के घर में हम दोनों मिले। वह मेरे बाहुपाश में आ गई। चुम्बन व कुछ स्पर्श प्रारम्भ हो गये। इसी समय किसी ने एक बहुत बड़ा का ढेला उस आंगन में फेंका। हम दोनों एक दूसरे को छोड़कर अलग हो गये और घर चले आये। इस प्रकार मेरा दूसरा प्रयास भी असफल रहा। पुनः तीसरी बार मैं उसी के घर में जा घुसा। दिन के १—१॥ बजे थे, जेठ की दुपहरी थी; वह अकेली थी, फौरन उसने घर का किवाड़ बन्द कर दिया और हमलोग घर के भीतर एक छोटे से कमरे में जा बैठे। मुझे पसीना आ गया था और मैं काँप रहा था। मैंने पसीना पोंछ-पाँछ कर पुनः प्रेम करना प्रारम्भ किया। एक ही या दो मिनट बाद उसकी माँ आ गई और वह मुझे छोड़ दरवाजा खोलने चली गई। मैं भी किसी तरह भाग आया और मुझे तब जान पड़ा कि अब मेरे में विशेष कमजोरी आ गई है अथवा मैं नपुंसक हो गया हूँ।

सौभाग्य से दूसरे दिन मुझे यहाँ (......) पर नौकरी मिल गई और दूसरे ही दिन मैं वहाँ से चलकर यहां आया। गाँव के सारे आनंद समाप्त हो गये। एक प्रकृति की गोद में विचरने वाला मैं अब भौं-भौं पौं-पौं और महलों से परिपूर्ण जनता के महासागर व कोलाहल में रहने लगा। मैं लगातार दो वर्ष तक यहाँ रह गया। २० अप्रेल १९ २ को मेरी शादी यहीं मेरी इच्छा के विरुद्ध हुई। शादी के बाद श्रीमतीजी नहीं आई थीं। मैंने शादी के बाद उक्त क्रिया को एकदम छोड़ने की कोशिश की पर छूट न सकी।

मैंने इसके बारे में अनेक वैद्यों से परामर्श किया। पहले तो मेरे पास रुपये नहीं थे। पर जब ४०) मासिक तनख्वाह मिलने लगी तब मैंने दवा करना शुरु कर दिया। कुछ दिनों वैद्यों को दवा की। उन्होंने कुछ खाने व लगाने की दवा दी उसमें काफी खर्च हुए। कविराज

हरनामदास वैद्य की भी दवा की। तीन माह में लगभग ३०) लगे पर कोई लाभ नहीं हुआ। फिर मेरी प्राकृतिक चिकित्सा की ओर रुचि बढ़ी और मैंने सोचा कि मैं तरह तरह की दवा से थक गया; अतः अब प्राकृतिक चिकित्सा करूँ। 'जीवन सखा' मँगाने लगा। उसके सम्पादक के नाम कई पत्र लिखे कि वे मुझे दवा बतावें अथवा इस रोग पर लेख लिखें। उनका उत्तर आया था कि वे कोशिश करेंगे। फिर आपके कई लेख पढ़ने को मिले, अतः आपके पास पत्र लिखने का दुस्साहस हुआ और आपसे ही अन्तिम सफलता मिली। अब मेरा दाम्पत्य जीवन ठीक से चल रहा है।

किन विचारों ने मुझे सफलता प्रदान की इस विषय में तो प्रोफेसर साहब से केवल इतना ही कहूँगा कि आपके इन दोनों पत्रों ने मुझे सफल किया उनकी कापी भेज रहा हूँ। मुझे अपार उत्साह व आशा मिली। मैं निराश हो गया था। आपके इन दोनों पत्रों की एक एक पंक्ति ने गजब जादू डाल दिया। घूमना व गंगास्नान ने भी लाभ पहुँचाया। मैं प्राकृतिक चिकित्सा की प्रणाली द्वारा कभी-कभी उपवास व एनीमा का भी प्रयोग करता हूँ। पर यदि आप बुरा न मानें तो मैं यह साफ-साफ लिखना चाहता हूँ कि मुझे लाभ हुआ आपकी इस पंक्ति से "लेखक भी इस आदत से वंचित नहीं।" मैंने सोचा कि जब आप ऐसे पुरुष भी इसमें पड़कर अच्छे हो गये तब मैं भी अच्छा हो सकता हूँ। अपनी स्त्री को साथ रखने पर भी मुझे लाभ हुआ। बच्चों को खिलाना व मिठाई बांटना तो मेरा लगभग नित्य का कार्य हो गया है। मैं कीर्त्तन का प्रेमी हूँ और संगीत सीखने की भी इच्छा रखता हूँ। अतः मेरा हारमोनियम मेरे पास है और प्रतिदिन मैं कुछ न कुछ कीर्तन करता हूँ। अगल बगल से छोटे छोटे बच्चे आते हैं और उन्हें प्रसाद बांटता हूँ। फलों का सेवन अपनी शक्ति व आर्थिक दशा के अनुसार करता हूँ। आपकी 'बालशिक्षण' व 'मानसिक चिकित्सा' बहुत पहले मँगा ली थी और बहुत सी अन्य पुस्तकें भी आपकी मिल गई हैं "अनुभव-प्रकाश" आदि। मुझे जान पड़ता है

कि प्राकृति ने मुझे स्वयं सहायता पहुँचाई है।" (इस पत्र के बहुत से ऐसे अंगों को छोड़ दिया गया है जो पढ़नेवाले के मन में कामोत्तेजना कर सकते हैं। हमारे देश के कितने हो नवयुवक श्रीहेवलाक इली स की पुस्तकें इसलिये बाँचते हैं कि उनमें कामवासना सम्बन्धी बातों को पूरे रंग रूप से चित्रित किया है। उनके ग्रन्थ वैज्ञानिक हैं, परन्तु प्रबल कल्पना के लोग उन्हें काल्पनिक आनन्द के हेतु पढ़ते हैं इससे उनका मानसिक और नैतिक ह्रास होता है)।

उपर्युक्त पत्र स्पष्ट करता है कि कामवासना का दमन उसे प्रतिगामिनी बना देता है। जब मनुष्य की विपरीत-लिंगी वासना का दमन होता है तो उसका काम भाव अपने ऊपर ही आरोपित हो जाता है। इसके कारण वह हस्तमैथुन करने लगता है। कभी कभी उसमें समलिंगी काम चेष्टायें बढ़ जाती हैं। ये दोनों अवस्थायें कामवासना के विकास की पूर्व अवस्थायें हैं। ये अवस्थायें मनुष्य के कामवासना के विकास में अपना स्थान रखतीं हैं। छोटे बच्चे में अपने आप पर कामवासना का आरोपित होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार किशोर बालक में समलिंगी प्रेम का होना भी स्वाभाविक है। परन्तु जब ये भावनायें प्रौढ़ व्यक्ति में पायी जाती हैं तो वे मानसिक विकास में रुकावट को दर्शाती हैं।

जब किसी व्यक्ति को कामवासना का दमन होता है और उसके कारण वह अपनी स्त्री से मिलने में झिझक अथवा भय करता है तो वह किसी रोग का आवाहन करने लगता है। ऐसे लोगों को क्षय, दमा आदि रोगों का सन्देह हो जाता है। इन रोगों का बहाना लेकर वह अपनी स्त्री से नहीं मिलता। जब पुरुष को अप्रिय स्त्री मिल जाती है तो उसमें नपुंसकत्त्व का भाव आ जाता है। इसी प्रकार जब स्त्री को अप्रिय पुरुष मिल जाता है तो उसकी कामवासना का दमन होता है। फिर वह बार बार रोगी रहने लगती है। कामवासना के दमन वाले व्यक्ति अपनी अथवा अपने साथी की मृत्यु चाहने लगते हैं। बार बार इस प्रकार की भावना मन में आने से आन्तरिक मन को

इच्छा पूरी हो जाती है। इस प्रसंग में एक मानसिक रोगी के निम्न-लिखित अनुभव उल्लेखनीय हैं—

"मैं देहात में पैदा हुआ हूँ। धनी नहीं परन्तु पुराना खानदानी और अब तक प्रतिष्ठित परिवार का हूँ। चार वर्ष की ही अवस्था में मेरी माताजी चल बसीं। सौतेली माँ आई वह भी दो साल बाद मर गई। तब घर में मेरे पिता और बाबा रह गये। मैं एक तेज, बुद्धिमान, सुशील और प्रतिभाशाली बालक समझा जाता रहा हूँ। मेरी प्रारंभिक शिक्षा जिस उस्ताद के हाथ रही वह बुरे चाल-चलन का था। उसकी दुष्प्रवृत्ति का मुझे भी शिकार बनना पड़ा।

चरित्र में मैं प्रारंभ से ही ऊँचा समझा जाता था। यहां तक कि लड़के मुझे अकसर संत कहते थे। पर बचपन के उस कुसंग का मानस-पटल पर अमिट रंग चढ़ गया था। लाख कोशिश करने पर भी मैं वह रंग न छुड़ा सका। जितना भी मैं अपने विचारों को रोक सकता था रोकता रहा। पर वह आन्तरिक विचार-प्रवाह अब तक न रुक सका। जिसका परिणाम यह हुआ कि जब मैं दशम-श्रेणी में था कि एकाएक मुझे स्वप्नदोष हुआ। जब सोलह वर्ष की आयु थी। तब से स्वप्नदोष मेरा एक रोज का मजबूत रोग हो गया। हाईस्कूल पास करने पर विवाह हुआ। दो माह बाद बीमार पड़ा। पन्द्रह-बीस दिन बाद मैंने एक वैद्य को दिखाया। उसने टी.बी. का शक दिला दिया। बहुत घबराया और घर आया। खूब दवा की। सभी हकीमों ने इस शक को गलत बताया पर यह शक और भी जम गया। दूसरे वर्ष प्रयाग कालेज में नाम लिखाया। बड़ी खुशी हुई। अगले वर्ष एक दुर्घटना हुई। मैं पिछले तीन-चार साल से शीर्षासन किया करता था। एक दिन जाड़े की रात में एक बजे जब मैं एक मिटिंग से आया जुकाम हो गया। सबेरे हिचकिचाते हुए भी शीर्षासन किया। ज्यों ही सिर के बल सीधा खड़ा हुआ गले में एक अजीब सी अनुभूति हुई, नाक से चार छः बूंदे खून आया। तपेदिक वाला पुराना ख्याल फिर जाग

उठा। वहाँ पर एक अच्छे हकीम की दवा की। इस खयाल को उन्होंने केवल वहम बताया। स्वप्नदोष भी होते रहे।

दूसरे साल मेरी स्त्री का स्वर्गवास हो गया। इसका मुझे दुःख तो विशेष न हुआ। कारण कि मैंने अपने को मरीज समझ रखा था। मुझे यह खुशी हुई की उससे छुटकारा हो गया।

एक दिन फिर करीब आधा औंस खून आया फिर सब काम-काज छोड़कर मरीज बन बैठा। टी.बी. का ख्याल सब तरह से पक्का हो गया। १६१६ से मरीज बन बैठा हूँ। यह तो हुई मेरी शारीरिक-बीमारी।

अब मानसिक-बीमारी सुनिये। लोग कहते हैं तुम मरीज नहीं हो; यह ध्यान छोड़ दो। पर मेरी समझ में नहीं आता कैसे यह ख्याल छोड़ दूँ। निकालने की कोशिश करता हूँ, पर भूत की तरह यह ख्याल पीछे पड़ा रहता है। जागने में रोकूँ तो सोने पर आता है। दिन में उत्साह और खुशी रहती ही नहीं। आती भी है तो थोड़ी देर, फिर गायब। वही भूत फिर आ घेरता है।

दूसरा, रोग बार बार होने वाला स्वप्नदोष है। यह काम-विकार मन में छिपा रहता है। धर्मपत्नी के स्वर्गवास के बाद दूसरा विवाह नहीं किया। विवाह क्या करता मेरे जैसे मरीज को शायद इसका अधिकार भी नहीं हो सकता। पर अपना काम-विकार नहीं रोक सकता। रात को सोने में अकसर यही विचार उठा करते हैं।

जहाँ भी मैं अब तक रहा हूँ मेरा स्थान बहुत ऊँचा और आदर्श समझा जाता है। गाँव में सबसे अधिक सम्मान मेरा ही है। सम्मान डर का नहीं प्यार का! शुरूसे सम्मान पाने के कारण जरासा भी अपमान का विचार सहन नहीं होता। यद्यपि खुलकर मुकाबला नहीं करता; मन ही मन कुढ़ा करता हूं। मेरी आयु २१ वर्ष की हो चुकी है।

स्वप्न इत्यादि की चर्चा मैं ऊपर कर ही चुका हूँ। नींद बहुत कम आती है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि जब मनुष्य के मन में

अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था रहती है तो वह किस प्रकार शक्तिहीन और रोगी हो जाता है। जो व्यक्ति अपने सामर्थ के विषय में निराश हो जाता है वह भीतरी मन से मृत्यु का आवाहन करने लगता है। यह आवाहन किसी घातक रोग में प्रगट होता है। पहले यह रोग केवल कल्पनामात्र होता है, पीछे यदि व्यक्ति की मानसिक स्थिति न बदली तो वह वास्तविक में परिणत हो जाता है। जबतक मनुष्य अपने विकास का रोग मार्ग खुला देखता है तबतक उसे बल और उत्साह की अनुभूति होती है। जब मनुष्य के मन में प्रबल आवेगों का दमन होता है और उसके मन में इसके कारण मानसिक द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है तो मनुष्य उत्साह हीन निराशावादी हो जाता है। उसका किसी काम में मन नहीं लगता। वह किसी को प्यार नहीं कर सकता। उसे रोग ही रोग सूझता है। वह छोटी छोटी बात के लिये भर्त्सना करने लगता है। किसी की आलोचना सहने को शक्ति उसमें नहीं रह जाती। वह रोगी बनकर किसी प्रकार दूसरों की कृपा का पात्र बनने की चेष्टा करता है। पर इससे भी उसके दुःख का अन्त नहीं होता।

अन्य आवेगों का दमन और मानसिक रोग

जिस प्रकार काम वासना के दमन से शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार शोक, क्रोध, ईर्ष्या, भय, आत्म-ग्लानि घृणा आदि सभी भाव दबाये जाने पर मानसिक रोगों की उत्पत्ति करते हैं। इनका दमन मनुष्य कभी वातावरण के कारण कभी आत्म प्रतिष्ठा के कारण और कभी नैतिक बुद्धि के कारण करता है। जब तक यह दूषित भाव प्रकाशित होते रहते हैं तब तक रोग की उत्पत्ति नहीं होती। जब इनका प्रकाशन रुक जाता है तब एक ओर इनकी अपने आप में उपस्थिति स्वीकार करने की अनिच्छा उत्पन्न होती है और दूसरी ओर रोगों की भी उत्पति होती है। रोग मानो मनुष्य को बाध्य करके अनुचित भावों की उपस्थिति को स्वीकार कराता है। यदि इस भावों की उपस्थिति को स्वीकार करके उन्हें बदलने का प्रयत्न

किया जाय तो मनुष्य का रोग, चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, नष्ट हो जाय।

रोग के विनाश के लिए दूषित विचारों का जानना, उन्हें चेतना की सतह पर लाना आवश्यक होता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि दूषित विचारों को उचित मान लिया जाता है। केवल उन्हें मानव स्वभाव का आवश्यक अंग माना जाता है। मानसिक रोग पुराने भावों और विचारों के परिणाम स्वरूप होते हैं। ये पुराने विचार निकृष्ट माने जा चुके हैं, अतएव इन्हीं के अनुसार फिर से आचरण करना अब स्वाभाविक नहीं है। पर यदि इन भावों के अनुसार ही आचरण किया जाय और इनकी ही चेतता में प्रबलता हो जाय तो फिर भी जब इनका अवरोध होगा तो मानसिक अथवा शारीरिक रोग अवश्य होगा। समाज और मनुष्य का स्वत्व दूषित भावों और विचारों की वृद्धि देर तक नहीं सह सकता, अतएव उनका विरोध होना तो अनिवार्य ही है। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें अपरिष्कृत अवस्था में चेतना में आने से अथवा आचरण में प्रकाशित होने से रोका जाय। इन भावों की शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है। इन भावों का बल प्रतिभावना के अभ्यास से भी कम होता है। सभी वैयक्तिक सुख की इच्छाओं को प्रतिभावना के अभ्यास से रोका जा सकता है अथवा उनकी शक्ति का शोध किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए उन इच्छाओं को उपस्थिति को स्वीकार करना नितांत आवश्यक है।

वैयक्तिक सुख की इच्छा के विचारों को, और तज्जनित क्रोध, इर्ष्या, भय, आत्म-ग्लानि, घृणा आदि विचारों को मन में ठहरने देना ही बुरा है। पर जब एक बार इनके वश में मनुष्य हो जावे तो इनके संस्कारों का विचार के द्वारा निराकरण करना आवश्यक होता है। जब इन अवांछनीय विचारों अथवा भावों का केवल दमन मात्र किया जाता है तो मनुष्य बाहर से एक प्रकार का व्यक्ति बन जाता है और भीतर से वह

दूसरे प्रकार का रहता है। ऐसी ही अवस्था में मानसिक अंतर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरूप मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक अंतर्द्वन्द्व से जब मन कमजोर हो जाता है तो कोई भी अभद्र विचार उसमें स्थान कर लेता है और फिर वह उनके प्रयत्न करने पर भी नहीं निकलता। यह अभद्र विचार वास्तव में दबी भावना का प्रतीक होता है। जब तक वह भावना प्रबल रहती है तब तक अभद्र विचार नष्ट नहीं जाता। कभी कभी इससे शारीरिक रोग भी उत्पन्न होजाते हैं।

मनुष्य के प्रबल आवेगों का दमन या तो उसकी नैतिक बुद्धि से होता है अथवा बाह्य वातावरण के कारण। जिन व्यक्तियों के मन में अनेक प्रकार के क्रोध के विचार आते हैं और उन्हें प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता वे अपना ही अनेक प्रकार का नुकसान कर डालते हैं। ऐसे लोगों का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उन्हें विषाद रोग (मेलेन्कोलिया) हो जाता है तथा वे मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं। कभी कभी ऐसे व्यक्तियों को शारीरिक रोग भी हो जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व लेखक के देखने में एक महिला आई जो रात को उठकर गाती थी। उसकी आँख में बहुत कम दिखाई देता था। उसकी आँख का आपरेशन किया गया, पर वह ठीक न हुई। इस महिला के कुछ सम्बधियों ने उसे मानसिक रोग का सन्देह किया। वह सनकी थी, अतएव लेखक को उसे देखना पड़ा। एक उसके सम्बन्धी द्वारा उसके रोग का वृत्तान्त नीचे दिया जाता है।

१. रोगिणी के एक आँख में माड़ा पड़ गया था अतः उससे देखने में असमर्थ थी। सरी आँख से स्पष्ट धुंधला दीखता था। एक बार आप्रेशन भी कराया, गया परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ।

२. वह रोगिणी रात को सोते नींद में प्रायः गीत गाती है, परन्तु दिन में जागने पर वह इसे भूल जाती है। वे गाने निम्न लिखित हैं:—

१. लड़कपन खेल में खोया, जवानी नींद भर सोया।
बुढ़ापा देखकर रोया, गुरुइया याद कर इतनी॥

२. चाहे जितनी घर में होय, गरीबो जात छिपाना ना चाहिए।
चाहे जितनी तिरिया होय पियारी, भेद बताना ना चाहिए॥

३. खिड़कियाँ खोल दो बाबू हमें गर्मी सताती है।
खिड़कियाँ ना खुले प्यारो! हवा जंगल की आती है॥

४. सुनो सखि स्याम की बातें
हमारे घर न आते हैं।
लगा कुवरी कलेजे से,
हमें जोगन बताते हैं॥

इन गीतों को पहले वह गद्य रुप में पढ़ जाती है, फिर गाती है। रामायण के कुछ अंश भी वे कहती जाती है। यद्यपि वे पढ़ी लिखी विल्कुल नहीं हैं। इसका सबेरे उठने पर उन्हें कोई ज्ञात नहीं होता। दिन में भी सोती है परन्तु तब ऐसा नहीं होता।

३. उसका गीत नोट करने की सोचकर मैं आज उनके सिर के पास खड़ी थी तो कहने लगी खड़ी क्यों हो बैठ जाओ। मैं उनकी चारपाई पर बैठ गई वे कहने लगी कि आज मुझे मालूम पड़ता है कि मानो कि मेरी माँ आगई हो। फिर कहने लगी कि तुम लोगों ने मुझे कितने प्रेम से रखा, वे लोग कहते थे कि हम तुम्हें मारेंगे। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि वह मुँह ढके हुए थी व पूर्णतः सा रही थी। इसी समय मेरे भाई उसके सिरहाने आकर खड़े हो गये। तब तो वह मुंह ढाके ही एकाएक चिल्ला उठी कि 'हट जाओ गणेश शंकर तुम क्यों आगये"। गणेश शंकर उनके भतीजे का नाम है जिससे वे बहुत चिढ़ती थी। वे उनको कष्ट भी दिया करते थे।

४. रोगिणी बाल विधवा है? इन्हें विधवा होने के कारण अत्याचार व तिरस्कार सहना पड़ा है। इनके भाई व भौजाई, बहनोई किसी ने भी साथ नहीं दिया। माता-पिता की मृत्यु हो ही चुको है। भाग्य की मारी कभी भाई के यहाँ और कभी यहां वहांठोकरें खाती रहीं। सबने उन्हें अवलेहना की ही दृष्टि से देखा। जी भर कर कष्ट दिये। वे कर हो क्या सकती थी। वहीं दिन काटती रही।

उनके गाँव में हमारी रिश्तेदारी होने के कारण भाग्यवश इनके कष्ट की सूचना हम लोगों को भी मिली। हम लोगों ने उन्हें वहाँ से अपने यहाँ बुला लिया। उस समय उनकी आँखों से बहुत कम दिखाई पड़ता था। थोड़े से दिनों के पश्चात् इनकी आँखों का इलाज शुरू हुआ और धीरे धीरे कुछ रोशनी भी आँखों की तेज हुई।

उपर्युक्त वृत्तान्त से स्पष्ट है कि रोगिणी की प्रेम को भावना का अवरोध हो गया है। विधवा होने के कारण वह पति के प्रेम से वंचित रही। फिर उसे सम्बन्धियों ने कष्ट दिया। वह इसका प्रतिकार नहीं कर सकती थी। अतएव उसका क्रोध अपने ऊपर हो आरोपित हो गया। वह सनकी और अन्धी हो गई। अपनी सुप्रावस्था में वह अपनी इच्छा की पूर्ति होते देखती थी।

रोगिणी—साधारण जोवन में वह बड़ी सदाचारिणी सुशील और आज्ञाकारी है। पर उसकी सुशीलता के पीछे क्रोध छिपा हुआ है अतएव उसके मन में दो भाग हो गये हैं। प्रेम का भूखा तथा अपमान का अनुभव करनेवाला भाग उसकी अचेतनावस्था में प्रकाशित हो जाता है। उसे अपने अप्रिय सम्बन्धियों के घर अपनी इच्छा के प्रतिकूल रहना पड़ता था। वह उनको उन्नति नहीं देख सकती थी अतएव वह स्वयं अन्धी हो गई। प्रबल ध्वंसात्मक आवेगों के दमन का यही परिणाम होता है। जब इस महिला के जीवन में प्रेम का श्रोत बहने लगा, जब उसे सहानुभूति से रखा जाने लगा तब उसे थोड़ा थोड़ा दिखाई भी देने लगा। इस प्रकार भावनाओं के परिवर्तन से मानसिक रोग में सुधार भो हो जाता है।

प्रेम भाव और मानसिक रोग

मानसिक रोगों की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण व्यक्ति के जीवन में प्रेम की कमी है। प्रेम की कमी के कारण ही मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की मानसिक-ग्रंथियाँ उत्पन्न होती हैं और मानसिक विषमता आती है। प्रेम की कमी ही आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि

को जन्म देती है। मनुष्य में किसी प्रकार की एकांगिता अथवा झक्कीपन का कारण प्रेम की कमी ही होता है। यह प्रेम की कमी बचपन में या युवावस्था में अथवा हो सकती है। बचपन की प्रेम की कमी आत्महीनता की भावना उत्पन्न करती है, जिसके कारण मनष्य में ईर्ष्या, स्वार्थपरायणता और असाधारण अभिमान उत्पन्न होते हैं। इस कमी के कारण मनुष्य स्वभावतः ऐसे कार्यों की ओर प्रेरित होता है, जिससे वह अपनी ओर समाज का ध्यान किसी न किसी प्रकार आकर्षिति कर सके। अत्यधिक धन कमाना, बड़े नेता बने रहना, विद्या में सर्वप्रथम बन जाने की इच्छा रखना, प्रतिवर्ष नई उपाधियों और डिग्रियों के पीछे पड़े रहना—ये सभी बातें मनुष्य में आत्महीनता की मानसिक-ग्रन्थि की उपस्थिति दर्शाती हैं। इसका कि कारण प्रायः बचपन में प्रेम की कमी होता है। अधिनायकवाद की मनोवृति भी इसी से उत्पन्न होती है। जब तक किसी मनुष्य की चेष्टायें विशेष सीमा के भीतर रहती हैं हम उसे स्वस्थ व्यक्ति कहते हैं। जब ये सीमा के बाहर चली जाती हैं तो हम उसे विक्षिप्त कहने लगते हैं। जहाँ तक मनष्य वातावरण की कठिनाइयों के पार करने में सफल होने जाता है वहाँ तक उसका कार्य रचनात्मक होता है। वह अपने आपको नहीं भूलता पर जब उसकी इच्छायें अति प्रबल हो जाती हैं और उनकी पूर्ति होने की आशा दिखलाई नहीं देती तो वह कल्पना के जगत में विचरण करने लगता है। जब मनुष्य कल्पना को ही सत्य मानने लगे तो उसे पागल कहने लगते हैं। पर पागल और सामान्य व्यक्तियों की आत्महीनता की भावना में समानता रहती है। सफल आत्महीनता की ग्रन्थि का प्रकाशन मनुष्य को अनेक प्रकार से जगत के सामने लाता है और उसे महानता की पदवी दिलाता है; असफल आत्महीनता की ग्रन्थि का प्रकाशन उसे काल्पनिक जगत में विचरण करने के लिये बाध्य करता और इस प्रकार उसे पागलखाने का निवासी बना देता है।

जिस प्रकार बचपन की प्रेम की कमी विशेष प्रकार की मानसिक

ग्रन्थि को उत्पन्न करती है इसी प्रकार प्रौढ़ावस्था की प्रेम की कमी भी विशेष प्रकार की मानसिक-ग्रन्थि को उत्पन्न करती है। यदि स्त्री-पुरुष में प्रेम की कमी हुई और वे इस कमी को प्रकाशित न कर सकें तो आपस में सन्देह की भावना उत्पन्न हो जाती है। स्त्री कहती है कि पति उसे जहर देना चाहता है। कभी कभी स्त्री अकारण अपने पति पर दोषारोपण लगाती है। जो प्रेम की कमी अपने आपमें रहती है उसी कमी को वह अपने पति में देखती है। बढ़ापे में प्रेम की कमी होने पर मनुष्य को पैसा कमाने की झक उत्पन्न हो जाती है। कभी कभी उसे पढ़ने लिखने का ही व्यसन उत्पन्न हो जाता है।

जिस व्यक्ति के आसपास प्रेम का वातावरण नहीं होता वह स्वयं भी दूसरों को प्यार करने की योग्यता प्राप्त नहीं करता। प्रकृति का यह नियम अटल सत्य है कि दूसरे को कोई व्यक्ति वही दे सकता है जो स्वयं उसने दूसरों से पाया हो। इसी प्रकार कोई व्यक्ति जो कुछ दूसरों को देता है दूसरों से भी वह वही पाता है। बचपन में बालक में स्वतः निर्णय करने की शक्ति नहीं रहती, अतएव उसमें प्रेम देने की योग्यता भी नहीं रहती। इस काल में तो दूसरों पर ही यह दायित्व आती है कि वे उनका जीवन प्रेम से वंचित न करें। आगे चलकर प्रौढ़ व्यक्ति पर अपने आपको बनाने और बिगाड़ने की जिम्मेदारी आ जाती है। यदि कोई मनुष्य दूसरों की सेवा करता है तो वह दूसरों से भी सेवा ही प्राप्त करेगा। प्रेम का बदला प्रेम से मिलता है और घृणा का घृणा से। घृणामय जीवन रोगों का कारण होता है और प्रेममय-जीवन स्वास्थ्य का।

प्रेम भाव के विभिन्न परिणाम

एक ही व्यक्ति के आसपास प्रेमाभाव के कारण जिस प्रकार मानसिक रोगों का वातावरण उत्पन्न हो जाता है इसका सुन्दर उदाहरण लेखक ने हालही में एक विद्वान मित्र के जीवन में पाया। ये मित्र एक प्रतिष्ठित-विद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान अध्यापक हैं।

आप एक भारी दार्शनिक खोज में इस समय लगे हुए हैं। लेखक का उनसे अनायास मिलन हुआ।

मानसिक रोगों के उपचार में रुचि रखनेवाला व्यक्ति जानकर उन्होंने अपने एक मित्र की पत्नी के रोग की निम्नलिखित वृतांत कह सुनाया—

मित्र की पत्नी को यह झक सवार है कि उसका पति उसे जहर देने का सदा प्रयत्न करता रहता है। पहले तो वह समझती थी कि उसके भोजन में संखिया आदि मिला दिया गया है। पर अब उसकी धारणा हो गई है कि उन धीरे धीरे जहर देकर मारा जा रहा है। यह महिला अपने पति के विरुद्ध पुलिस में कई बार जहर देने की सूचना भी दे चुकी है, जिसके कारण पति को पर्याप्त परेशानी उठानी पड़ी है। अभी चार माह पहले की बात है कि उक्त व्यक्ति अपने मित्र के घर डेढ़ साल के बाद गये। वे इस बात पर खुशी थे कि उनकी स्त्री ने इस बीच अपने संदेह से परेशान नहीं किया था। उन्होंने कहा कि जान पड़ता है कि उनकी स्त्री का रोग अब जाता रहा। इतना वे कह ही रहे थे कि एक पुलिस का सिपाही उनके पास एक नोटिस लेकर आया जिसमें उन्हें थाने पर बुलाया गया था। मित्र इस नोटिस को देखकर हैरान हो गये। उन्हें तुरन्त संदेह हुआ कि उनकी स्त्री ने फिर से उसे जहर देने की खबर पुलिस को दी है। बात ऐसी ही निकली। इसके बाद उन्होंने अपने भाई का भी किस्सा सुनाया। इस भाई को भी एक प्रकार के पागलपन का रोग है। जब इस रोग का दौरान होता है तो वही जल्दी जल्दी अनेक प्रकार की बातें करते रहता है, वह राजनैतिक विषय पर ऐसी बातें करता है मानो वे पूरी युक्ति संगत हों। उदाहरणार्थ उसे महात्माँ गान्धी की मृत्यु पर इस रोग का दौड़ान होगया। अब वह कहने लगा कि लार्ड माऊन्टरबेटन ने ही महात्माँ गान्धी की हत्या कराई है। इसपर वह अनेक प्रकार के प्रमाण देता था। केवल उसके भाई को छोड़ दूसरे लोग यह नहीं समझ पाते थे कि उसका इस प्रकार कथन एक विक्षिप्त अवस्था का प्रलाप मात्र है। इस व्यक्ति का कभी कभी अपनी स्त्री से झगड़ा हो जाया

करता है। इस झगड़े के होने पर उसे पागलपन का दौरान भी हो जाता है। इस रोग के प्रारम्भ होने के बारे में बताया गया कि आज से दस वर्ष पूर्व एक बार इसने एक क्रान्तिकारी को अपने घर में ठहरा लिया था। पीछे वह पकड़ा गया। पकड़े जाने पर उसने अपने ठहरने का स्थान भी बता दिया। इस पर इसको भी अकारण ही एक साल की सजा हो गई। कैदखाने में ही पहले इसे बीमारी का आरम्भ हुआ। पीछे यह बीमारी बार बार होने लगी। कभी कभी अपनी स्त्री से झगड़ा हो जाने पर वह पागल होने का ढोंग मात्र रचता, पर पीछे यह स्थिति वास्तविक पागलपन की बन जाती।

इस कथा के बाद उक्त विद्वान मित्र ने अपने बच्चों की शिक्षा के विषय में कुछ चर्चा की और उनकी आदतों को सुधारने का उपाय पूछा। उनका कथन है कि मैं अपने बच्चों की शिक्षा की बड़ी परवाह करता हूँ और स्वयं उन्हें पढ़ाता भी हूँ। पर मेरे बालक पढ़ाई में उतनी उन्नति नहीं दिखाते जितनी उन्हें दिखाना चाहिए। फिर वे अपनी इस किशोरा अवस्था में उन बुरी आदतों में पड़ गये हैं जो स्वयं उन्हें इस काल में थीं। बच्चे दो हैं। एक की उम्र १ [illegible] साल की है दूसरे की १३ साल की। बच्चों की माँ ७ या ८ वर्ष पूर्व मर गई। मित्र ने दूसरी शादी नहीं की। बड़ा बच्चा कुछ अधिक उद्दंड भी है। उसे गणित में इस समय कठिनाई हो गई है। ६ से आगे पहाड़े उसे याद नहीं होते। ठीक इसी प्रकार उक्त मित्र को भी ६ के आगे पहाड़े याद नहीं होते थे, अतएव उन्हें गणित छोड़ देनी पड़ी थी। लेखक ने इस मित्र को आश्वासन दिया कि ये बच्चे सुधर सकते हैं और कुछ पुस्तकों को बताया जिनमें बालकों को उचित शिक्षा के विषय में चर्चा की गई है।

कुछ देर के बाद इस मित्र को कुछ विश्वास हुआ कि मानसिक रोगों का उचित उपचार सम्भवतः लेखक की सलाह मानने से हो सकता है। उसने फिर अपनी ही एक बिमारी की चर्चा की। इस मित्र को रात में बारबार पेशाब जाने का रोग है। पहले तो वह इसे साधारण

आदत मात्र समझता था पर पीछे उसे सन्देह हुआ कि वह एक प्रकार का रोग ही है। इस विषय में उसने साधारण डाक्टरों से परामर्श किया, पर उन्होंने उसके शरीर में कोई रोग न पाया। उसे पहले मधुमेह का सन्देह हुआ पर डाक्टरों के कहने पर कि यह रोग नहीं है मन में कल्पना आई कि सम्भवतः उसे मानसिक रोग ही हो।

रात के पेशाब के बारे में एक अद्भुत बात यह है कि यदि यह मित्र रोटी खाकर तुरन्त ही सो जावें तो रात में एक ही बार पेशाब के लिए उठना पड़ता है, परन्तु यदि वे एक घंटे पहले भोजन करें, जैसा कि स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से आवश्यक है, तो उन्हें रात भर परेशानी रहती है, बार बार पेशाब के लिए उठना पड़ता है और इसको कारण उनकी नींद भी पूरी नहीं होने पाती। अतएव उन्होंने अपने रात्रि के भोजन के विषय में नियम बना लिया है कि भोजन करने के बाद वे तुरन्त सो जायँ और जब तक उनको खाने की इच्छा न हो तब तक भोजन ही न करें चाहे, आधी रात ही क्यों न हो जाय।

इस मित्र के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उन्हें संस्कृत की पुस्तकों के अध्ययन की एक प्रकार भी भकत हो गई है। इनकी अवस्था अड़तालीस वर्ष की हो गई है पर अब भी वे एक नई उपाधि के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनके सिर के सब बाल सफेद हो गये हैं। वे बात चीत जल्दी जल्दी करते हैं। उन्हें हर समय जल्दी लगी रहती है। यह उनके स्वभाव का अंग बन गया है। यह जल्दी मनुष्य के जीवन का अंत भी जल्दी कर देती है। इनके जीवन के ऊपर विचार करने से पता चला कि उनका आन्तरिक जीवन दुखी है, उनकी कामवासना तृप्त नहीं हुई और वे स्त्री के वांछित हो गये। समाज में प्रतिष्ठा के कारण वे अपने आप को सभाँल कर रखे हुए हैं। पर यह वासना उन्हें तंग अवश्य करती है। अपनी इस आन्तरिक कमी की पूर्ति के लिए ही उन्हों ने एक नया व्यवसाय खोज लिया है। वे पुस्तक अध्ययन में ही अपने आपको लगाये रखते हैं। पुस्तक अध्ययन में लगे रहना संसार से विमुख हो जाने का प्रतीक है।

पुस्तक अध्ययन में लगकर मनुष्य संसार की वास्तविकता के प्रति उदासीन हो जाता है। इस प्रकार की चेष्टा से उसका सांसारिक जीवन, पारिवारिक और सामाजिक दुखमय हो जाता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के मानसिक रोगियों के उदाहरण में सभी जगह एक ही बात दिखाई देती है—प्रेम की कमी। उक्त स्त्री अपने पति को संदेह की दृष्टि से देखती है; वास्तव में कुछ वर्ष पूर्व इस स्त्री को अपने पति पर किसी दूसरी स्त्री के प्रेम में फँस जाने का संदेह था। इस संदेह के लिए पर्याप्त कारण भी था। संभव है कि उस समय उक्त महिला के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें अपने पति के प्रति आई हों अब यह महिला उन कल्पनाओं को भूल गई; उसकी नैतिक बुद्धि ने उनका दमन कर दिया। पर वे अब उसके मन में जहर दिये जाने को झक के रूप में निकल रही हैं। महिला का सामान्य व्यवहार बड़ा सौजन्यता पूर्ण है और उक्त झक के अतिरिक्त उसके व्यवहार में किसी प्रकार की असाधारणता नहीं पाई जाती। इसका अर्थ यह है कि महिला के क्रोध को प्रकाशन का कोई मार्ग नहीं मिला। ऊपर के वह जितनी शीलवान् बनती गई, भीतर से उसके मन में उतनी ही कटुता आती गई। उसके हृदय का जहर अब उसकी चेतना के विरुद्ध मानसिक रोग के रूप में निकल रहा है। किसी मनुष्य के प्रति जहर देने का अकारण संदेह मनमें आना दबे क्रोध के भावों का परिणाम होता है। महिला के मन में पति के प्रति प्रेम नहीं है। इस प्रेमाभाव को यह अपनी साधारण चेतना में प्रकाशित नहीं कर पाती। अतएव वह इसे अपनी विक्षिप्त अवस्था से प्रकाशित करती है। संभव है कि स्वयं इस महिला का प्रेम किसी दूसरे व्यक्ति से हो और अपने प्रेम का नैतिक आधार खोजने के लिये उसका मन अपने पति पर जहर देने की कल्पना करता हो। अर्थात् इस प्रकार की प्रतिक्रिया आपने भावों का दूसरे पर आरोपण मात्र ही हो। यदि इस महिला से आत्मस्वीकृति करा कर उसके मन में अपने पति के वास्तविक प्रेम को उत्पन्न कर

दिया जाय। तो एक ओर इस महिला का व्यवहार उतना सौजन्य-तापूर्ण न रहेगा जितना अभी है किन्तु उसकी झक नष्ट हो जावेगी। पर वह अपने मन के दबे भावों को कैसे खोले, यह एक भारी समस्या है। यह उसी व्यक्ति के सामने अपने सभी दुःखों को प्रकाशित कर सकती है जो उसका निकट आत्मीय हो।

लेखक के मित्र के भाई का जीवन भी प्रेम-विहीन है। इसलिये ही उसे पागलपन के रोग का दौरान हो जाता है। जब मनुष्य का जीवन प्रेम विहीन हो जाता है तो वह संसार से भागने की चेष्टा करता है। पर जब वह देखता है कि वह संसार से भाग नहीं सकता तो वह किसी नशे अथवा व्यसन की शरण लेता है। पर जब पारिवारिक परंपरा के कारण यह भी संभव नहीं होता तो वह विक्षिप्तता की शरण लेता है। संसार में कष्ट मिलने पर अथवा निराशा आ जाने पर कितने ही लोग पहले साधु हो जाया करते थे। अब इस ओर लोगों की रुचि कम हो गई है। अतएव अब या तो वे नशाखोरी और व्यभिचार की ओर जाते हैं अथवा विक्षिप्त हो जाते हैं। ये सभी संसार से भागने के मार्ग हैं। लेखक के मित्र के भाई को संभवतः जीवन में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी मित्र को मिली। फिर स्त्री भी झगड़ालू मिल गई। ऐसी अवस्था में पागलपन के अतिरिक्त दूसरी कौन सी बात में मनुष्य आवे। पागलपन अपने आपको भुलाने का एक उपाय है। जिस व्यक्ति का सामाजिक-जीवन दुःखी होता है वही पागल होता है।

जो बात मित्र के भाई के जीवन में असाधारणता का कारण है वही उनके लड़कों के जीवन में असाधारणता का कारण है। बेचारे बच्चों की मा तो पहले ही मर चुकी थी। उन्हें माँ का पर्याप्त प्रेम नहीं मिला। पिता विद्या के व्यसन में पड़े हुए हैं। वे यदि थोड़ा भी समय अपने बालकों की सेवा में देते हैं तो समझते हैं कि उन्होंने बहुत सा समय दे डाला। बच्चों की साधारण इच्छायें संभवतः पूरी नहीं होतीं। ये मित्र नैतिक विचारों में बड़े कट्टर दिखाई देते हैं,

अतएव बालकों की छोटी छोटी सी भूलों को भारी भूल मान लेते हैं। फिर वे प्रतिष्ठित विद्वान हैं। वे चाहते हैं कि उनके बालक भी शीघ्रातिशीघ्र उतने ही विद्वान बन जाँय। पर मनोविज्ञान का नियम है कि बाल-शिक्षा में किसी बात के लिये जल्दी करने से बात बिगड़ती है, बनती नहीं। बालक अपना ही समय नई बात को सीखने में लेता है। जब उसे यह समय नहीं मिलता तो उसकी बुद्धि का ठीक तरह से विकास नहीं होता। बालक को अपनी भूलों के लिये बार बार डाँटना भी उसकी मानसिक स्थिति को जटिल बना देना है। उसका जीवन इस प्रकार बोझ रूप होता है। वह इस बोझ को उतारने के लिये ही अनेक प्रकार के व्यसनों में पड़ जाता है। बालकों में नशा करने, काम-क्रीड़ा करने आदि के दुर्व्यसन इसी कारण उत्पन्न होते हैं। आन्तरिक मन से दुःखी बालक ही अपने आप में इस ओर प्रबल प्रेरणा पाता है।

बालकों का जीवन प्रेम-विहीन है यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि पहले तो उनकी माँ जीवित नहीं है जो उनकी हृदय की भूख को तृप्त करती, फिर पिता भी उनसे विमुख हो गया। उसको सदा पढ़ने लिखने की धुन सवार रहती है। वह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने में ही लगा रहता है। उसे बालकों की छोटी छोटी बातों को देखने और उनके छोटे छोटे कामों के लिये उन्हें प्रोत्साहन देने की फुरसत ही कहाँ है। वह यदि उन्हें किसी दृष्टि से देखना चाहता है तो विद्या की दृष्टि से। यदि वे विद्वान् हो गये तो वे पिता की दृष्टि में अपने आपको योग्य सिद्ध करेंगे, नहीं तो निकम्मे गिने जायँगे। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये बालक पिता की ख्याति के साधन-मात्र बनाये जा रहे हैं। बालक का हृदय चाहता है उसे कोई अपने लिये ही प्यार करे — उसकी विद्या, धन, रूप सब बातों को अलग रखकर। ऐसा प्यार बालक को माँ ही दे सकती है। पिता में साधारणतः इस प्यार को देने की क्षमता नहीं होती। विरला ही पिता बालक की माता मर जाने पर पिता और माता दोनों का स्थान ग्रहण

करता है। प्रेम-हीन वातावरण में यदि बालकों का समुचित मानसिक-विकास न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। जब तक पिता को विद्या का व्यसन लगा है, बालकों के व्यवहार में सुधार होना कठिन है। बालक का हृदय यह नहीं चाहता कि पिता किसी दूसरी बात को उतना प्यार करे जितना वह उसे करता है। जब बालक देखता है कि उसे पिता का संपूर्ण प्रेम नहीं मिलता तो वह रोगी हो जाता है। किसी प्रकार कई बुरी आदतें लग जाना, पढ़ाई में पिछड़ना आदि बालक के एक प्रकार के मानसिक रोग ही हैं।

जिस प्रकार प्रेम का अभाव बालकों के मानसिक रोग का कारण है उसी प्रकार प्रेमाभाव ही मित्र के मानसिक रोग का कारण है। इस समय मित्र उन वस्तुओं को प्रेम नहीं कर रहे हैं जो जीवन में रस देती हैं। उनका जीवन शुष्क तार्किक का जीवन है। वे विद्वान बन जाना ही अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान बैठे हैं। उनकी कामवासना का दमन हुआ पर उसका शोध नहीं हुआ। विद्याध्ययन में लग जाने से उनकी कामवासना को प्रकाशन का ऐसा मार्ग नहीं मिला जिससे वे कोई निंद्य कार्य करें, पर साथ ही साथ उनकी भावनाओं का उचित उपयोग भी नहीं हुआ। बुद्धिजीवी लोगों में प्रायः भावों का दमन होता है। पर जो व्यक्ति सभी समय अध्ययन-अध्यापन में लगा रहे उसके हृदय का विकास नहीं हो पाता। बालकों का प्रेम, समाज सेवा का भाव, रोगियों से सहानुभूति आदि बातें मनुष्य की कामवासना का शोध करती हैं। जब इस वासना का उक्त कार्यों में शोध नहीं होता तो वह किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न कर देती है। अर्थात् अवरुद्ध वासना मानसिक-विकार के रूप में परिणत होती है। बार-बार पेशाब जाना, बार बार रति करने की इच्छा का प्रतीक है। इस इच्छा का दमन एक ओर हृदय की शान्ति को भंग करता है और दूसरी ओर किसी सांकेतिक रूप में प्रकट होता है। जब तक ये सज्जन अपना सारा समय विद्या-अध्ययन में ही लगाते रहेंगे तब तक उन्हें न तो शारीरिक रोगों से

छुटकारा मिलेगा और न उनके बालकों के आचरण में विशेष सुधार होगा। वे इस समय डाक्टरेट की थीसिस तैयार कर रहे हैं। लेखक से इलाज पूछने पर लेखक ने उन्हें बताया कि 'डाक्टरेट' कर लेने पर उनका रोग बहुत कुछ अपने आप ही अच्छा हो जावेगा और उनके बालकों के आचरण में भी सुधार होगा। इस प्रकार का आश्वासन इसी भित्ति पर दिया गया है कि इस उपाधि के पाने के पश्चात् उनकी आत्महीनता की ग्रन्थि जो उन्हें नई उपाधि प्राप्त करने की प्रेरणा दे रही है, बहुत कुछ सुलझ जायगी और फिर वे अपने आप पर और अपने परिश्रम पर अधिक ध्यान दे सकेंगे।

किसी भी प्रकार का रोग इसलिये उत्पन्न होता है कि मनुष्य उस ओर अपना ध्यान नहीं देता मनुष्य से संबंध रखने वाले किसी स्थल की अवहेलना होने पर उस स्थल में गड़बड़ी मच जाती है। यदि शरीर पर ध्यान न दिया जाय तो शरीर में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। यदि हृदय की ओर अधिक ध्यान दिया जाय तो मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है और यदि परिवार की ओर अधिक ध्यान न दिया जाय तो परिवार में भी गड़बड़ मच जाती है। कोई वस्तु तभी तक ठीक रहती है जब तक कि हम उसकी ओर ध्यान देते हैं। अर्थात् जब तक हम उसे प्यार की चीज बनाये रखते हैं। जब धन से प्यार नहीं किया जाता तो धन चला जाता है, जब विद्या से प्यार नहीं किया जाता तो विद्या चली जाती है। जब परिवार के लोगों से स्त्री अथवा बच्चों से प्यार नहीं किया जाता तो परिवार में कलह उत्पन्न हो जाती है। स्त्री रोगिणी हो जाती है, बच्चों की आदतें बिगड़ जाती हैं और वे विद्याअध्ययन में पिछड़ने लगते हैं। जब अपने आप पर ध्यान नहीं दिया जाता तो शारीरिक अथवा मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार की गड़बड़ में हमें अपना ध्यान गड़बड़ की ओर ले जाना चाहिये। जो मनुष्य स्वस्थ रहते हुए अपने शरीर की परवाह नहीं करता उसे रोगी होकर उसकी परवाह करनी पड़ती है। जो व्यक्ति अपने बालकों की परवाह उस समय

नहीं करता जब कि वे अपना काम ठीक से करते रहते हैं उसे उनकी परवाह उनमें अनेक बुराइयाँ आ जाने पर करनी पड़ती है। जो व्यक्ति अपनी स्त्री की परवाह उसके स्वस्थ रहते हुए नहीं करता वह उसके रोगी होने पर उसकी सदा चिन्ता करते रहता है। संभव है पिछले एक उदाहरण में महिला के मानसिक रोग का कारण उसके पति द्वारा उसको अवहेलना है जो इस समय भी वर्तमान है। अपने आप आरोग्यवान होने के लिये तथा अपने वातावरण को स्वस्थ बनाने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपना जीवन एकांगी न बनावें। जहाँ जितना ध्यान देने की आवश्यकता है वहाँ उतना ध्यान दें। बौद्धिक व्यवसाय में लगे हुए लोगों की हृदय की भूख तृप्त नहीं होती। यह भूख अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण बन जाती है। बुद्धि में अत्यधिक बढ़ जाना स्वयं मानसिक रोग है। इसके कारण मनुष्य का अभिमान बेहद बढ़ जाता है। इस अभिमान के कारण मनुष्य को आन्तरिक शान्ति नहीं मिलती। वह हर समय किसी दिमागी खुराफात में लगा ही रहता है। उसका चेहरा शान्त रहते हुए भी भीतर से उसका मन उद्विग्न अवस्था में रहता है। ऐसा व्यक्ति कोई काम धीरज से नहीं कर पाता। बार बार पेशाब का रोग इस मानसिक उद्विग्नता का प्रतीक है। जिस व्यक्ति का जीवन विषमावस्था में है उसके प्राकृतिक कार्य भी विषम हो जाते हैं। प्राकृतिक कार्यों की विषमता मानसिक विषमता की लक्षण मात्र है। यदि मनुष्य अपने आन्तरिक जीवन को सुधारले तो उसकी शारीरिक विषमता अर्थात् रोग भी नष्ट हो जाय। यह सुधार अपने हृदय का सुधार है। जब मनुष्य अपनी बौद्धिक उन्नति को आध्यात्मिक विकास अर्थात् प्रेम-विकास का साधन मात्र मानता है तो वह स्वस्थ रहता है। जब आध्यात्मिक विकास के अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार की उन्नति स्वतः लक्ष्य हो जाती है तो मन की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और रोग का आगमन हो जाता है।

पर कार्बन डाइ-आक्साइड, हाइड्रोजन क्लोराइड, नाइट्रस् आक्साइड और अन्य गैसो को द्रवीभूत किया था। हाइड्रोजन, आक्सिजन और नाइट्रोजन सदृश गैसो को वे इस विधि से द्रवीभूत न कर सके। अतः ये गैसे 'स्थायी गैस' क नाम से पुकारी जाने लगी।

पिके और कैलेटे ने अधिक दबाव और अधिक ठण्ढक से स्थायी गैस कहाने वाली गैसो को द्रवीभूत किया। पिके की विधि वही थी जिसे फैरडे ने प्रयुक्त किया था, अन्तर केवल यही था कि पिके के पास ऐसे यन्त्र और साधन उपस्थित थे जिन से बहुत अधिक दबाव और बहुत अधिक ठण्ढक प्राप्त हो सकता था। आक्सिजन को द्रवीभूत करने के लिये उन्होने मज़बूत पिटवा लोहे के रिटार्ट का, जिस मे एक लम्बा, बडी मज़बूत, पतले छिद्र की क्षैतिज ताम्र नली लगी हुई थी, प्रयोग किया था। इस ताम्र नली के दूर छोरे मे दबावमापक लगा हुआ था जिस मे ८०० तक वायुमण्डल का दबाव सूचित हो सकता था। इस नली को एक चौडी नली मे ठण्ढा करते थे जिसमे -१२०° श से -१४०° श तापक्रम पर द्रव कार्बन डाइ-आक्साइड की अविरत धारा को प्रवाहित करने के लिये आठ अश्व बल के दो दो इजन काम कर रहे थे। पोटासियम क्लोरेट के गरम करने से निकला हुआ आक्सिजन का दबाव रिटार्ट और नली मे शीघ्र ही बढ गया और इस प्रकार आक्सिजन दबाव और ठण्ढक से द्रवीभूत होगया।

कैलेटे ने जो विधि प्रयुक्त की थी उस मे उच्च दबाव शुद्ध यांत्रिक साधन से प्राप्त होता था। इस प्रकार कैलेटे ने अधिक दबाव और अधिक ठण्ढक से अनेक गैसो को द्रवीभूत किया था। आज कल लिण्डे की मशीन से द्रव वायु प्राप्त होती है। इस यन्त्र और इस यन्त्र के सिद्धान्त का वर्णन आने वाले प्रकरणो मे होगा।

तापक्रम और दबाव का संयुक्त प्रभाव।

यदि तापक्रम स्थिर हो तो बायल के नियम के अनुसार

(१) $\frac{आ_०}{आ_१} = \frac{द_१}{द_०}$ समीकरण प्राप्त होता है।

बन गया है। वे यदि किसी रोगी को देखने जाते हैं अथवा किसी रोगी की करुण कहानी सुनते हैं तो उस रोग की कल्पना वे अपने आप में करने लगते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उन्हें भी वह रोग हो जाता है। किसी भी प्रकार की प्रबल कल्पना आचरण में तथा शारीरिक परिवर्तनों में सफल होती है। यदि किसी कल्पना को किसी विरोधी विचार के द्वारा रोका न जाय तो वह अवश्य ही अपने अनरूप शारीरिक परिवर्तन तथा आचरण में परिवर्तन कर डालती है। हमारे मन में अनेक भली व बुरी कल्पना में सदा उठा करती हैं। हम अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा इन कल्पनाओं को मन से सदा हटाते रहते हैं इस कारण वे फलित नहीं होते। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है तो कल्पनाओं का मन से हटाना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में कल्पनायें अपने अनरूप वातावरण का निर्माण कर डालती हैं अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न कर देती हैं।

लेखक का एक मित्र हाल ही में अपने एक सम्बन्धी को कुशल पूछने एक अस्पताल में गया। इस मित्र को हृदय का रोग पहले ही से था और उस सम्बन्धी को भी हृदय का रोग था। इस सम्बन्धी ने उससे कहा कि मुझे कुछ दिन पहले से रीढ़ की हड्डी में दर्द हो गया है। इस बात को सुनने के पश्चात् उसी दिन उक्त मित्र को भी रीढ़ की हड्डी में दर्द होने लगा। इन्हें हृदय का रोग भी प्रारम्भ हुआ था उन्होंने अपने एक मित्र के हृदय के रोग की सुनी तो उन्हें भी हृदय के रोग को कल्पना हो गई। यह कल्पना वास्ताविक रूप में परिणत हो गई। उन्होंने जितना ही इस कल्पना को मन से निकालने के चेष्टा की वह कल्पना और भी प्रबल हो गई। जिस प्रकार हृदय के रोग बाध्य विचार के रूप में पीड़ा देता रहता है इसी प्रकार क्षय रोग से रोग के विचार भी कितने ही व्यक्तियों को बाध्य विचार के रूप में पीड़ित करते रहते हैं। वे जितना ही इन विचारों को मन से निकालने की चेष्टा करते हैं वह उतना ही प्रबल होता जाता है। अकस्मात् मृत्यु का विचार भी अनेक लोगों को इसी

गैसों का घनत्व। गैसो के एकांक आयतन की तौल को उनका घनत्व कहते है। घनत्व के लिये एक लिटर का आयतन बहुत सुविधाजनक समझा जाता है। भिन्न भिन्न गैसो का घनत्व भिन्न भिन्न होता है। हाइड्रोजन सब से हलकी गैस है अत· गैसो का आपेक्षिक घनत्व मालूम करने के लिये हाइड्रोजन का घनत्व एकांक माना जाता है। किसी गैस के किसी विशिष्ट आयतन की तौल को हाइड्रोजन के उसी आयतन की तौल से भाग देने से जो अङ्क प्राप्त होता है वही उस गैस का आपेक्षिक घनत्व होता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न गैसो के किसी विशिष्ट आयतन के तौलने और इस तौल को हाइड्रोजन के उसी आयतन की तौल से भाग देने से उस गैस का आपेक्षिक घनत्व मालूम हो जाता है। चूंकि गैसे दबाव और तापक्रम से बढती और घटती है अत उनका आयतन किसी विशिष्ट तापक्रम और दबाव पर ही मापा जाता अथवा गणना के द्वारा किसी विशिष्ट तापक्रम और दबाव के आयतन मे परिणत किया जाता है। साधारणत गैसे ०° श और समुद्र तल पर वायुमण्डल के दबाव पर जो पारे के स्तम्भ को ७६० मम ऊँचा उठाता है मापी जाती है। इस ०° श तापक्रम और ७६० मम दबाव को **प्रमाण** तापक्रम और **प्रमाण** दबाव कहते है। प्रमाण तापक्रम और प्रमाण दबाव पर हाइड्रोजन के एक लिटर की तौल ० ०६ ग्राम होती है। प्रमाण तापक्रम और प्रमाण दबाव पर वायु के एक लिटर की तौल १ २६३ ग्राम होती है। कार्बन डाइ-आक्साइड क एक लिटर की तौल २ ग्राम होती है। कभी कभी गैसो के घनत्व की तुलना वायु के घनत्व से की जाती है।

गैसों का व्यापन। हाइड्रोजन सब से हलकी गैस है। वायु इस से प्राय. १४ गुनी भारी होती है। यदि एक जार को हाइड्रोजन से भर कर और दूसरे जार को वायु से भर कर हाइड्रोजन वाले जार को वायु वाले जार पर औंधा दे तो कुछ समय के बाद परीक्षा से मालूम होगा कि हलका होने पर भी हाइड्रोजन ऊपर के जार से नीचे के जार मे चला आया है और वायु भारी होने पर भी गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध

को बढ़ाने के लिए उसमें दो माप और बल बढ़ा दिया जाय तो अपने आप ही कल्पना का बल उसके वर्ग के बराबर बढ़ जावेगा। अर्थात् अब इच्छा शक्ति का बल २+२=४ हुआ तो कल्पना का बल ३+ ४=७ हो जावेगा। इसी प्रकार यदि माप इच्छा शक्ति का बल बढ़ाया गया तो कल्पना का बल ३X =९ के हो जावेगा अर्थात् जहाँ इच्छा शक्ति का बल कुल २+३= माप ही होगा वहाँ कल्पना का बल ३+९ = १२ माप हो जावेगा। इससे यह स्पष्ट है कि अपनी कल्पना से लड़ना निरी मूर्खता है। इस युद्ध में इच्छा शक्ति की निश्चय ही हार होती है।

संघर्ष का परिणाम

जब इच्छा और कल्पना में संघर्ष की अवस्था रहती है तो मनुष्य के शुभ विचार व्यर्थ हो जाते हैं और अशुभ विचार ही फलित होने लगते हैं। उनके मन को दुःख देने वाली कल्पनायें ही उसके मन में आती हैं। मनुष्य का मन उसके लिए नरक बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति के विषय में कोई अभद्र विचार मन में आ गया तो वह उस विचार से मुक्ति नहीं पाता। इस प्रकार की मानसिक अवस्था के कारण उसके घर के लोग भी उसे शत्रु के रूप में दिखाई देने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति बहुत कम लोगों को अपना मित्र बना पाता है। वह सभी के प्रति सतर्क और संदिग्ध मन रहता है।

इच्छा और कल्पना का संघर्ष मानसिक दुर्बलता उत्पन्न करता है।

मानसिक दुर्बलता की अवस्था में मनुष्य को कोई भी रोग का विचार जब एक बार आ जाता है तो वह प्रयत्न करने पर भी मन के बाहर नहीं निकलता। कभी कभी किसी रोगी की खबर सुनने मात्र से अथवा उसकी किसी विशेष प्रकार के रोग से मृत्यु हो जाने की चर्चा सुनकर मानसिक दुर्बलता वाले व्यक्ति को वही रोग हो जाता है जिसके बारे में वह वृतान्त सुनती है अथवा उससे अपनी मृत्यु के बारे में कल्पनायें करने लगती हैं। ये कल्पनायें इतनी प्रबल होती हैं कि वे

वास्तविक रोग की उपस्थिति कर देती हैं। कभी कभी रोग कल्पना-मात्र हो रहता है परन्तु इससे रोगी को वैसी ही पीड़ा होती है जैसी कि वास्तविक रोग से।

लेखक के एक मित्र ने आज से तीन वर्ष पूर्व एक व्यक्ति के हृदय की गति रुक जाने के कारण मृत्यु हो जाने का समाचार सुना। इस समाचार के सुनते ही उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो उनके हृदय की गति रुक रही है और इसके कारण उनकी मृत्यु हो रही है। उन्होंने अपने हृदय की परख कई जगह कराई। डाक्टरों को परीक्षा के परिणाम स्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका हृदय सामान्य अवस्था में है परन्तु इस प्रकार की परीक्षा से उनका रोग का भय न गया। तीन वर्ष तक उन्हें सदा यह भय बना रहता था कि किसी समय भी हृदय की गति रुक जाने के कारण उनकी मृत्यु हो सकती है। इस भय के कारण उनके रुधिर में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया और रुधिर की कमी के कारण उनका चेहरा पीला पड़ गया। उनका शरीर दुर्बल हो गया। यदि कोई व्यक्ति उनसे यह कह दे कि उन्हें विशेष प्रकार की दुर्बलता हो गई है तो वे तुरन्त ही अपने आप में शक्तिहीनता का अनुभव करने लगते। उनके हृदय की धड़कन बढ़ जाती थी इनको प्रायः अनिद्रा की बीमारी हो जाया करती थी। बड़े प्रयत्न के द्वारा उन्हें नींद आती थी।

एक दूसरे मित्र को अचानक कई प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न हुये, फिर कुछ ज्वर हुआ, फिर हृदय की धड़कन हुई और इसके बाद अनिद्रा का रोग इन्हें तंग करने लगा। वे जब एक रोग की चिकित्सा करते तो दूसरा रोग उपस्थित हो जाता। कुछ समय तक एक प्रकार की चिकित्सा करने के परिणाम स्वरूप जब उनका एक प्रकार का रोग चला जाता था तो दूसरे प्रकार का रोग उन्हें आ घेरता था। जिस समय वे अनुभव करने लगते थे कि वे पूर्ण स्वस्थ हैं उसी समय उन्हें दूसरा रोग हो जाता था। रोग की जैसे जैसे चिकित्सा होती जाती थी रोग वैसे वैसे ही बढ़ता जाता था।

एक तीसरे व्यक्ति को इस समय हृदय का रोग हो गया है। इसके भाई की मृत्यु भी इसी रोग से हुई। यह इस समय अपने रोग की भौतिक चिकित्सा कर रहा है। हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति को मृत्यु का असाधारण भय होता है। ऐसे लोगों की मृत्यु भी अचानक हृदय की गति रुकने से होता है।

प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोग शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। ये शारीरिक रोग उस मानसिक विकार के प्रतीक होते हैं जिसके कारण मन में दुर्बलता आती है। धनी कंजूस व्यक्तियों को प्रायः हृदय का रोग हो जाया करता है। जो दूसरे लोगों के हृदय पर आघात पहुंचाते हैं उनके हृदय पर प्रकृति आघात पहुँचाती है। अर्थात् वे कल्पना करने लगते हैं कि उनकी मृत्यु हृदय की गति रुक जाने से हो जायगी। जब इस कल्पना के कारण उसके भय की प्रबलता हो जाती है तो उनकी मृत्यु वास्तव में भी हो जाती है। पेट के रोग की कल्पना जिन लोगों को पीड़ा देती है उन लोगों में प्रायः अपने किसी पुराने मित्र के प्रति द्वेष-भावना का उदय होता है। पुराने मित्र के प्रति द्वेष-भावना उदय होते ही पेट के रोग की कल्पना भी होने लगती है। कभी कभी ऐसे व्यक्ति को यह विचार भी आता है कि उसके पुराने मित्र ने उसे जहर दे दिया। विष के संदेह के कारण उसका रोग अनेक प्रकार की चिकित्सा करने पर भी बना रहता है। किसी प्रकार की अशुभ भावना के प्रबल हो जाने पर मन निर्बल हो जाता है और फिर मानसिक रोग की उत्पत्ति हो जाती है। मानसिक रोग मानसिक विकार को निकालने का उपाय है।

लेखक को हाल ही में एक मानसिक रोगी की चिकित्सा करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस रोगी को पहले पेट का रोग हुआ था और फिर दूसरे प्रकार के रोग भी होने लगे। इसके रोग का कारण खोजने पर दो बातों का ज्ञान हुआ। पहले तो रोग की उपस्थिति के कुछ दिन पूर्व ही उसके साले का देहान्त हो गया। जब यह साला बीमार पड़ा था तब उसकी चिकित्सा कराने का भार इसी रोगी पर पड़ा था सभी

प्रकार की चिकित्सा होते हुए भी उसका देहान्त हो ही गया। इस व्यक्ति के बच्चे नाबालिग थे और इसका लेन देन का व्यापार बहुत सा फैला हुआ था। दिया हुआ रुपया वसूल करने में अनेक प्रकार की कठिनइयों का सामना करना पड़ा। बहुत से कर्जदार कर्ज देनेवाले की अचानक मृत्यु से लाभ उठाकर रुपया खा गये। इस स्थिति ने उक्त व्यक्ति के मन में इस कल्पना को उत्पन्न किया कि यदि उसकी भी मृत्यु अचानक हो गई तो उसका धन भी उसी प्रकार बरबाद हो जायगा जिस प्रकार उसके साले का धन बरबाद हुआ। इस विचार के आते ही यह रोगी अपने सब कर्जदारों से कर्ज को टीप दस्तावेज आदि लिखाने लगा। इसके थोड़े ही दिन बाद से रोग का प्रारम्भ हुआ।

रोगी के मन में अचानक यह भावना आई कि उसे उसके एक पुराने मित्र ने जिससे अब उसका लेन देन के कारण वैमनस्य हा गया था विष दे दिया है। उसे यह ज्ञान नहीं था कि उसे यह विष कब दिया गया। इस कल्पना के कारण उसका रोग स्थिर सा हो गया था। इस साथी ने सावजनिक संस्था का कुछ रुपया खा लिया था और उसे इस संस्था से निकलवाने में इस रोगी का ही प्रमुख हाथ था। उसके सभी साथी उसके इस कार्य को अनुचित समझते थे।

उक्त प्रकार के मानसिक रोग तब तक नहीं जाते जब तक कि मनुष्य अपनी मानसिक दुर्बलता से मुक्त नहीं होता साधारणतः ऐसा रोगी अपने रोग की केवल शारीरिक चिकित्सा करते रहता है। उसकी कल्पना में यह बात कभी नहीं आती कि उसके रोग का मानसिक कारण भी हो सकता है। यदि ऐसा रोगी धनी भी हुआ तो बहुत से डाक्टर उसे सदा घेरे रहते हैं। उनकी चिकित्सा से कुछ थोड़ा बहुत लाभ होता है। इसके कारण उसके मन में और भी यह विचार नहीं आता कि उसके रोग का कारण उसके मन में है। फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता को दूसरों के सामने सिद्ध करने की और अपनी मानसिक कमजोरी को भुलाने को चेष्टा करता है। इसके कारण उसे

अपने रोग का वास्तविक कारण और भी ज्ञात नहीं होता। यदि मनुष्य को अपने रोग का कारण अपने मन में होने का ज्ञान न होकर किसी बाहरी परिस्थिति में हैं यह ज्ञान होता है तो उसे विशेष प्रकार का आत्म संतोष होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को नैतिक दृष्टि से महान मानता है। अपनी नैतिक भूलों को स्वीकार करना बड़ा ही कठिन काम है। अतएव यदि किसी बाहरी परिस्थित में अपने रोग का कारण खोज लिया जाय तो सभी लोगों को अच्छा लगता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण रोगी से अपनी मानसिक कमजोरी की स्वीकृति कराना बड़ा ही कठिन होता है। और जब तक कोई रोगी अपनी अदृश्य मानसिक कमजोरी को स्वीकार नहीं करता तब तक वह ऐसे काम कदापि नहीं करेगा जिससे इसका निराकरण हो, परन्तु कई दिनों से रोग से पीड़ित रहने पर मनुष्यों में यह सद्बुद्धि आ जाती है कि वह अपनी मानसिक कमजोरियों को पहचाने और उनके हटाने के वास्तविक उपायों को अपनावे। स्वयं रोग ही मनुष्य के मन को इस स्थिति में ले आता है कि वह अपने अभिमान को भुलाकर सत्य को समझने की चेष्टा करे। रोग पाप का प्रायश्चित है। इससे मानसिक दुर्बलता का विनाश होता है। और मनुष्य में त्याग बुद्धि आती है।

चौथा प्रकरण

अहंकार और मानसिक रोग

विक्षिप्तता की मनोवृत्ति

मानसिकरोग का अहंकार से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्य अहंकार सभी लोगों को रहता है। अहंकार की अत्यधिक वृद्धि विक्षिप्तता है। पेरानोइया की अवस्था में मनुष्य का अहंकार इतना बढ़ जाता है कि उसे वास्तविकता का ध्यान ही नहीं रहता। वह दरिद्र होकर भी अपने आपको राज मान बैठता है। वह प्रतिभा में अपने आपको सबसे बड़ा व्यक्ति मान लेता है। अपने आपको बड़ा मान लेने के साथ-साथ उसके मन में विचार उत्पन्न हो जाता है कि संसार के लोग उसके बड़प्पन से ईर्ष्या कर रहे हैं और इसी ईर्ष्या के कारण वे उसके प्रति सदा षडयन्त्र करते रहते हैं। इसके कारण वह सदा दुखी रहता है।

अहंकार और मानसिक कमी

अहंकार विद्या, धन, कुल अथवा चरित्र किसी बात का भी हो सकता है। अहंकार की उपस्थिति मानसिक ग्रन्थि का परिणाम है। मनुष्य के मन में जिस प्रकार की बात का अहंकार होता है उसके अचेतन मन में उसी बात की कमी का ज्ञान रहता है। अहंकार उस कमी को भुलाने की चेष्टा का परिणाम है। अहंकार मनुष्य को अपनी कमी को स्वीकार नहीं करने देता। इसके कारण उसका मानसिक जटिलता बढ़ती जाती है।

मनुष्य के स्वभाव में मानसिक विकारों के निकालने का स्वतः प्रयत्न होता रहता है। किसी प्रकार की विषमता आन्तरिक मानसिक

रोग का प्रतीक है। मानसिक विकार अथवा विषमता को नष्ट करने के लिए मनुष्य ऐसी परिस्थिति चाहता है जिससे उसके मन में समता स्थपित हो। अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग भी मानव-स्वभाव की समता की चाह के परिणाम हैं। ये रोग मानसिक बिकारों को बाहर निकालते हैं और मनुष्य से आत्म-स्वीकृति कराते हैं। मानसिक और शारीरिक रोग मानसिक विकारों के प्रतीक-मात्र होते हैं।

धन का अहंकारी व्यक्ति मन से ग़रीब रहता है। उसे पहले ग़रीबी का बड़ा ही दुःख रहा, इसके कारण उसके मन में आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न हो गई थी। वह अब उसका प्रतिकार अपने आपको दूसरों समक्ष धनी दिखाकर करता है। कहा जाता कि है: इंगलेंड का प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकिन्स अपने कोट में सोने के बटन लगाता था। डिकिन्स ने अपना बचपन बड़ी ही ग़रीब अवस्था में बिताया था। उसे ग़रीबी से भारी दुःख हुआ था और अब वह उसका प्रतिकार कर रहा था। यदि उसे ग़रीबी से दुःख न हुआ होता तो धन का उसे अहंकार भी न होता। जिस समय किसी व्यक्ति को विशेष प्रकार का अहंकार होता है उसके अन्तरिक मन में उसकी कमी से उत्पन्न मानसिक ग्रन्थि रहती है जिसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता। इस ग्रन्थि के नष्ट हो जाने से उसका तत्सम्बन्धी अहंकार भी नष्ट हो जाता है।

विद्या के अहंकारी व्यक्ति को भी अपने मन में विद्या में किसी प्रकार की कमी का ज्ञान रहता है। जिस व्यक्ति के स्वतन्त्र मौलिक बिचार नहीं होते वही विद्या के जगत् में अपनी ख्याति का इच्छुक रहता है। वह बहुत-पढ़ता लिखता है और वह संसार को यह दर्शाने की चेष्टा करता है कि संसार में उसके समान कोई विद्वान् नहीं है। उसकी बातचीत में किसी न किसी ग्रन्थकार के वाक्यों का उल्लेख बात-बात में पावेंगे। उसकी पुस्तकों में पचासों ग्रन्थों का उल्लेख पावेंगे। वह दूसरे लोगों को इसलिए बुद्धिहीन समझता है कि उन्हों ने इतना

न तो अध्ययन किया और न उनमें दूसरे लोगों के विचारों का उल्लेख करने की क्षमता है जब कोई व्यक्ति उसको पुस्तकों की अवहेलना कर देते हैं तो उसे बड़ा दुःख होता है। उसके विचारों का कहाँ तक मान होता है इसकी उसे भारी इच्छा रहती है। वास्तव में ये विचार अपने नहीं होते दूसरे लोगों के होते हैं। पुराने विचारों के उल्लेख करने और उनकी सत्यता नये प्रमाणों से घटाने में ही वह बुद्धिमानी समझता है। उसके विचारों का अनादर होना भी स्वाभाविक है। संसार में उन्हीं विचारों का आदर होता है जो मनुष्य अपनी अनुभूति से संसार को देता है जिस मौलिक सिद्धान्त पर मनुष्य अपने अनुभव से पहुँचता है वही सिद्धान्त उस मनुष्य का और दूसरों का कल्याण करता है। अधिक पढ़ने वाले व्यक्तियों का अपनी नई बात सोच सकने की शक्ति में विश्वास हो चला जाता है। वे देखते हैं कि जितना वे सोच सकते हैं उससे कहीं आगे पहले के लोग सोच चुके हैं। अतएव दूसरों का अनुकरण करना मात्र उनका काम रह जाता है। इसी में वे अपनी प्रतिभा समझते हैं। दूसरे लोगों से भी यही आशा करते हैं।

कुल का अभिमान भी किसी प्रकार की सम्मान में कमी के कारण होता है। जब मनुष्य का भिखमंगे होने के कारण समाज में अपमान होने लगता है तो वह अपने कुल की दुहाई देता है। मनुष्य की सामान्य अवस्था में कुल का ज्ञान ही नहीं रहता।

जो बातें धन, विद्या और कुल के विषय में सत्य हैं वही चरित्र के विषय में भी सत्य हैं। जब मनुष्य अपने चरित्र में किसी प्रकार का दोष देखता है, जब वह सामान्य नैतिकता के प्रतिकूल कोई आचरण कर बैठता है तो उसके मन में आत्म- ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। इस आत्मग्लानि के प्रतिकार स्वरूप वह कठोर तपस्या करता है। जिस प्रकार का दोष वह अपने चरित्र में पाता है उसी के विरोधी गुणों को वह प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यदि उसमें कामुकता अधिक है तो वह उसके प्रतिकार स्वरूप कामेच्छा के दमन के लिए

अनेक प्रकार की तपस्या करता है। इस प्रकार की क्रिया किसी अतीत आत्म-ग्लानि की अनुभूति की प्रतिक्रिया के स्वरूप होती है। आत्म-ग्लानि को ग्रन्थि घोर तपस्या करने वाले व्यक्ति के मन में वर्तमान रहती है और उसके भुलाने के प्रयत्न स्वरूप ही तपस्या के कार्य होते हैं। इसी के कारण मनुष्य को अपनी तपस्या का अभिमान भी होता है। जानबूझ कर अपने आप पर संयम करना, किसी विशेष प्रकार की इच्छा को रोकना अहंकार की उत्पत्ति नहीं करता है। इस प्रकार का यत्न चरित्र के बल के प्रति विनीत भाव से ही उत्पन्न होता है। चरित्र-अहँकार मानसिक रोग का प्रतीक है। यह मनुष्य को तभी होता है जब कि मनुष्य के मन में किसी विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि रहती है। अपना प्रबल प्रवृत्ति को एकाएक रोक देने से यह ग्रन्थि उत्पन्न होती है। जब तक यह ग्रन्थि बनी रहती है तपस्या की प्रवृत्ति भी बनी रहती है और अपनी तपस्या का अभिमान भी मनुष्य को रहता है। वह किसा न किसी प्रकार दूसरों से अपना बड़प्पन स्वीकार कराने की चेष्टा करता रहता है।

इस सिद्धान्त का सत्यता नारद मुनि की कथा से स्पष्ट होती है। जब नारद मुनि ने घोर तपस्या की और जब वे अपने आसन से कामदेव के प्रयत्न करने पर भी अडिग रहे तो उन्हें अपने ब्रह्मचर्य का अभिमान हो गया। वे अब सभी लोगों को अपनी विजय को गाथा सुनाने लगे। जब उन्होंने विष्णु भगवान् को अपनी विजय की गाथा सुनाई तो भगवान् ने उन्हें वस्तु-स्थिति समझाने के लिए एक नया संसार रच दिया। यहाँ उन्होंने अपने आपको राजकन्या के प्रेम में फँसा हुआ पाया। वास्तव में उनके ब्रह्मचर्य के अभिमान के पीछे यही भोगेच्छा छिपी हुई थी। यह भोगेच्छा दो ही प्रकार से शांत हो सकती थी—एक भोग करके और दूसरे वैराग्य विचार करके। आत्म-स्वीकृति करने पर ही भोगेच्छा वैराग्य-विचार के द्वारा शान्त हो सकती है। पर अहंकार को अवस्था में मनुष्य आत्म-स्वीकृति के लिए तैयार नहीं रहता। अतएव उसकी मानसिक ग्रन्थि

दिन प्रति दिन जटिल होती जाती है। उसके खुलने का कोई मार्ग नहीं रह जाता।

घोर तपस्या के परिणाम-स्वरूप मनुष्य के मन में अहंकार की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इसके कारण वह दूसरे व्यक्तियों को नीचता के भाव से देखने लगता है। इससे संसार में उसके बहुत-से शत्रु हो जाते हैं ये शत्रु उसके प्रति षडयंत्र करने लगते हैं। उनके विषय में अब वह चिन्तित रहने लगता है। तपस्या के कारण संसार के लोग उसका सम्मान करने लगते हैं। इस सम्मान के कारण वह बहिर्मुखी हो जाता है और उसमें आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं रहती है। घोर तपस्या से मनुष्य में वैयक्तिक बल बढ़ता है, आत्म-निरीक्षण की शक्ति शान्त मन होने पर अर्थात् समता का अभ्यास करने पर ह आत है तपस्या से उत्पन्न मानसिक बल संसारी समस्याओं की चिन्ता से नष्ट हो जाता है। जो इच्छा-शक्ति की दृढ़ता मनुष्य तपस्या के परिणाम-स्वरूप प्राप्त करता है वह चिन्ताओं में नष्ट हो जाती है। वस्तव में बाहरी बातों की चिन्तायें मन की आन्तरिक स्थिति के परिणाम स्वरूप होती हैं। अपने मन में अज्ञात अन्तर्द्वन्द्व ही बाहरी चिन्ताओं के रूप में प्रकाशित होता है। यदि मनुष्य अपने अभिमान को छोड़कर अपने आप को समझने की चेष्टा करे तो उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ नष्ट हो जावे और बाहरी समस्यायें भी सरलता से सुलझ जावें।

अहंकार से मुक्त होने का उपाय

अहंकार से मुक्त होने का एक उपाय मैत्रीभावना का अभ्यास है। जिस प्रकार ... से कोई व्यक्ति ... है, उसी प्रकार के रोग से पीड़ित व्यक्ति की सेवा से मनुष्य उस रोग से मुक्त हो जाता है। ग़रीबों की सेवा से मनुष्य अपनी धन की कमी को भूल जाता है। उसकी दरिद्रता सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थि खुल जाती है और वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। इसी प्रकार दूसरों को समाज में ऊँचा उठाने के प्रयत्न करने से प्रयत्नकर्त्ता की स्वयं की

आन्तरिक कमो का भाव नष्ट हो जाता है । दूसरों को ऊँचा उठाने के यत्न से ऊँचा उठाने वाला व्यक्ति स्वयं ही ऊँचा उठ जाता है। विद्या के विषय में भी यही सत्य है । लगन के साथ दूसरों लोगों में ज्ञान उत्पन्न करने को चेष्टा से मनुष्य का ज्ञान परिपक्व होता है, उसमें आत्मविश्वास आता है और उसमें स्वतन्त्र सोचने की शक्ति आती है । इन गुणों के आने पर मनुष्य की विद्या सम्बन्धी ग्रन्थि नष्ट हो जाती है और उसे अपनी विद्या का अभिमान भी नहीं रहता । चरित्र के विषय में भी यही बात है । पतित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति प्रकट करने से अपने चरित्र के दोष नष्ट हो जाते हैं । जो व्यक्ति किसी भी पतित व्यक्ति में अपने आप को ही पहचानता है वह अपने चरित्र की कमियों से मुक्त हो जाता है । सहानुभूति के साथ किसी भी व्यक्ति को अपनी कमियों को हटाने में सहायता देना अपनी ही उसी प्रकार की कमियों से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है । जो व्यक्ति किसी रोगी को अपनी मानसिक ग्रन्थि के निवारण में सहायता देता है वह उसी प्रकार की अपनी मानसिक ग्रन्थि से भी मुक्त हो जाता है ।

पांचवां प्रकरण

मानसिक रोगों की संक्रामकता

जिस प्रकार शारीरिक रोग संक्रामक होते हैं उसी प्रकार मानसिक रोग भी संक्रामक होते हैं। वास्तव में मानसिक रोगों की संक्रामकता शारीरिक रोगों की संक्रामकता से अधिक होती है। झक, अकारण भय चिन्ता, हिस्टिरिया, सांकेतिक चेष्टायें, चिड़चिड़ापन आदि रोग संक्रामक रहते हैं। जब एक व्यक्ति को दूसरा इस रोग से पीड़ित देखता है तो उसको भी यही रोग हो जाता है।

कभी कभी हम किसी परिवार में मानसिक रोगियों की परम्परा पाते हैं। बनारस के एक धनी परिवार में झक्कीपन अथवा ऐसा ही कोई एक रोग परम्परागत चला आ रहा है। सम्भव है कि रोग का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी पर जाना वंश परम्परा के नियम के कारण हो। पर इसमें वातावरण का भी प्रभाव रहता है। किसी प्रकार की प्रवृत्ति वातावरण के संस्कारों के कारण प्रबल अथवा निर्बल होती है। इस वंश के लोग अपने कुटुम्बियों और पूर्वजों की झकों का वर्णन बड़े चाव से सुनते हैं। वे इस प्रकार अपनी कल्पना में उन लोगों से आत्मसात करते रहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उन्हें भी यह रोग हो जाता है।

यदि किसी परिवार के एक व्यक्ति को किसी प्रकार की विक्षिप्तता हो गयी हो और परिवार के दूसरे लोग उसके साथ सहानुभूति न दिखाकर उसकी खिल्ली उड़ाते हों तो बहुधा उन्हें भी वही रोग हो जाता है। लेखक के एक विद्यार्थी को विषम मानसिक रोग हो गया था। इसके कारण वह उठ बैठ नहीं सकता था। डाक्टर लोग उसके शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं देखते थे। वास्तव में उसे किसी

प्रकार की शारीरिक क्षति नहीं हुई थी। उसके चचेरे भाई कभी कभी उसकी हँसी उड़ाया करते थे। इसके परिणाम-स्वरूप इन भाइयों को भी उसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो गया।

वंश परम्परागत पैदा हुये रोगों को कभी-कभी वातावरण से प्राप्त मानलिया जाता है। इस प्रसंग में हेडफील्ड महाशय का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। डाक्टर हेडफील्ड के पास एक ऐसा बालक लाया गया जिसे हाथ में तड़क होती थी। इस पीड़ा का कोई शारीरिक कारण नहीं जान पड़ता था। उसके पिता को भी इसी प्रकार का दर्द था। अतएव यह समझ लिया गया कि यह रोग वंश परम्परागत पिता से पुत्र पर आया है। पर बालक के अनुभव का अध्ययन किया गया तो पता चला कि एक बार जब उसका पिता उसे जबरदस्ती पकड़ कर दवा पिला रहा था उसके पिता के हाथ में तड़क उठ गई। बालक को उसी समय यह रोग हो गया।

एक बार लेखक अपने एक मित्र के साथ रेल में जा रहा था। इस मित्र की सात वर्षीया बालिका को फिट होते थे। हर आधे घन्टे के बाद उसे फिट आ जाता था जो पाँच मिनट तक रहता था। इस लड़की के साथ रहने के लिये वे मित्र अपने साथ उसी की आयु की एक कहार की लड़की भी लाये थे रेल की गर्मी के कारण जब मित्र की बालिका को बार-बार फिट आने लगे और वह कहार की लड़की उसे देखने लगी तो एक घन्टे बाद उसे भी फीट आने प्रारम्भ हो गये। जब तक ये मित्र रेल से उतर न गये उसके फिट बन्द न हुए।

लेखक के पास कुछ दिन पहले यहाँ के एक प्रसिद्ध डाक्टर ने एक चौदह वर्ष का बालक भेजा। इसे हिस्टिरिया की बीमारी थी। इस बीमारी का बालक के जीवन में कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई देता था कारण की खोज से पता चला कि उसकी चाची को हिस्टिरिया का रोग है। बालक अपने जीवन में भी अज्ञात रूप से इसी रोग का अभिनय कर रहा था।

यदि किसी घर में भूत से डरने वाला व्यक्ति रहता है तो दूसरे

लोग भी भूत से डरने लगते हैं। इस प्रकार-शलपन से ही कुछ लोगों का मन भूत से भय करने लगता है फिर निर्बल मन के लोगों को भूत बाधा होना भी स्वाभाविक होता है। जिन घरो में ओझाई होती है उन घरों के लोगों में भूत से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या भी अधिक होती है। जो लोग दूसरों को दिखाने को सेन्चेट के खेल किया करते हैं वे अपने घर के लोगों को ही भूतों का शिकार बना लेते हैं।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी एक व्यक्ति का रोग दूसरे व्यक्तिपर आ जाता है। रोग को यह संक्रामकता रोगी के साथ आत्मसात करने के कारण होती है। यह आत्मसात विविध तरीकों से होता है। कोई दूसरे रोगी का वृत्तान्त सुनने मात्र से उस रोगी से आत्म-सात कर लेता और स्वयं उस रोग को ग्रहण कर लेता है। कोई कोई रोगी को देखने मात्र से उससे आत्म-सात् कर लेते हैं। रोगी को हार्दिक प्रेम करने वाले व्यक्ति को भी वही रोग हो जाता है। केवल आत्म सात कर लेने मात्र से ही मानसिक रोग नहीं होता। आत्मसात एक दूसरे पर अवलम्बित होता है। दोनों व्यक्ति आपस में अपनी अच्छाइयों और बुराइयों का आदान प्रदान करते हैं। रोगी अपने बुरे विचारों को हमें प्रदान करता है। यह हमारे मानसिक बल पर निर्भर है कि हम उनसे प्रभावित होते हैं अथवा अपने स्वस्थ विचारों को रोगी को प्रदान कर उसे रोग मुक्त करते हैं। जिस व्यक्ति का मन अपने आन्तरिक अन्तर्द्वन्द के कारण निर्बल हो जाता है वह यदि किसी रोगी से आत्मसात कर लेता है तो वह रोग उसे भी लग जाता है।

इस प्रकार निर्बल मन के द्वारा किया गया आत्मसात ही नुकसानदायक होता है। सबल मन होने पर आत्मसात करने से रोगी को लाभ होता है। यदि रोगी ऐसे व्यक्ति के पास रहे जिसके मन में किसी प्रकार की विषमता न हो तो वह स्वस्थ हो जाता है। मानसिक चिकित्सक रोगी से आत्मसात करके ही उसे आरोग्य के विचार

भेजता है। मानसिक निर्बलता के कारणों की खोज से पता चलता है कि जिन लोगों को किसी प्रकार का मानसिक रोग अथवा मनोजनित शारीरिक रोग होता है उनके आन्तरिक मन में सदा अन्तर्द्वन्द की स्थिति बनी रहती है। उनकी नैतिक भावनाओं और भोग प्रवृत्तियों में चेतना के नीचे अर्थात् उनके अनजाने ही संघर्ष होता रहता है। यदि यह संघर्ष उनकी जानकारी में हो तो वे उसे रोक दें, किन्तु जो क्रिया व्यक्ति के अचेतन मन में चला करती है उस पर व्यक्ति के विवेक का अनुशासन काम नहीं करता। इस तरह मन में चलने वाले संघर्ष से मनुष्य के व्यक्तित्व को शक्ति नष्ट हो जाती है। उसके व्यक्तित्व की वही दशा होती है जो अन्तर्द्वन्द चलने वाले राष्ट्र की सरकार की होती है। किसी राष्ट्र की सरकार का बल राष्ट्र की उन्हीं शक्तियों पर निर्भर नहीं करता जो सरकार को पूर्णतः ज्ञात हैं और उसके नियंत्रण में हैं; वरन राष्ट्र की सरकार का बल उन शक्तियों पर भी निर्भर कर । है जिनके ऊपर सरकार का सीधी तरह से कोई नियंत्रण नहीं है और जो सरकार से सीधा सम्पर्क नहीं रखती। जब ये शक्तियाँ सरकार के अनुकूल काम करती हैं तो सरकार बली होती है और सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता रहती है किन्तु जब इन शक्तियों का कार्य संघर्षमय होता है तो सरकार निर्बल रहती है। ऐसी अवस्था में किसी भी विदेशी राष्ट्र को अन्तर्द्वन्द व्यापक सरकार पर हमला करने का साहस होता है। ऐसी हो सरकार अपने ऊपर होने वाले आक्रमणों से डरा करती है और बाहरी शक्तियों से अधिक संघर्ष करने पर नष्ट हो जाती है।

लेखक के एक मित्र डा० महादेव प्रसाद ने जो इस समय गुरुकुल कांङ्गड़ो हरिद्वार में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं लेखक को एक विस्मय जनक रोग की कथा सुनाई। डा. के एक मित्र को एक विशेष प्रकार के उन्माद का रोग हो गया था। उस रोग में व कहा करते थे 'अब उसका क्या होगा' रोग की उत्पति के बारे में खोज करने से पता चला कि वे एक उपन्यास में एक ऐसे व्यक्ति की जीवन

की घटना पढ़ रहे थे जो अनेक कठिनाइयों को पार करता हुआ आगे बढ़ रहा था। एक बार वह व्यक्ति एक पहाड़ में गया और अनेक पहाड़ियों और घाटियों को पार करता हुआ एक गुफा के द्वार पर पहुँच गया। उस समय उसके शत्रु उसका पीछा कर रहे थे। शत्रुओं से बचने के लिए वह उस गुफा में घुस गया। गुफा में बहुत अन्धकार था और वह बहुत लम्बी थी। वह गुफा में इधर उधर भटकता हुआ आगे बढ़ गया। उसका चित्त बड़ी परेशानी में था। जब रोगी यह वृतान्त पढ़ रहा था उसी समय उसे विक्षिप्तता आ गई। वह पुस्तक को आगे न पढ़ सका। 'अब उसका क्या होगा' यही उसकी रट लग गई। वास्तव में रोगी का मन पहिले ही किसी अन्तर्द्वन्द्व के कारण निर्बल हो चुका था तभी पुस्तक को काल्पनिक घटना का भी उसके मन पर बुरा प्रभाव पड़ा। रोगी ने उपन्यास के उस पात्र से आत्म-सात् कर लिया।

वातावरण के विचारों का रोगी पर प्रभाव

रोगी के आसपास रहने वाले व्यक्तियों के विचारों का उसके मन पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि आसपास रहने वाले के विचार भले हैं तो रोगी शीघ्रता से स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। और यदि उनके विचार भले नहीं हैं तो उसका रोग बढ़ता जाता है। और कभी कभी उसकी मृत्यु भी हो जाती है। रोगी को रोग से मुक्त करने के लिये उदार विचारों की आवश्यकता होती है। क्रोध के विचार चाहे वे रोगी के मन में हों अथवा उसके आस पास रहने वाले व्यक्ति के मन में रोगी के लिये हानि कारक होते हैं। इसी प्रकार निराशाजनक विचार भी रोगी को जीवन से निराश बना देते हैं। क्रोध और निराशा एक दूसरे के पूरक हैं। जिस व्यक्ति को क्रोध आता है उसे निराशा भी उतनी ही अधिक होती है।

रोगी का मन निर्बल होता है। अतएव कोई भी बुरा विचार सरलता से उसके मन में घुस जाता है और फिर वह कठिनता से

बाहर निकलता है। कभी कभी निराशात्मक विचार जान बूझ कर आस पास रहने वाले व्यक्ति से ग्रहण कर लिया जाता है। और कभी कभी अनजाने ही ऐसा विचार रोगी के मन में प्रवेश पा जाता है। अपने सम्बन्धियों और सेवा करने वालों के विचारों से रोगी बहुत ही अधिक प्रभावित होता है।

मान लीजिये अपने घर में हमारा कोई सम्बन्धी बीमार पड़ा है। इस समय हम किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय कर बैठते हैं अथवा उसके प्रति क्रोध दिखाते हैं तो हमारा यह काम अनेक प्रकार के अवाञ्छनीय विचार हमारे मन में उत्पन्न कर देता है। इन विचारों के कारण हम रोगी को सन्निर्देश देने में असमर्थ हो जाते हैं और रोगी हमारे बिगड़े हुए विचारों को हमसे ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह जीवन से निराशा हो जात है।

बालकों के ऊपर माता-पिता के विचारों का प्रभाव बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। जिन माता-पिताओं के विचार सदा निर्दयता पूर्ण रहते हैं उनके बच्चे जल्दी मर जाते हैं। कभी कभी हमारे क्रुद्ध होने से हमारे घर का नन्हा बच्चा तुरन्त ही बीमार पड़ जाता है। इसका एक अनुभव लेखक को हाल ही में हुआ। लेखक के पास उसका भतीजा एक नाई के लड़के को साथ लेकर घर से आया। उसके कुछ अनुचित काम के लिये उसे दोनों पर क्रुद्ध होना पडा। पर नाई के लड़के पर क्रोध किया जाना अनुचित था। इसके थोड़े समय बाद लेखक की एक वर्ष की बालिका बीमार पड़ गई। उसकी बीमारी उस समय तक बनी रही जब तक भूल की आत्म-स्वीकृति नहीं की गई और प्रतिभावना का अभ्यास नहीं किया गया।

लेखक के एक मित्र की स्त्री का हाल ही में देहान्त हो गया। वह कुछ दिनों से बीमार थी पर इस बीच में मित्र के विचार काफी बिगड़े हुए थे। वे उच्च पद पर हैं और उनकी सहनशीलता इस समय बहुत कम हो गई है। उन्हों ने क्रोध के वश में होकर एक परीक्षार्थी

को एक साधारण सी गलती के कारण परीक्षा से वंचित कर दिया। जबसे यह घटना घटित हुई उनकी स्त्री का रोग बढ़ता ही गया और अन्त में उसका देहान्त भी हो गया।

प्रत्येक रोग की उपस्थिति के तीन कारण होते हैं—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। शारीरिक विकार, शारीरिक रोग के कारण होते हैं, मानसिक विकार मानसिक रोग के और आध्यात्मिक विकार आध्यात्मिक रोग के कारण होते हैं। किसी भी प्रकार का दुराचरण मनुष्य की इच्छा-शक्ति को दुर्बल बना देता है। इसके कारण कोई भी रोग व्यक्ति को सरलता से पकड़ लेता है। जब रोगी के द्वारा दान-पुण्य कराया जाता है तो उसके जीवन में आध्यात्मिक सुधार हो जाता है। इससे रोगी का रोग छूट जाता है उसकी चिकित्सा और उचित रूप से होने लगती है और मानसिक वातावरण भी अनुकूल बन जाता है।

लेखक के एक वयोवृद्ध मित्र हाल में ही गाँव से काशी आये। वे जिस समय काशी आये उठ-बैठ भी नहीं सकते थे। अवस्था सत्तर-अस्सी के बीच में होने के कारण वे बीमारी से हिल गये। वे अपने साथ एक डाक्टर, पुत्र और भतीजे को भी लेते आये थे। जब वे घर से चले थे तो घर के और गाँव के लोगों ने अन्तिम विदाई ले ली थी। उनके बड़े भाई हाल ही में मर चुके थे। लोगों को इनकी शारीरिक दशा देखकर विचार आया कि वे अब बचेंगे नहीं। अतएव काशी में ही उनका देहावसान होना अच्छा है। उनका डाक्टर भी उन्हें इसी दृष्टि से काशी ले आया था। पर काशी पहुँचते ही उनके आस पास का मानसिक वातावरण बदल गया। उनके मन में मृत्यु के विचार आने लगे थे। अब इन विचारों का अन्त हो गया ये मित्र दस बारह दिनों में चलने फिरने लगे और उनका स्वास्थ्य अब काफी उन्नत हो गया है। एक दिन जब वे बीमार ही थे लेखक ने उनसे कहा था कि काशी में जो आता है उसका जीवन काल बढ़ जाता है। आशामय विचार होने से मनुष्य का जीवन काल स्वतः ही बढ़

जाता है । जो व्यक्ति मृत्यु के लिये पूरी तैयारी कर लेता है वह भी अपने जीवनकाल को बढ़ा लेता है इससे मनुष्य में त्याग-बुद्धि आ जाती है और उसको बहुत सी मानसिक परेशानियों का अन्त हो जाता है, जिनके परिणाम-स्वरूप उसका मानसिक बल बढ़ जाता है । मानसिक बल प्राप्त होते ही जीवनकाल स्वतः ही बढ़ जाता है ।

प्रत्येक व्यक्ति मरने के पूर्व निराशावादी हो जाता है वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है । उसका बाहरी मन तो संसार में फँसा रहता है, पर भीतरी मन उससे छुटकारा पाना चाहता है । जब मनुष्य के समक्ष इतनी समस्यायें एक साथ आ जाती हैं कि वह उन्हें सुलझाने में अपने आप को असमर्थ पाता है तो वह मृत्यु का आवाहन करने लगतता है। यदि ऐसे समय वह सांसारिक झंझटों को छोड़ दे तो उसका जीवनकाल बढ़ जाय, नहीं तो आन्तरिक मन की मृत्यु की इच्छा किसी न किसी प्रकार पूरी हो ही जायगी ।

सांसारिक त्याग से जीवनकाल किस प्रकार बढ़ जाता है इसका एक उदाहरण डा० भगवानदास के हाल ही के बीमारी से स्वास्थ्य-लाभ से देखा जा सकता है। कुछ दिन पूर्व डा० भगवानदास बीमार पड़े । आसपास के लोग तथा वे स्वयं ही सोचने लगे कि अब परलोक जाना है। इस विचार के कारण उन्होंने अपनी जिम्मेदारियों को अपने बेटों और सम्बन्धियों में बाट दिया। अपनी पुस्तकों की भी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार अपनी जिम्मेदारियों से जब उनका मन मुक्त हो गया तो उनका जीवन काल भी बढ़ गया । धीरे धीरे उन्होंने स्वास्थ्य-लाभ कर लिया और अब वे मृत्यु के लिये सदा तैयार रहते हैं। पर वह स्वय ही सहम गई । धीरे से उनसे अपना मुह मोड़ लिया। वास्तव में जो व्यक्ति मृत्यु को भी कल्याणकारी मानता है और और उससे डरता नहीं उसे मृत्यु अकाल में नहीं आती। जब उसका काम पूरा हो जाता है, तभी उसकी इच्छा से मृत्यु उसके पास आती है ।

कुछ दिन पूर्व लेखक की एक छात्रा को हृदय रोग हो गया।

उस रोग का कारण जानने से पता चला कि उसे घर से कालेज आते समय ठंढ लग गई। पर इतना कारण इस रोग के लिये पर्याप्त न था। लेखक को उसकी मानसिक स्थिति जानने का अवसर मिला। वह अपने पिता की मृत्यु की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करती थी, पर वह उसे भुला नहीं पाती थी। उसके पिता की आयु ६० साल की थी। लड़की ने वृद्धावस्था में पिता की सेवा करने की इच्छा से शादी भी नहीं की थी। पिता महात्मा गाँधी के अनुयायी और काँग्रेस के कार्य-कर्ता थे। अतएव उस लड़की की पिता पर और भी अधिक श्रद्धा थी। माता का देहान्त हो चुका था। हाल ही में उसके पिता की मृत्यु सुटेसी से हुई थी। वह पिता के दुःख से बहुत दुखी थी; सम्भवतः उस रोग पिता से आत्मसात करने से हो गया। वह अपने चेतन मन से पिता की स्मृति भुलाने की चेष्टा करती थी पर उसका अचेतन मन उनसे सम्यकता स्थापित कर चुका था। अतएव चेतन और अचेतन मन में संघर्ष उत्पन्न हो गया। अचेतन मन ने अपनी प्रबलता उक्त रोग उत्पन्न करके दिखाई जिससे उसके पिता पीड़ित थे। संभव है यदि यह संघर्ष न होता तो छात्रा को यह रोग भी न होता।

ऊपर हमने देखा कि संक्रामक मानसिक रोग सभी लोगों को नहीं लगता। संक्रामक मानसिक रोग उन्हीं लोगों को लगता है जिनके मानसिक झंझट चलती रहती है। जिन लोगों के मन में पहिले से ही मानसिक रोग की प्रवृत्ति पहिले से ही होती है उन्हें ही मानसिक रोग हो जाता है। यहाँ लेखक को प्राप्त एक मानसिक रोगी के पत्र की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं। रोग बाध्य विचार का है—

"पहले मुझे यह रोग '६४' के नवम्बर में हुआ था। हमारी दादी को जिनकी आयु ४८ वर्ष की होगी यह रोग तीन चार बार हो चुका है। मैंने उनके रोग के सम्बन्ध में उनके मुँह से सुना था। उन्हें सड़क पर पड़े हुए पत्ते, कागज वगैरह इकट्ठा करने का वहम था। वह उन्हें चुनना शुरु कर देती और उन्हीं को बार बार देखने को

उनकी इच्छा रहती । एक दिन रात में मैंने चाँदनी के समय एक कागज को सड़क पर पड़े हुए देखा । उसी समय मुझे दादी की उक्त बीमारी का ध्यान आया । न मालूम क्यों मुझे बार बार उस कागज को देखने की इच्छा हुई । मैं इस इच्छा को दबाकर सो रहा । सुबह उस जगह वह कागज नहीं था । मुझे बड़ा दुख हुआ । उस रोज से अगर मैं सड़क पर चलता तो मझे सड़क पर पड़ा कूड़ा दिखने लग लग जाता । मैं चेहरा ऊँचा करके चलने की कोशिश करता ताकि मुझे कुछ न दिखे किन्तु मन में यही विचार होने से मुझे सब कुछ दिखाई पड़ता था मेरी इस बीमारी से मैं बीमार रहने लगा । अगर कोई चीज को ध्यान से देख लेता तो उसको बार बार देखने की इछा बलवती हो उठती और उसको बार बार याद आती थी ।"

"एक दिन था छात्रालय से शहर जाते समय मैंने एक जगह दलित जाति का बोर्ड लगा देखा जिसमें अम्बेदकर जी का नाम लिखा था । मुझे न मालम क्यों बार बार उस बात की याद आ जाती बार बार याद आती है और मैं उसे नहीं भूलता हूँ । कोई भी बात मैं अपने रोग से जोड लेता हू । उसी की याद मुझे बराबर बनी रहती है ।"

"आप की पुस्तक मैंने ३१ मार्च ४९ को देखी । पढ़ते समय उसमें वर्णित बहुत से मानसिक रोगियों के हाल मेरे दिमाग में आकर मुझे परेशान करने लगे । विशेष कर उसमें एक उदाहरण जिसमें एक मनुष्य को पैखाना न खा जाऊँ या उठा न लूँ' की झक सवार सवार हो गई थी, मुझें बहुत परेशान करता है । इस तरह कोई भी विचार मुझे पीड़ित करता रहता है । उस विचार के आने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाखाना मेरे मुँह के पास आ रहा है ।"

'घर आने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी दादी जी को फिर से रोग हो गया है । वह छोटी मोटी चीजें बीनती रहती है । हर एक चीज का वहम रहता है । उन्हों ने इस भय के कारण आँखें बन्द कर ली हैं । उन्हें बहुत पीड़ा है ।

"मैं एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि बचपन से ही मुझे कामोत्तेजक विचार बहुत आते हैं। मैं उनको दूर करने की कोशिश करते हुए भी दूर नहीं कर पाता किन्तु अपने इस रोग मुझे इन विचारों का कोई अत्यन्त लगाव नहीं दीखता।

उक्त उदाहरण से रोग की संक्रामकता के दो प्रकार के कारण स्पष्ट होते हैं—एक बाह्य वातावरण में उपस्थित बातें और दूसरे रोगी के मन में चलनेवाला अन्तर्द्वन्द्व। रोगी अपने इस रोग को अपने मित्रों और सम्बन्धियों से छिपाये हुए हैं। वह लिखता है कि उसे दूसरे लोगों को बताने में शर्म जाती है। इस रोग में गन्दी वस्तुओं का विचार बाध्य-विचार बन जाता है। वास्तव में यह बाहरी गन्दगी का भय भीतरी गन्दगी का ही भय है। किसी प्रकार का मानसिक गन्द ी जब अपने आप से छिपाई जाती है तो वह गन्दी वस्तुओं के छू जाने के भय परिणत हो जाती है कभी कभी इसके कारण मनुष्य अपने शरीर की अथवा वस्त्रों की अत्यधिक शुद्धि करता रहता है। लेखक का एक परिचित मानसिक रोगी शौच जाने के पश्चात बीसों बार साबुन से अपने हाथ को साफ करता था पीछे इस व्यक्ति को भयानक मानसिक रोग हो गया। साधारणतः यह गन्दगी कामवासना सम्बन्धी कोई दुराचार करने पर मनुष्य की अन्तरात्मा की ताड़ना के फलस्वरूप होती है। एक ओर व्यक्ति अपनी कामवासना का अत्यधिक दमन करता है और दूसरी ओर उसे किसी प्रकार का बाध्य विचार पीड़ा देने लगता है। वह अपने जैसे रोगियों से सहज ही आत्मसात कर लेता है। जो व्यक्ति जिस रोग से जितना ही भय करता है उसे यह रोग उतने ही जोर से पकड़ता है। वास्तव में भय की उत्पत्ति ही रोग की प्रवृत्ति को दर्शाती है। चेचक खुजली कोढ़ आदि रोगों का प्रसार उसी प्रकार होता है

हाल ही में लेखक अपने एक पुराने मित्र के घर गया। मित्र इस समय एक गूँगों को पढ़ाने की व्यवस्था चला रहे हैं। जिस समय लेखक उक्त मित्र के स्थान पर पहुँचा वे घर पर नहीं थे। उनका बारह साल

का बालक कुछ गूँगे बालकों के साथ खेल रहा था। वह गूँगों को इशारों के द्वारा सब कुछ बताता और उनके साथ हँसी मजाक में लगा था। लेखक को यह खेल मनोरञ्जक दिखाई दिया। कुछ देर तक खेल को देखने के पश्चात उसने बालक को बुलाया और उसके पिता के बारे में पूछा। उसने उनके बारे में उचित उत्तर दिये। बात चीत करने में देखा कि यह बालक भी हकलाता है। मैंने उस बालक से पूछा कि तुम्हें यह रोग कैसे हुआ? उसके उत्तर से पता चला कि गूँगों के साथ रहने के कारण ही उसे यह रोग हो गया है। गूँगों को बोलना आता ही नहीं। जो कुछ वे बोलते हैं अस्पष्ट रहता है। संगति के प्रभाव के कारण ही स्वस्थ बालक को भी गूँगों का रोग हो गया है।

आत्म-स्वात के द्वारा शारीरिक रोग का एक सुन्दर उदाहरण डाक्टर होमरलेन के मानसिक चिकित्सा के प्रयोगों में पाया जाता है। इस प्रयोग का उल्लेख लार्ड लटन में अपनी "न्यू ट्रैजर" नामक पुस्तक में किया है। डा. होमर लेन के पास एक बार गेस्ट्राइटीज़ से पीड़ित एक युवती आई। यह महिला इस रोग से मुक्ति पाने के लिए साधारण डाक्टरी चिकित्सा करा चुकी थी. किन्तु उसका रोग इस चिकित्सा से घटा नही अपितु बढ़ा ही। डाक्टरी परीक्षा से उसके रोग का कोई पता न चलता था। पीछे उसने मानसिक चिकित्सक को सलाह लेने का विचार किया। जब यह महिला डा. होमरलेन के पास पहुँची तब उसने अपना सच्चा नाम और पता न बता कर फर्जी नाम और पता बताया। डा. होमरलेन की दृष्टि से उस महिला की इस प्रकार की चालाकी छुप न सकी। उसके अपने आपको छिपाने के प्रयत्न से डाक्टर होमरलेन समझ गये कि दाल में कुछ काला अवश्य है। डा. होमरलेन ने सोचा कि सम्भवतः इस महिला ने नैतिकता के प्रतिकूल कोई आचरण किया है। इसके कारण उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है जिसको भुलाने के प्रयत्न के कारण ही पेट का रोग उत्पन्न हो गया है। अतएव डा, होमरलेन ने उसकी नैतिक भावना

को शिथिल बनाने के लिए समाज को कठोर नैतिकता की आलोचना करना प्रारम्भ किया। इससे वह महिला चिढ़ गई। उसने समझा डा. होमरलेन उसके चरित्र के सम्बन्ध में सन्देह कर रहे हैं। वह मैं ऐसी स्त्री नहीं हूँ जैसी आप मुझे समझते हैं कहकर वहाँ से चली गई।

इस घटना ने उस महिला के मन में एक नई उथलपुथल मचा दी और उसने अब यह उचित समझा कि वह अपनी वास्तविक बातें डा. होमरलेन को बता दे, चाहे इससे उसकी कोई भी हानि क्यों न हो वह दूसरे दिन डा. होमरलेन के पास आई और उसने अपने पति का नाम और पेशा आदि बतलाया। यह अपने पति का नाम पहले इसलिए छिपा रही थी कि जिस रोग से वह पीड़ित थी उसी रोग के विशेषज्ञ उसके पति थे। उनकी उस नगर में तथा आस पास का भी प्रतिष्ठा थी अपनी इस स्त्री के इस रोग की चिकित्सा में असमर्थता की बात जाहिर होने से उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगने की आशंका थी।

रोग का कारण खोजने के पता चला कि उस महिला को अपने पति के गेस्ट्राइटीज के विशेषज्ञ होने का अभिमान था। उसे विश्वास था कि वह उसे यह रोग कभी भी नहीं हो सकता। यदि उसे गेट्राइटीज का रोग हुआ भी तो उसके पति उसे अवश्य ही बचा लेंगे। पर एक बार उसने देखा कि एक महिला जिसे गेस्ट्राइटीज का रोग था पति के घर पर ही चिकित्सा कराते कराते मर गई। इस दृश्य को देखकर उसे भारी भय उत्पन्न हो गया। उसे चिन्ता हो गई कि यदि उसे गेस्ट्राइटीज का रोग हुआ तो उसके पति उसे न बचा सकेंगे वास्तव में यह भय इस बात का प्रतीक था कि उस महिला ने रोगी को देखकर अपने आप का उसके साथ आत्म-सात कर लिया। आत्मसात तथा तज्जनित भय के कारण उसको वास्तविक गेस्ट्राइटीज के रोग की पीड़ा होने लगी। जब किसी रोग की कल्पना अति प्रबल हो जाती है तो वह वास्तविक रोग में परिणत हो जाती है।

मनुष्य का मन सदा विलक्षण वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है। चाची की विलक्षणता को इस बालक के अचेतन मन ने अपना लिया और इसके कारण चाची का रोग बालक पर आ जमा था। जब ओझा लोगों के सामने बहुत सी स्त्रियाँ बैठती हैं और जब इनमें से एक कल्पित भूत बाधा के कारण झूमने लगती है तो दूसरी स्वतः उसका अभिनय करने लगती हैं।

परन्तु रोगी से आत्म-सात करने मात्र से रोग उत्पन्न नहीं होता। उपरोक्त अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि वही व्यक्ति मानसिक रोग के वशी भूत होता है जिसके मन में पहिले ही से अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। रोग इस संघर्ष को दूर करने के लिए ही पैदा होता है। प्रकृति का नियम है वह किसी विकार को रहने देना नहीं चाहती। अतएव संक्रामक मानसिक रोग उन्हीं लोगों को होता है जिनके मन में विकार वर्तमान है और उस विकार को निकालने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है। बाहरी कारण एक साधारण छोटा सा कार्य करता है। असली कारण आन्तरिक होता है।

भय और चिन्ता का दूसरों पर प्रभाव

जो व्यक्ति जिस बात से सदा डरा करता है उसके सिर वही बात पड़ती है। भय और चिन्ता के विचारों का प्रभाव न केवल अपने आचरण और स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता है, वरन् दूसरे लोगों के आचरण और स्वास्थ्य पर भी ठीक नहीं पड़ता। जो अभिभावक अपने बालकों के भविष्य के विषय में अत्यधिक चिंतित रहते हैं वे उनके भविष्य को न सुधार कर और बिगाड़ देते हैं। जो पति अपनी स्त्री के व्यभिचारी हो जाने के भय से शंकित रहता है, वह उसे व्यभिचारी ही बना देता है। जो व्यक्ति अपने सम्बन्धी से भय करता है वह उसके मन में दुराचरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। हमारे सूक्ष्म विचार बड़े प्रभावकारी होते हैं। ये विचार किसी भी व्यक्ति को उसी ओर ले जाते हैं जिस ओर उनका लक्ष्य रहता

में सही है। जो माता-पिता अपने बालकों के भविष्य के विषय में अत्यधिक चिन्तित रहते हैं वे प्रायः उनके भविष्य को बिगाड़ देते हैं। वे अपने चेतन मन से उनके भविष्य को सुधार ने के लिए ही प्रयत्न करते हैं, पर उनका भय बालकों के अचेतन मन को दूसरी ही ओर जाने की प्रेरणा देता है। बालकों के सुधारने के प्रयत्न के साथ साथ यदि अभिभावक के मन में उनके विषय में अत्यधिक चिन्ता भी है तो जितना उनका सुधार उसके भद्र आचरण के द्वारा होता है उससे कहीं अधिक बिगाड़ उसकी अप्रकाशित चिन्ता से होता है। चिन्ता के विचार बालक की इच्छाशक्ति को कमजोर बना देते हैं। ऐसी अवस्था में वह अपनी कल्पना को अपने काबू में नहीं रख सकता। दूसरे उसके अभिभावक के निर्देश भी अपने आप को बिगाड़ने के लिए मिलते हैं। जितना ही उपदेश अभिभावक अपने रक्षित को देता है उसका परिणाम उतना ही नाशकारी होता है। उद्विग्न मन से किये गये काम की सफलता में व्यक्ति को सन्देह रहता है। सन्देह नकारात्मक विचार है। सन्देह का भाव उन्हीं बातों को सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति में डाल देता है जिनसे कि व्यक्ति डरता है।

लेकख के एक शिक्षक अपने एक पुत्र को आदर्श बालक बनाना चाहते थे। ये मनोविज्ञान के ज्ञाता भी थे। उनका विचार था कि कुसंगति में पड़कर बालक अनेक प्रकार की कामवासना सम्बन्धी कुटेवों में पड़ जाते हैं। यह कुसंगति प्रायः स्कूल जाने से होती है। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि बालक को स्कूल ही न भेजा जाय। यह बालक अभिभावक के निरीक्षण में घर पर ही पढ़ा। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा के परिणाम स्वरूप जितनी बुरी आदतें बालक में आ गई उतनी स्कूल जाने वाले सामान्य बालकों में नहीं आतीं। जिस ओर अपने बालक के जाने से पिता डरता था उसी ओर वह बालक गया।

लेखक के एक दूसरे मित्र हाल ही में अपने बालकों के आचरण

की चर्चा कर रहे थे। ये स्वयं बड़े सदाचारी एवं अध्ययन, अध्यापन में मन लगाने वाले व्यक्ति हैं। वे चाहते थे कि उनके बालकों को किसी प्रकार की बुरी आदत न लग जाय। उन्हें अपनी किशोरावस्था का समय स्मरण था। अतएव इस समय के कामवासना-सम्बन्धी संस्कारों से बालक को बचाने के लिए उन्होंने पर्याप्त सावधानी रखी। पर वे लक्ष्य की पूर्णता में असफल रहे। उनका कथन है कि उनके दोनों बालकों में सभी बुरी आदतें आ गईं जो उनमें अपनी अवस्था थी। वे जितना ही अपने बालकों को सुधारने की चेष्टा करते हैं आचरण और भी जटिल होता जाता है।

एक दूसरे मित्र का बड़ा लड़का आज से दो वर्ष पूर्व घर से भाग गया। यह लड़का बड़ा प्रतिभावान है। वह सुन्दर भी है। पिता उसे आदर्श बालक बनाना चाहते थे। उन्हें भय था कि कहीं बालक ऐसी किसी कुटेवमें पड़ जाय जिससे उनकी पढ़ाई में विघ्न आ जाय। इसके लिये वे बालक की सभी प्रकार की चेष्टाओं का निरीक्षण भली प्रकार करते थे। जब कभी वे बालक में किसी प्रकार की भूल पाते तो उसे तुरन्त सुधारने की चेष्टा करते। उनके इस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप पिता पुत्र में द्वेष-भाव उत्पन्न हो गया। फिर बालक के मन में प्रबल भावना आई कि वह स्वावलम्बी बनकर अपना जीवन यापन करे। वह इन्टर के आगे न पढ़ सका। अपने साथियों के साथ वह अपना बहुत सा समय व्यतीत करने लगा। पिता का सन्देह था कि उसे कोई काम कुटेव पड़ गई। पिता ने जितना ही घर के भीतर रखना चाहा वह उतना ही घर से ऊबता गया और अन्त में घर छोड़कर ही भाग गया।

हाल ही में लेखक को एक छात्रा की माँ ने अपने बड़े लड़के के व्यवहार के परिवर्तन की चर्चा सुनाई। माँ को बालक के भविष्य की अधिक चिन्ता थी। इसके कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया था। उसे एक मानसिक रोग भी हो गया था। इसी के सम्बन्ध में लेखक बुलाया गया था। इस महिला ने कहा कि पहले यह बालक ठीक

से पढ़ता था और प्रथम श्रेणी में पास करता था, पर जब मैं सोचने लगी अब यह लड़का रोजगार में लग जायगा तभी से उसका ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। जितनी ही मैं उसकी पढ़ाई के विषय में चिन्ता करने लगी वह उतना ही पढ़ाई में पिछड़ने लगा। अब दो बार फेल हो गया। लेखक ने कहा कि उसके फेल होने का कारण उसकी चिन्ता ही है। इस पर विचार करने पर उसने ठीक जाना। उसने कहा कि उसने अपनी बड़ी लड़की के विषय में चिन्ता नहीं की। वह ठीक से पास होती जाती है। सभी लोग उसके आचरण की सराहना करते हैं। दूसरे बालक भी जिसके विषय में वह चिन्ता नहीं कर रही है ठीक से पढ़ रहे हैं। बड़ा बालक ही जिसके विषय में विशेष चिन्ता है पढ़ाई में पिछड़ रहा है।

हमारे भय के कारण हमारा बालक उसी ओर जाता है जिस ओर हम उसके जाने से डरते हैं। जिस प्रकार भय का विचार साइकिल को खम्भे की ओर मोड़ देता है उसी प्रकार भय का विचार बालक की जीवन धारा को अवांछनीय पथ पर मोड़ देता है। जब गौतम एक साल के थे तब उनके घर एक साधू आया। शुद्धोधन ने बालक को साधू को दिखाया। उसने शुद्धोधन से कहा कि इस बालक में असाधारण लक्षण है। यह घर से निकल कर साधू बन जावेगा और बड़ी कीर्ति कमावेगा। और यदि यह घर में रहेगा तो चक्रवर्ती राजा बन जावेगा।

प्रत्येक पिता अपने बालक के घर से निकलने से डरता है कौन ऐसा पिता होगा जो अपने पुत्र को चक्रवर्ती न बनाना चाहेगा। उस साधु ने राजा से ऐसी बात कही जिससे एक ओर राजा के मन में आशा आयी और दूसरी ओर भय उत्पन्न हो गया। जो मनुष्य अपने बच्चों के भाग्य के विषय में पूछ-ताछ करते रहते हैं वे प्रायः निर्बल मन के होते हैं। निर्बल मन के व्यक्ति के नकारात्मक विचार अथवा भय की कल्पनायें उसके रचनात्मक विचारों तथा आशाओं से अधिक प्रबल होते हैं। जब कोई अवांछनीय विचार ऐसे व्यक्ति को

४
- पोटाश ऐलम $K_2SO_4, Al_2(SO_4)_3, 24H_2O$
- अमोनियम एलम $(NH_4)_2SO_4, Al_2(SO_4)_3 24H_2O$
- क्रोम ऐलम $K_2SO_4, Cr_2(SO_4)_3, 24H_2O$
- पोटाश अलुमिनियम सिलिनियम ऐलम $K_2SeO_4, Al_2(SeO_4)_3, 24H_2O$

उपर्युक्त समरूपीय लवणो मे परमाणुओ की सख्याएँ एक ही है। वे एक ही रीति से उन मे सयुक्त है। इस से उन के तत्त्वो के परमाणुओ के बीच समानता प्रदर्शित होती है।

कुछ यौगिक ऐसे है जिन मे परमाणुओ की संख्या भिन्न भिन्न होने पर भी तत्त्वो मे सादृश्य रहता है और वे एक ही रूप के मणिभ बनते है।

१
- अमोनियम क्लोराइड NH_4Cl
- पोटासियम क्लोराइड KCl

२
- अमोनियम सल्फेट $(NH_4)_2SO_4$
- पोटासियम सल्फेट K_2SO_4

उपर्युक्त लवणो के अतिरिक्त कुछ लवण ऐसे है जिन मे तत्त्वों के बीच न तो कोई रासायनिक सादृश्य ही रहता है और न उन मे परमाणुओ की सख्या अवश्य कर के एक ही रहती हैं पर तो भी वे एक ही प्रकार के मणिभ बनते है।

१
- सोडियम नाइट्रेट $NaNO_3$
- कालसियम नाइट्रेट $Ca(NO_3)_4$

२
- सोडियम सल्फ़ेट (अनार्द्र) Na_2SO_4
- बेरियम पर-मैंगनेट $BaMn_2O_8$

अन्तिम उदाहरण से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि जो यौगिक एक ही रूप के मणिभ बनते है उनमे रासायनिक सगठन का सादृश्य वा उनके तत्वो के बीच रासायनिक सादृश्य का होना कोई आवश्यक नही। यौगिको के रासायनिक संगठन मे और उन के परमाणुओ के संयोग मे सादृश्य होने पर भी यह आवश्यक नही कि वे एक ही रूप के मणिभ बने। सोडियम नाइट्रेट और पोटासियम नाइट्रेट के बीच रासायनिक सादृश्य होने पर भी इन के मणिभ साधारण तापक्रम पर भिन्न भिन्न प्रकार के होते है।

यौगिको के बीच 'समरूपता' का ज्ञान साधारणत. मिश्रित मणिभ के बनने

लिए एक कन्या . छः मास तक घर में लाकर रक्खी गई थी कि मैं उससे प्रेम करने लगूँ. परन्तु मेरा उससे कोई प्रेम नहीं हुआ। विवाह के अवसर पर जब मुझे कलकत्ते से तार देकर बुलाया गया तो मैं आ तो गया परन्तु विवाह के रोज जब कि लोग उत्सव में मग्न थे मैं मैली धोती लपेटे मुँह छिपये एकान्त में बैठा था जब बारात का समय हुआ और मेरी खोज हुई तो लोगों ने मुझे ढूँढ़ निकाला, तरह तरह के प्रलोभन दिये और मुझे तैयार कर लिया। उस समय की भावना मुझे केवल इतनी ही स्मरण है कि मैं विवाह करना नहीं चाहता था।

यह व्यक्ति पीछे वास्तव में घर छोड़ कर निकल गया और सन्यासी हो गया। उसकी आत्म-कथा से यह भी पता चलता है कि उसमें कामवासना चरम सीमा पर थी पर कुछ दिन पूर्व किसी अनुचित आचरण के कारण उसे आत्म-भर्त्सना हुई और उसके परिणाम स्वरूप उसकी वासना का दमन हो गया। इस प्रकार वातावरण का प्रभाव तथा पिता के विचार प्रभावशाली निर्देश बन कर कामयाब हो गये और जिस ओर जाने से पिता लड़के को रोकना चाहता था उसी ओर उसको ले गये। जब किसी प्रकार का निर्देश व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा का रूप धारण कर लेता है तो सभी प्रकार की परिस्थितियाँ इस प्रकार की हो जाती है जिससे प्रेरणा घटना का रूप धारण करे। जितनी भी बाहरी अड़चनें उसके सामने आती हैं, वे उतनी ही अधिक आन्तरिक प्रेरणा को बढ़ाती हैं। इस प्रकार भय और चिन्ता के विचार फलित हो जाते हैं।

संसार के महान पुरुषों के जीवन को देखने से पता चलता है कि उनके जीवन के उत्कर्ष का प्रधान कारण उनके भविष्य के विषय में उनके अभिभावकों का शुभ निर्देश रहा है। जिन बालकों के पिता को धन और ख्याति नहीं मिली रहती वे अपने बालक की साधारण सफलता से ही संतुष्ट हो जाते हैं। उनके विचार बालक के भविष्य के विषय में आशावादी बन जाते हैं। इस प्रकार इन बालकों का आगे बढ़ने के लिये शुभ निर्देश मिलने लगता है। इनके कारण बालक के

बिचार भी आशावादी बन जाते हैं वह अपने जीवन में उन्नति करते चला जाता है। जब बालक का अभिभावक विख्यात व्यक्ति रहता है और जब उसका आत्मप्रतिष्ठा का भाव बढ़ा चढ़ा रहता है तो वह बालक में प्रारम्भिक अवस्था में कोई भो प्रसंशनीय बात नहीं देखता वह बालक की नुक्ताचोनी के लिये उसके आचरण में यथेष्ट सामग्री पा लेता है। ये भावनायें उसे निराशावादी बना देती हैं। उसके बिचार नकारात्मक बन जाते हैं। जैसे जैसे बालक अपन. उन्नति में कमी दिखाने लगता है उसके अभिभावक उसके विषय में और भो चिन्तित रहने लगते हैं। और बालक की अधिक देख रेख करने लगते हैं। इससे कभी कभी बालक ऊपरी उन्नति दिखाता है। पर उसका मन नकारात्मक निर्देषों के कारण निर्बल हो जाता है। वह फिर अपने आपसे लड़ने में अपनी शक्ति खर्च करने लगता है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही उसका मन इधर-उधर दौड़ने लगता है। अन्त में वह वर्जित आचरण के लिए बिवश हो जाता है। इस प्रकार अविभावक की भय और चिन्ता बालक को अवनति की ओर ले जाती है।

खिल्ली उड़ाने औ चिढ़ाने का परिणाम

योगसूत्र में बताया गया है कि मनुष्य जो कुछ सोचता है वह उस समय उसी भाव के अनुरूप हो जाता है—वृत्तिसारूपमिव च ? बार-बार किसी विचार अथवा भाव को मन में लाने से वह चेतन मन से अचेतन मन में चला जाता है। यदि यह भाव भला हुआ तो वह मनुष्य के आचरण और विचारों को भला बना देता है और यदि बुरा हुआ तो वह उन्हें बुरा बना देता है। इस प्रकार मनुष्य के स्वभाव में दूसरों के दोष का चिंतन करने से वे दोंष स्वयं उसके चरित्र में चले आते हैं और उसके गुणों पर चिन्तन करने से वे गुण भी चले आते हैं। दूसरों के गुणों अथवा दोषों में रुचि लेना अपने आप में उन गुणों या दोषों की ओर प्रवृत्तिका परिणाम है। जिस प्रकार की मनोवृत्ति किसी मनुष्य की होती है उसी प्रकार की दूसरे

लोगों की कमजोरियों अथवा खूबियों की वह चर्चा करता है। इस प्रकार की चर्चा से वे प्रवृत्तियाँ और भी बढ़ जाती हैं। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति के किसी दूसरे प्रकार के दोष की खिल्ली उड़ाता है, उसे बार-बार चिढ़ाता है अथवा उसकी नकल करता है तब खिल्ली उड़ानेवाले व्यक्ति को ही वह दोष लग जाता है।

लेखक को कुछ मानसिक रोगों के ऐसे उदाहरण मिले हैं जिन के रोग का कारण दूसरे मानसिक रोगियों को नकल करना अथवा हंसी उड़ाना था। मानसिक रोगों की खिल्ली उड़ाते समय तो अच्छा लगता है परन्तु जब रोग उत्पन्न हो जाता है तब अपनी मूर्खता के लिए पछताना पड़ता है। कितने ही लोग दूसरे लोगों की दुःख की चर्चा सुन कर मन ही मन खुश होते हैं, फिर वे भी स्वयं उसी प्रकार के दुःख में पड़ जाते हैं। अपने सम्बन्धी को अथवा पड़ोसी को किसी दुःख में पड़ा देख कर जो उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता वरन् उसके प्रति हंसी उड़ाने का भाव रखता है उसे उसी प्रकार की आपत्ति में पडना पड़ता है जैसी आपत्ति में उसका पड़ोसी पड़ा था।

अभिभावकों की भूल

किशोर बालकों में दूसरे लोगों की खिल्ली उड़ाने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। इस प्रवृत्ति को रोकने की चेष्टा जब उनके अभिभावक नहीं करते तो वे अपने बच्चों का जीवन दुखमय बना देते हैं। वास्तव में अभिभावक ही बालक की किसी प्रकार की मनोवृति को प्रोत्साहन देते अथवा उसे बढ़ाने से रोकते हैं। जब बालक किसी दूसरे बालक की नकल उतारता है तो कुछ माता-पिता मन ही मन खुश होते हैं। इस प्रकार बालक की यह प्रवृत्ति बढ़ जाती है और फिर उसको और उसके पिता को इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। कुछ दिन हुए लेखक एक धनी सुशिक्षित घर के एक किशोर बालक की मानसिक चिकित्सा कर रहा था। इस बालक में अनेक प्रकार के झक्कें और व्यवहारों की असाधारणता थी। वह कोई दवा नहीं खाता

था। कच्चे भोजन का प्रेमी था और विचित्र प्रकार की आदर्शवादी बातें करता था। उसे कल्पित पेट का रोग भी था जिसके कारण वह बहुत चिल्लाता था। उसके चाचा उसकी खबर लेने बहुत कम आते थे और उसका एक चचेरा भाई तो उसकी खिल्ली उड़ाया करता था। कभी कभी लड़के की माँ अपने परिवार के लोगों की उदासीनतापर दुःख भी प्रकट करती थी। कुछ समय के बाद जब वह बालक अच्छा होने लगा तब उसके खिल्ली उड़ानेवाले चचेरे भाई को मानसिक रोग होना प्रारम्भ हुआ। वह पहले तो अनेक झक्की बातें करता रहा, पर पीछे उसके रोगने भीषण रूप धारण कर लिया और उसकी हालत अपने चचेरे भाई की हालतसे भी बुरी हो गयी।

लेखक के पड़ोस में एक नवयुवक रहता है। उसे दमेका रोग हो गया है। उसका दमा इतना भीषण है कि वह कभी-कभी वमन कर डालता है उस का कथन है कि उस ने इस बीमारी को पड़ोस के एक एक दमे के रोगी की नकल करने से पा लिया है। वह जब किशोर अवस्था का था तो वह उक्त दमे के रोगीकी समवयस्क बालकों के सामने नकल किया करता था अब स्वयं उसे ही वह रोग हो गया। एक दूसरा लड़का एक कालेज की महिला की नकल करता था। वह महिला विशेष प्रकार से अकड़ कर हाथ झुलाती हुई चलती थी जिस से सभीका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था वह लड़का पास के स्कूल में पढ़ता था। अब उसको आदत ही उक्त महिला के समान चलने की बन गयी है और इस के कारण उसकी सभी हँसी उड़ाते हैं। वह अपनी इस इल्लत से परेशान है, पर अब करे क्या? लड़के उसे चिढ़ाते हैं, वह हेडमास्टर से शिकायत करता है, पर उसके दुःख का अन्त नहीं होता।

हकलाने का संक्रामक रोग

नकल करने से हकलाने का रोग उत्पन्न हो जाना तो इतना अधिक देखा जाता है कि हकलाने को सक्रामक रोग कहना अनुचित न होगा। कुछ हकलाने वाले बालक बुद्धि में प्रवीण होते हैं। जिन बालकों को

हकलाने का रोग जन्मसे नहीं होता वरन् छूत के कारण होता है उन्हें अपने हकलाने के लिए दुःख होता है। वे चाहते हैं कि उनका हकलाना छूट जाय, पर उनका हकलाना जाता नहीं। जितना ही अधिक वे इस रोग से परेशान होते हैं उनका यह रोग और भी बढ़ता है। कुछ दिन पहले एक बुद्धि में प्रवीण बीस वर्ष का युवक लेखक के पास आया था। वह स्थानीय कालेज का विद्यार्थी है। उसे हाल में अनिद्राका रोग हो गया था उस से बात चीत करते समय पता चला कि वह मुँह बना कर बोलता है और हकलाता है। इस के कारण पर अनायास प्रकाश पड़ा। उस के साथ लेखक का भतीजा पढ़ता है। इस छात्र की नकल दूसरे छात्र करते हैं। वह कभी कभी अपने मित्रों को कहता है 'इन्हें नकल करने दो, इन्हें भी यही रोग हो जायगा। मैं भी इसी प्रकार एक हकलाने वाले बालक की नकल करता था और मैंने इस का फल पाया।' यह बालक प्रायः कक्षा में प्रथम रहता है. वह सभी विषय अच्छी तरह से पढ़ता है, पर सभा में कोई भाषण नहीं कर सकता। अपने हकलाने और मुँह बनाने के दोष के कारण उसे चुप चाप बैठे रहना पड़ता है।

लेखक को कल ही एक दूसरे बीस वर्ष की आयु के व्यक्ति का हकलाने के रोग के सम्बन्ध में सलाह प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित पत्र मिला। इस पत्र से दूसरों के दोषों की खिल्ली उड़ाने के दुष्परिणाम पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पत्र-लेखक लिखता है—

"यह सुन कर कि आप एक अच्छे मनोवैज्ञानिक हैं, मुझ को आप की राय का लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बात यह है कि मैं रुक रुक कर या हकला कर बोलता हूँ जिससे कि मुझे हार्दिक वेदना होती है। मैंने इसको दूर करने का काफी प्रयत्न किया और कर रहा हूँ परन्तु इससे कुछ नहीं होता। सभा-सोसाइटियों में बोलने की प्रबल इच्छा रखते हुए भी नहीं बोल पाता। मेरे हकलाने का कारण—मैं बचपन से नहीं हकलाता बल्कि जब मैं शिशु की अवस्था में यानी ७-८ वर्ष का था, मैंने हँसी-मजाक में एक लड़के की नकल की। उस समय

मुझे कुछ भी ज्ञान न था कि इस का प्रतिफल क्या होगा और अब मुझको उस मूर्खता पर पछताना पड़ता है। आप मुझ को अपना ही अनुज समझ कर कोई उपयुक्त राय देंगे। इस समय मेरी उम्र २० साल की है, यानी मुझ को इस हालत में रहते हुए १२ वर्ष हो गये और मैं इसी प्रकार रहा तो अपने जीवन में कुछ भी समाज-सेवा नहीं कर सकता, साथ ही साथ जीवन को व्यर्थ ही समझता हूँ।"

यह पत्र कितना हृदयद्रावक है! इससे यह तो निश्चित होता है कि दूसरे लोगों की किसी प्रकार की बुराई की चर्चा करने, उनके दोषों की खिल्ली उड़ाने का बड़ा भयंकर परिणाम होता है बुराइयाँ छूत के रोगी की तरह हमें भी लग जाती हैं। एक बार जब अपनी मनोविज्ञान की कक्षा में सांकेतिक चेष्टाओं पर लेखक बात चीत कर रहा था तो कक्षा के एक विद्यार्थी ने अपनी ही इल्लत की बात सुना दी। उसे यह इल्लत है कि वह कुछ-कुछ देर बाद विशेष प्रकार का मुँह बनता रहता है। यह एक प्रकार का नशा-सा हो गया है। मुंह बनाये बिना उससे रहा हो नहीं जाता पर जिससे दूसरे लोग उसके मुँह को ओर देख कर हँसे नहीं, इसलिए वह छिप कर मुंह बनाता है। कभी-कभी अपना मुंह बनाने के लिये उसे कक्षा छोड़ कर अथवा अपने साथियों को छोड़ कर अकेले में जाना पड़ता है, जब मुँह बना लेता है तब वापिस आता है। इस का कारण बताते हुये उसने कहा कि जब मैं मिडिल स्कूल का छात्र था तब अपने जिले के एक कांग्रेसी नेता के व्याख्यान देने के ढंग की नकल अपने साथियों के समक्ष किया करता था। यह नेता बोलते समय विशेष प्रकार का मुंह बनाते थे। लड़के उसकी नकल को देख कर खूब प्रसन्न होते और इससे उस लड़के को अपने खिल्ली उड़ाने के कार्य में प्रोत्साहन मिलता था पर अब उसका खिल्ली उड़ाना ही उसकी परेशानी का कारण हो गया। अब दूसरे लोग उसकी खिल्ली न उड़ावें, इस का उसे सदा भय लगा रहता है।

जो दूसरों की मूर्खता पर हँसता है उसकी मूर्खता पर फिर दूसरे

लोग हँसते हैं। एक बार लेखक एक दार्शनिकों की सभा में बैठा था। उस में एक लेखक का साथी एक गम्भीर दार्शनिक विषय पर लेख पढ़ रहा था। वह इतने जोश के साथ उस लेख को पढ़ता था कि उस का पढ़ना हास्यास्पद बन गया था। सभा के कुछ श्रोता इस पर मुस्कराये। सभापति अपने आप को भारी पण्डित समझते थे। वे सदा गम्भीर बने रहते थे, पर उन में दूसरों को कटु आलोचना की मनोवृत्ति थी। वे अपना मुस्कराना पहले तो रोके रहे पर जब उनका मुस्कराना प्रारम्भ हुआ तो उसने विस्फोटक का रूप धारण कर लिया वे हंसते हंसते बेहोश हो गये और हंसती हुई बेहोशी की अवस्था में ही उन्हें सभा से उठा ले जाना पड़ा। सभा फिर भंग हो गयी।

पाप का प्रायश्चित्त

जब किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसका अन्त होना सरल नहीं होता। जो व्यक्ति रोग से जितना परेशान होता है उस का रोग उतना ही बढ़ता है। रोग के विषय में चिन्ता करने से, उस से डरने से वह और भी प्रबल होता है। रोग परेशान होने की मनोवृत्ति है। जो व्यक्ति अपने पाप का प्रायश्चित नहीं करना चाहता उसे बार-बार दण्ड सहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति अपने पाप का प्रायश्चित करने को तैयार हो जाय तो उस का पाप नष्ट हो जाय। पहले तो आत्मस्वीकृति ही कठिन होती है। बार-बार दुःख उठाने के परिणामस्वरुप मनुष्य में आत्मस्वीकृति की मनोवृत्ति आती है। फिर उसे अपने किये के लिए पाश्चात्ताप होता है। यह आत्मसुधार की पहली सीढ़ी है। पर आत्मसुधार केवल पाश्चात्ताप करने से नहीं होता, भूल के लिये प्रायश्चित करना भी आवश्यक है। प्रायश्चित दो प्रकार का होता है; एक सहर्ष दण्ड को भोगना और दूसरे क्षति को पूरा करना। जब तक हकलानेवाला व्यक्ति सहर्ष अपने दोष को धारण नहीं करता तब तक उसका रोग बढ़ता ही जाता है। हकलाने से परेशान न होने से वह धीरे-धीरे शान्त

होता है। फिर दूसरे लोगों की सहायता करने से भी रोग अच्छा होता है।

किसी हकलाने वाले बालक को अथवा बोलने में कठिनाई का अनुभव करने वाले बालक को बोलने में सहायता करने से अपना भी दोष नष्ट हो जाता है। जिस व्यक्ति की खिल्ली उड़ायी उसे अपनी कल्पना में चित्रित कर के उस से माफी मांगने से अपने दोष से व्यक्ति मुक्त होता है। जब मनुष्य दूसरे व्यक्ति को भगवान के रूप में मानने लगता है अथवा पूर्णता का प्रतीकमात्र मानने लगता है तो उस का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। दूसरे लोगों में पूर्णता का भाव मन में लाने से अपने दोष नष्ट हो जाते हैं।

हकलाने वाले व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। अतएव वह दूसरे लोगों में दोष ही दोष देखता है। उस की इस प्रकार की मनोवृत्ति उस के रोग को और भी बढ़ा देती है। उसे दूसरे लोगों के प्रति प्रेम का अभ्यास करना चाहिये। एक प्रकार का मानसिक दोष दूसरे प्रकार के अनेक मानसिक दोष उत्पन्न करता है, और एक प्रकार का मानसिक दोष नष्ट होने पर दूसरा मानसिक दोष भी नष्ट हो जाता है।

हृदय का रोग

हृदय का रोग प्रेम की कमी का परिचायक है। जिस व्यक्ति को अपने सम्बन्धियों का पर्याप्त प्रेम प्राप्त नहीं होता, अथवा जिस के मन में अपने भाई बहनों के प्रति द्वेष भावना, ईर्ष्या के भाव रहते हैं उसे प्रायः हृदय के रोग सताने लगते हैं। अपनी दृढ़ भावना पर धक्का लगने से भी हृदय का रोग उत्पन्न हो जाता है। जो लोग सदा दूसरों से डरा करते हैं परन्तु अपने डर को स्वीकार नहीं करते उन्हें भी हृदय का रोग उत्पन्न हो जाता है।

हृदय के रोगियों में कितनों को वास्तविक हृदय का रोग होता है और कितनों को हृदय का रोग रहने की कल्पनामात्र होती है

वास्तविक और कल्पित दोनों प्रकार के हृदय के रोगियों का मन कमजोर रहता है। हृदय के रोगियों में दूसरों के प्रति उदार विचारों की कमी अवश्य पाई जाती है । जिस व्यक्ति से मनुष्य प्रेम करता है उस की उदासीनता से, अथवा आघात करने से, अथवा उस के मर जाने से भी हृदय का रोग उत्पन्न हो जाता है। कल्पित हृदय का रोग प्रेम हीन वातावरण का परिणाम मात्र होता । उक्त कथन को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है।

लेखक को हाल में ही एक ४ वर्ष की उम्र के हृदय के रोगी को देखने का अवसर मिला। यह रोगी सरकारी कर्मचारी है और अच्छी तनख्वाह पा रहा है। उसके हृदय के रोग का इतिहास सुनने पर निम्नलिखित बातें ज्ञात हुई। इन बातों को स्वयं रोगी ने ही लेखक से कहा—

एक बार यह रोगी किसी एक हृदय के रोगी की बीमारी का वृत्तान्त सुन रहा था। उसे वह पहले से जानता था। उसे इस वृत्तान्त में ज्ञात हुआ कि वह एकाएक हृदय को रुक जाने से मर गया। जब से उस ने यह बात सुनी तभी से उस के मन में हृदय के रोग की बीमारी का भय समा गया। वृत्तान्त सुनने की थोड़ी ही देर बाद उसे ज्ञान हुआ कि स्वयं उसे ही हृदय का रोग है और उसका मर जाना किसी समय हो जा सकता है। उसे ज्ञात हुआ कि मानो उस के हृदय की गति रुक रहा है। वह एकान्त में जाकर बिस्तर पर लेट गया डाक्टर की बुलाहट हुई। डाक्टर ने उस के हृदय की परीक्षा की, पर उस के हृदय की बीमारी का कोई संकेत नहीं मिला। डाक्टर के इस आश्वासन के प्राप्त होने पर कि उन्हें किसी प्रकार का हृदय का रोग नहीं है उन का मन कुछ समय के लिये शान्त हुआ।

इस घटना के पश्चात् उन्हें हर समय हृदय के रोग का भय बना रहने लगा। वे जितना ही इस रोग के भय को अपने मन से निकालने का चेष्टा करने लगे वह उतना ही बढ़ने लगा। एक बार उनका झगड़ा उन के एक सम्बन्धी से हुआ। यह रात के समय हुआ। इस झगड़े

पश्चात् उन्हें ज्ञात हुआ मानो उनके प्राण अब निकलने जा रहे हों। रात किसी प्रकार कटी। उनके हृदय के रोग का भय इस तरह दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। अब उन्हे चलने फिरने और कोई कठिन परिश्रम करने में भय होने लगा अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि वह अपने हृदय की भले प्रकार से परीक्षा हृदय के रोग के विशेषज्ञ से करावे। इस के लिये वे बम्बई गये और हृदय के रोग के एक विशेषज्ञ से अपने हृदय की दशा के विषय में परीक्षा कराने लगे। इस परीक्षा में दो दिन लगे। इस विशेषज्ञ ने दो दिन के बाद अपनी परिक्षा की रिपोर्ट दी। पर इस के पूर्व एक विशेषज्ञ के साथ काम करनेवाले एक नवसिख डाक्टर ने अपनी ही रिपोर्ट उस रोगी को दे दो। इस में रोगी के रोग की भयंकरता का भली प्रकार से चित्रण किया गया था। यह रिपोर्ट रोगी को सन्ध्या समय मिली। इस रिपोर्ट के पढ़ते ही रोगी के होश हवास जाते रहे। उसे उसी समय से हृदय में भारी पीड़ा होने लगी और उसे अनुभव होने लगा कि वह अब मरता है, तब मरता है। पीछे जब विशेषज्ञ को बुलाया तो उसे ज्ञात है कि उसका हृदय ठीक है और हृदय की गति रुक जाने का कोई भय नहीं होना चाहिये।

इस घटना के बाद उक्त रोगी को कुछ सन्तोष हुआ और कुछ काल के लिये चैन मिली परन्तु पीछे फिर से हृदय के रोग के विचार सताने लगे। उस का हृदय का दर्द बढ़ने लगा। लगातार हृदय के रोग के भय की मानसिक अवस्था में रहने के कारण उसे कुपच, कोष्ट बद्धता और रुधिर की कमी की बीमारी होने लगी इन बीमारियों का वह अब उपचार कराने लगा। किसी प्रकार की दवा खाना अब नित्य का काम हो गया। डाक्टर की सहायता बिना अब जीना भी मुश्किल हो गया। लेखक का एक मित्र एक बार इस रोगी के पास गया उस ने इन दोनों के साथी की हृदय की गति के एका एक रुक जाने से मृत्यु हो जाने का समाचार इसे सुनाया। इस समाचार सुनते ही यह रोगी बेहोशी जसी अवस्था में हो गया। वह एक

बिस्तर पर तुरन्त लेट गया । उसे मालुम हुआ कि मानो उसके प्राण अभी निकलते हैं डाक्टर बुलाया गया । कुछ दवा दी गई । डाक्टर ने आश्वासन दिया कि उस का हृदय ठीक तरह से चल रहा है । फिर कुछ मन को धैर्य हुआ ।

बार बार इस प्रकार का अनुभव होने पर यह रोगी फिर से बम्बई गया और अब को उसने चार हृदय के रोग के विशेषज्ञों से अपनी परीक्षा करायी । किसी विशेषज्ञ ने नहीं बताया कि उसे भयानक हृदय का रोग है । इस रोग के भय के कारण जो शारीरिक कमजोरी उस में आ गई थी उसी को उन्हों ने बताया । फिर यह रोगी बम्बई से वापस आया । परंतु तिस पर भी उस के रोग का सन्देह मन से नहीं गया । उस के मन में बार बार आता है कि उसे हृदय का रोग है जिस का डाक्टर लोग पता नहीं चला सकते । अन्त में उसके एक मित्र ने उससे कहा कि उस का हृदय का रोग किसी मानसिक ग्रंथि का परिणाम मात्र है उस का रोग शारीरिक नहीं अपितु मानसिक है ।

इस बात को सुन कर इस रोगी ने लेखक की खोज की । ऐसे रोगों का वास्तविक कारण जानने के लिये रोगी का काफी समय चिकित्सक के साथ ठहरना आवश्यक है । स्वयं रोगी न तो अपने रोग का वास्तविक कारण जानता है और न उसके सामान्य व्यवहारों से इन का पता चल सकता है । रोगी अपने रोग के कारण के विषय में जो कहता है उस से वास्तविक कारण व्यक्त न हो कर उस के ऊपर पर्दा और पड़ जाता है । वास्तविक कारण को जानने के लिये रोगी के अचेतन मन का अध्ययन करना आवश्यक है । अचेतन मन की स्थिति समझने के लिये हमें रोगी के उन व्यवहारों को देखना पड़ता है जो वह जान बूझ कर नहीं वरन अकस्मात करता है अथवा जो उसके स्वभाव का अंग बन जाते हैं । इस के लिए रोगी के स्वभाव के विषय में, उसके दूसरे लोगों के साथ सम्बन्ध के विषय में उस के मित्रों तथा नौकर चाकरों से पूछ ताछ करनी पड़ती है। पर इस सब पूछ ताछ में ध्यान रखा जाता है कि स्वयं रोगी इस बात

का न जाने कि उस के गुप्त जीवन का अध्ययन किया जा रहा है। रोगी की सांकेतिक चेष्टाओं के ऊपर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। रोग से सम्बन्धित बहुत सी उपयोगी बातें इन्हीं से ज्ञात हो जाती हैं। रोगी के स्वप्न आदि का अध्ययन करना भी आवश्यक है जब तक रोग का ठीक कारण चिकित्सक नहीं जानता तब तक रोग का उचित उपचार होना असम्भव है।

उक्त रोगी के पास लेखक चार घंटे के करीब ठहरा। वह उस की नौकरी के स्थान से घर पर जा रहा था रास्ते में वह एक स्टेशन पर लेखक से मिलने के लिये उतर गया। वहाँ पर उस के एक रिश्तेदार भी रहते थे। वे स्टेशन से आधी मील की दूरी पर थे। उन से मिलने जाना भी आवश्यक था। लेखक चाहता था कि वह इस रोगी को एक दो दिन अपने ही घर ठहरा ले। परन्तु जैसा पीछे ज्ञात हुआ उसे अपने घर में ठहराना बड़ा ही कठिन था। रोगी स्वयं किसी के घर ठहरना नहीं चाहता था। जब यह रोगी अपने सम्बन्धी के घर से वापस आ रहा था, उसी समय लेखक उससे मिला। उसे आधा मील चलना बड़ा कठिन हो गया था। यदि कोई ताँगा, बग्गी मिलती तो वह उस में बैठ लेता। पर कोई ऐसी वस्तु न मिली। वह कठिनता से ऊँची जगह पर चढ़ सकता था उसे सदा हृदय की गति रुकने का भय बना रहता था। रोगी ने स्टेशन के ठहरने के कमरे में दो घंटे तक अपने रोग का इतिहास सुनाया। इसके पश्चात् ज्ञात होता था कि उस के बदन में कुछ स्फूर्ति सी आ गई है क्यों कि वह अब आराम कुर्सी पर लटकने के बदले हमारे एक मित्र के साथ टहलने लगा। बात चीत करने में जो कठिनाई उसे हो रही थी वह बहुत कुछ जाती रही।

इस रोगी की आदतों के बारे में और उसके सम्बन्धियों के व्यवहार की जानकारी प्राप्त करने के लिए लेखक ने उस के एक मित्र की सहायता ली। यह मित्र लेखक का भी मित्र है और रोगी का पुराना सहपाठी है। वह उस के विषय में बहुत जानता है। इस से पता चला

है कि रोगी के कोई पुत्र नहीं है। उस के दो पुत्रियाँ हैं जो विवाहित हैं। बड़ी पुत्री के एक सन्तान भी हैं जिसे रोगी प्रायः अपने ही पास रखा करता है। रोगी के दोनों जमाइयों में मनोमालिन्य रहता है। छोटा जमाई सोचता है कि रोगी अपना अधिक धन बड़े को देता है, अतएव वह अपने ससुर से असंतुष्ट है। इस झगड़े के कारण रोगी को मानसिक अशान्ति रहना स्वाभाविक है।

रोगी धन संचय में लगन रखता है। वह सब प्रकार से खर्च की कमी करता है। मित्र ने कहा कि बड़ा आफीसर होने पर भी जब वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है तो वह छोटा सा बिस्तर ले जाता है। इस के कारण उसे शारीरिक क्लेश भले ही हो पर पैसा बचाने के लिए वह अधिक सामान नहीं ले जाता। स्वयं लेखक ने देखा कि वह कुलिय को पैसा देने में किफायत करता था। जहाँ उस की स्थिति का दूसरा आफीसर चार आना या आठ आना देता वहाँ वह दो आना ही देता था। इस प्रकार उस ने कुछ रुपया अपने पास जोड़ लिया है।

रोगी से बातचीत करने से पता चला कि उसे कोष्ठबद्धता का भी रोग है। यह रोग प्रायः सभी पैसे के प्रति प्रेम करने वाले लोगों को होता है। इस समय वह स्वाभाविक रूप से शौच नहीं जा सकता। मल पेट में देर तक ठहर ने से कड़ा हो गया और जब उसने उसे बाहर निकालने के लिये कुछ प्रयत्न किया तो उसे मालूम होने लगा कि उस के हृदय की धड़कन बढ़ रही है। इस के कारण उस ने यह प्रयत्न करना छोड़ दिया तभी से वह अब एनीमा के द्वारा ही मल को पेट से बाहर निकालता है। इस कारण वह दूसरे लोगों के घर पर भी ठहर नहीं सकता।

रोगी से मिलने के कुछ दिन बाद पता चला कि उस का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं है। उस की स्त्री उस से लड़ा करती है और अपने पति के ऊपर अपनी प्रभुता स्थापित करने की चेष्टा करती रहती है। यह रोगी काम वासना के प्रकाशन में सदाचारी है। दूसरे

लोगों से वह लड़ाई झगड़ा करना पसन्द नहीं करता। साधारणतः दूसरे लोगों को उस के व्यवहार के प्रति कोई आपत्ति नहीं रहती। उस के दूर के सम्बन्धी उस को भला आदमी कहते हैं। इस के मित्र ने उस की एक बात की प्रशंसा की। उस ने अपने मित्र के लड़कों को पढ़ाने में रुपया खर्च करने के लिये प्रोत्साहन दिया और एक लड़के को साइकिल खरीदने के लिये ५००) भी उधार दिया। रुपया पट जाने की चिन्ता को छोड़ देने के लिये उस ने कहा। यह रोगी अपने पास एक सात वर्ष के नाती को रखता था और उसकी देख भाल करता था यह भी एक भली बात है।

रोगी के विषय में जो कुछ अब तक जाना गया उस से यही निष्कर्ष निकलता है कि पहले तो रोगी की काम वासना की तृप्ति नहीं हुई। उसे अपने विवाहित जीवन से कुछ शारीरिक भोग मिला भले ही हो, पर इस से उसे मानसिक संतोष नहीं हुआ। कर्कशा स्त्री के सहवास से शारीरिक अथवा मानसिक नपुंसकता आती है अर्थात् इस से काम वासना का दमन होता है। काम वासना के दमन होने पर प्रेम के भावों का विकास नहीं होता। काम वासना और प्रेम का विकास साथ साथ होता है। दैवी प्रेम काम वासना के शोध का पारिणाम है जब मनुष्य को पर्याप्त प्रेम प्राप्त नहीं होता तो वह अपनी इस कमी की पूर्त्ति दूसरे प्रकार से करने लगता है। फिर वह पैसा जोड़ने लगता है। मनुष्य में जितनी नपुंसकता आती जाती है उतनी ही उस में पैसा जोड़ने के प्रति लगन बढ़ती जाती है। यह पैसे का प्रेम उसमें मानसिक नपुंसकता और बढ़ा देता है। इस के कारण उसमें अनेक दूसरे मानसिक और शारीरिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। कोष्ठबद्धता की बीमारी इन्हीं विकारों में से एक है। कृपण मनुष्य जिस प्रकार "हाथ में मैल" अर्थात् पैसे का त्याग नहीं करना चाहता, इसी प्रकार वह शरीर के मैल का भी त्याग नहीं करना चाहता। जैसे उसके घर में धन संचित रहता है, उसी प्रकार उस के पेट में मल संचित रहता है और दोनों प्रकार के मलों

का परिणाम एक सा ही होता है—एक से मानसिक रोग की उत्पत्ति होती है और दूसरे से शारीरिक रोग की। उदारता के भावों को मन में लाने से एक ओर मानसिक मल का त्याग होता है और दूसरी ओर शारीरिक मल का। इस से प्रेम के विचार प्रबल होते हैं और फिर न केवल पेट के रोग वरन हृदय के रोग भी इस से अच्छे हो जाते हैं। प्रेम के प्रवाह से मनुष्य की मानसिक नपुंसकता भी दूर हो जाती है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक औषधि है जिससे सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग नष्ट होते हैं। धन का संचय करना स्वयं एक व्याधि है। यह अपने आप में आत्महीनता की भावना का परिणाम है। जिस मनुष्य का मन सच्ची महानता से वंचित रहता है, वह झूठी महानता की खोज करता है। सच्ची महानता मनुष्य में प्रेम की वृद्धि से आती है और झूठी महानता धन की वृद्धि से। धन का त्याग मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि और मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक है। जब मनुष्य उदार मनोवृत्ति का हो जाता है तो अनेक प्रकार के रोगों का स्वभावत अन्त हो जाता है।

हृदय के रोग का विशेष सम्बन्ध मनुष्य की प्रेम भावना से ही रहता है। जिस व्यक्ति में पहले से ही भावों का संघर्ष रहता है जिस के अचेतन मन में कामवासना सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थियां रहती हैं वही दूसरे लोगों के हृदय के रोग की कहानी सुन कर अपने आप में भी उस रोग की अनुभूति करने लगता है। किसी मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति तादात्मकता का भाव अकारण स्थापित नहीं होता है। जिस व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति तादात्मकता का भाव स्थापित हो जाता है उस में और दूसरे व्यक्ति में स्वभाव की समानता रहती है। यह स्वभाव की समानता ऊपरी दृष्टि से उस के व्यवहार देखने से ज्ञात नहीं होती। ऊपर के दृष्टान्त में अपने मित्र के द्वारा जिस व्यक्ति के हृदय की गति अवरोध से मृत्यु का वृत्तान्त रोगी ने सुना था और इस के कारण स्वयं उसे

हृदय की गति बन्द हो जाने का भय हो गया था वह एक कृपण मनुष्य था। उस ने बहुत सा पैसा इकट्ठा किया था। उस के कोई सन्तान नहीं थी। प्रस्तुत रोगी को संतान तो थी, पर उस का खर्चा कराने वाली संतान नहीं थी। उस में उसी प्रकार का धन का लोभ था जैसा कि मर जाने वाले व्यक्ति के मन में था। इस लिये ही उस के अचेतन मन का उक्त पुरुष से तादात्म्य हो गया और इस के परिणाम - स्वरूप उसे मृत्यु के दुःख की अनुभूति हुई।

जब मनुष्य की काम वासना का दमन होता है और उस की शक्ति का प्रेम के भावों की वृद्धि में प्रयोग नहीं होता तो उस में अपने आप को किसी प्रकार महान बनाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। प्रेम का भाव मनुष्य के मन में साम्य भाव स्थापित करता है और प्रेम का अभाव उस में विषमता की स्थिति उत्पन्न करता है। प्रेम से वंचित हृदय दुःखी रहता है। इस दुःख को भुलाने के लिये, वह धन संचय करने लगता है। पर इस से उसकी मानसिक व्याधि और बढ़ जाती है। उस के आस पास के लोग अब उस के ईर्ष्यालु हो जाते हैं। वे उस का कल्याण न चाह कर उस का विनाश चाहने लगते हैं। इस के कारण उस के मन में अनेक प्रकार के अभद्र विचार आने लगते हैं। वह इन अभद्र विचारों का आना रोक नहीं सकता। धन का अधिक संचय करना अपने आप को दूसरों से बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा है। इस प्रयत्न से दूसरों के मन में और भी दुर्भावना के विचार उठना स्वाभिविक है। इस की प्रति—क्रिया स्वरूप स्वयं धन संचय करनेवाले के मन में अनेक प्रकार के पाप पूर्ण वचार आते हैं। ये विचार ही उस के मानसिक रोग की जड़ है। इस से शारीरिक रोगों की भी उत्पत्ति होती है। स्वयं धन संचय की मनो वृत्ति कोष्ठ बद्धता का रोग उत्पन्न करती है और अमैत्री भावना का अभ्यास हृदय के और पेट के अनेक प्रकार के रो उत्पन्न करता है। हृदय का रोग उसी व्यक्ति को होता है जो एक और अपने पारि वारिक प्रेम से वंचित है और दूसरे ओर जिसे सदा अपने सम्बन्धी परेशान करते रहते हैं।

हृदय के रोग का दूसरा उदाहरण लेखक के एक विद्यार्थी का है। इस विद्यार्थी की उमर इस समय २५ वर्ष की है। इसे आज से आठ वर्ष से कुछ न कुछ मानसिक बीमारी रही आयी है। एक समय यह अपनी बीमारी के कारण अपनी चार पा से उठ भी नहीं सकता था। उसे इधर उधर इनभेलिड चेयर पर ले जाना पड़ता था। इस का शरीर इस समय मोटा ताजा था और डाक्टर लोग इस के शरीर में किसी प्रकार के रोग का पता नहीं चला पाते थे। इस रोग के विषय में अध्ययन करने पर पता चला कि यह आत्म-निर्देश से उत्पन्न हुआ है। यह व्यक्ति अपनी किशोरा वस्था में हस्थ मैथुन किया करता था। इस के दुस्परिणामों को उस ने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में पढ़ा। उस में लिखा था कि जो व्यक्ति यह क्रिया किया करता है उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, वह पढ़ना लखना ठोक से नहीं कर सकता, उसे नपुंसकता आ जाती है, उस का भोजन ठोक से नहीं पचता, उस के सारे अंग निकम्मे हो जाते हैं। इन बातों का इस व्यक्ति के मन पर बड़ा घातक असर पड़ा। यदि किसी भावात्मक विचार का प्रकाशन कोई बालक दूसरे लोगों से नहीं कर सकता तो वह विचार उस के अदृश्य मन (अचेतन मन) में चला जाता है और वह आत्म निर्देश का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य का अचेतन मन ही मनुष्य की सभी शारीरिक क्रियाओं का संचालन करता है। मनुष्य के अचेतन मन में जिस प्रकार की धारणा अपने स्वास्थ्य के विषय में बन जाती है मनुष्य का स्वास्थ्य उसी प्रकार का हो जाता है।

अस्तु, यह व्यक्ति अपने जीवन में उन बातों को चरितार्थ करने लगा था जो उस पुस्तक में लिखी गई थीं। पहले उस की स्मृति कम होने लगी, फिर उस का लिखना पढ़ना छूट गया। उस का मन अस्थिर रहने लगा; वह उत्साह हीन हो गया। फिर उस के मन में बार बार विचार आने लगे कि वह नपुंसक हो गया है। इस का भोजन ठोक से नहीं पचता था पर उसे इस के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह होने लगे। वह अब प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तों को मान कर

कच्चा फल खाने का आदी बन गया। वह दूध भी कच्चा पीता था। पर इस से उस के स्वास्थ्य का सुधार न होकर और भी खराबी हुई, उठ बैठ नहीं सकता था। दूसरे लोग उस के रोग को बहाने बाज़ी मात्र कहते थे। अत एव वे उसके ऊपर हँसते थे। उसके मन में दूसरों के प्रति अमैत्री भावना के विचार ही आते थे। इन विचारों के परिणाम स्वरूप उसे हृदय के रोग की अनुभूति होने लगी। इस विद्यार्थी के आत्मनिर्देश द्वारा उत्पन्न रोग का उपचार मनोविश्लेषण विधि के द्वारा किया गया। उसे आश्वासन दिया गया कि हस्थमैथुन वे सब खराबियां नहीं करता जिन की उस ने कल्पना की है। कुछ दिनों में उस का पेट का रोग और दूसरे प्रकार के मानसिक रोग जाते रहे। उसे कीड़े मकोड़े आदि से भय था' वह भी जाता रहा। पर उसे हृदय का रोग बना रहा। उसे कभी भ्रम होता था कि क्षय रोग हो जायगा और कभी उसे विचार आता था कि उसे हृदय रोग के कारण मृत्यु हो जायगी। वह जब वह अपने किसी मित्र के साथ रहता था तो अपने रोग को भूल जाता था।

हृदय के रोग के संदेह का कारण खोजने पर पता चला कि इस युवक के प्रेम का आश्रय अभी तक कोई भी व्यक्ति नहीं हो पाया था। उस के माता पिता उसकी बीमारी के बढ़ने के भय के कारण उसका विवाह २५ वर्ष की अवस्था तक नहीं कर पाये थे। यदि वह किसी मित्र को प्यार करे तो वह सदा उस के पास नहीं रह सकता था। इस के दो व्यक्ति मित्र हुऐ। वह उन्हें बहुत ही प्यार करता है। जब तक वे उस के पास रहते हैं उसे हृदय का रोग नहीं सताता। वह असाधारण परिश्रम भी कर लेता है। जो व्यक्ति पहले कठिनाई से घर की सीढ़ियों पर चढ़ता था वही मोटर साइकिल से बीसो मील जाने लगा। पर जब मित्र का अभाव होता तो उसे अपना पुराना रोग फिर याद आ जाता था।

हृदय के रोग का दूसरा कारण उसका अपने बड़े भाई के प्रति द्वेष था। यह भाई घर का सबसे अधिक मान्य व्यक्ति है। विद्यार्थी

घर का मँझला बालक है। बड़ा भाई उस की सारी बीमारी को बहानामात्र मानता रहा। वह अपने सभी भाइयों के ऊपर प्रभुता जमाना चाहता था। बीमारी की अवस्था में वह रोगी के प्रति कटु व्यवहार भी करता था। इस के परिणाम स्वरूप रोगी के मन में उस के प्रति द्वेष भावना की ग्रन्थि बन गई। इस का निराकरण करना बड़ा ही कठिन था। रोगी अपने भाई के कार्यों को कभी भी क्षमा नहीं कर सकता था। उसे अपनी मां से प्रेम है। अत एव मां के द्वारा उस के भाई के प्रति विचारों में परिवर्तन करने की चेष्टा की गई। यदि जिस व्यक्ति के प्रति रोगी के मन में दुर्भावना है उस का व्यवहार रोगी के प्रति प्रेम पूर्ण हो जाय तो रोगी की मानसिक ग्रन्थि जल्दी से खुल जाय। पर ऐसा बहुत कम होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को ठीक मानता है। अपनी भूल को स्वीकार करने से मनुष्य के आत्म सम्मान को ठेस लगती है। अतएव जिस व्यक्ति के प्रति रोगी का द्वेष भाव रहता है वह भी रोगी के प्रति वैसा ही भाव रखने लगता है। इस का अर्थ यह है कि रोगी अपने रोग को दूसरे व्यक्ति पर पहुँचा सका। मानसिक रोग शारीरिक रोगों के समान संक्रामक होते हैं। मानसिक रोगी के विचार कुछ दूर तक सामान्य और स्वस्थ व्यक्ति के मन में भी पहुँच जाते हैं। यदि पहले से ही मानसिक कमजोरी किसी व्यक्ति के मन में हुई तो ये विचार और भी जल्दी से दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।

किसी मानसिक रोगी के साथ व्यवहार करते समय चिकित्सक को उसके विचारों के प्रति साक्षीभाव मात्र रखना पहले पहल आवश्यक है। रोगी की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उसकी सभी बातों को धैर्य पूर्वक सुनना पड़ता है और उसकी कठिनाई के प्रति अपनी सहानुभूति दर्शाना पड़ता है। मानसिक रोगी के मन में विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। इन ग्रन्थियों के कारण उसके विचार विशेष प्रकार के हो जाते हैं। जो व्यक्ति पहले से ही उसके विकृत विचारों का विरोध करने लगता है वह रोगी की सहानुभूति

खो देता है। फिर वह जो कुछ रोगी को कहता है उसका उलटा ही प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। इसके कारण रोगी का रोग घटने के बदले और भी बढ़ जाता है। किसी भी रोगी का सफल उपचार करना न केवल रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करना है वरन अपने आप को भी आध्यात्मिक आरोग्य प्रदान करना है। हमें अपनी सहानुभूति ऐसे व्यक्ति के प्रति देनी पड़ती है जो सहानुभूति का पात्र नहीं है, जिस का जीवन स्वार्थमय है और जो अपनी कलुषित भावनाओं के कारण ही मानसिक अथवा शारीरिक क्लेश भोग रहा है। जिस व्यक्ति में संसार के गिरे हुऐ लोगों के प्रति सहानुभूति दर्शाने की योग्यता नहीं है. वह मानसिक व्याधियों के कारण को जान कर और चिकित्सा के कार्य में हाथ डाल कर न अपने आप को और दूसरे को कोई लाभ नहीं पहुँचाता है।

किसी भी व्यक्ति को साधारणतः क्रोध का विचार मन में लाने से हानि होती है। क्रोध के विचार विनाशकारी होते हैं। जब ये विचार प्रकाशित हो जाते हैं तो वे दू सरे व्यक्ति का विनाश करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप अपने आ को भी पीछे दुःख उठाना पड़ता है। पर जब ये विचार नैतिक भावनाओं की प्रबलता के करण अथवा बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण प्रकाशित नही हो पाते तो वे मानसिक अथवा शारीरिक रोग की उत्पत्ति करते हैं अर्थात् जब विनाशकारी विचार एकबार उत्पन्न हो जाते हैं तो वे किसी न किसी का विनाश करते हैं। जब वे दूसरे का विनाश नहीं करते तो अपने आप का अर्थात् उनके जन्म दाता का ही विनाश करने लगते हैं। अवरुद्ध क्रोध के विचार हृदय का रोग, फेफड़ों का रोग, आंख का रोग उत्पन्न करते हैं। इन से अनिद्रा, मेलेनकोलिया, अकारण भय आदि मानसिक रोग भी उत्पन्न होते हैं। क्रोध के विचार मन में न आने देना ही श्रेयस्कर है। उसके लिये हर समय मैत्री भावना का अभ्यास करना आवश्यक है।

छठां प्रकरण

क्षय रोग

क्षय रोग आधुनिक जगत का व्यापक रोग है । इस के भौतिक और मानसिक दोनों कारण होते हैं। सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ संसार की गंदगी भी बढ़ती जाती है । धन का असंतुलित वितरण एक ओर बड़े बड़े धनियों की संख्या को बढ़ाता है और दूसरी ओर गरीबों की। धनी लोग शहरों में बड़े बड़े महल बनवाते हैं और गरीबों को उनके कबूतर खानों में रहना पड़ता है। वे बड़ी बड़ी फैक्टरियों में ८ घन्टे काम करते हैं और खाने पीने को पर्याप्त पौष्टिक सामग्री नहीं मिलती अतएव वे क्षय रोग के शिकार हो जाते हैं। फिर जब समाज का एक अंग अस्वस्थ है तो दूसरा आरोग्य कैसे रह सकता है। जब क्षय रोग गरीबों की झोंपड़ियों में फैलता है तो वह धनियों के महलों में भी पहुँच जाता है । इस तरह इन धनी लोगों के भव्य महल ही उनकी कब्र बन जाते हैं।

जिस प्रकार वर्तमान सभ्यता समाज का सामाजिक सन्तुलन बिगाड़कर शारीरिक रोग की वृद्धि करती है, इसी प्रकार वह मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ कर मानसिक रोगों की भी वृद्धि करती है। फिर ये मानसिक रोग शारीरिक रोगों में परिणात हो जाते हैं। क्षय रोग साधारणतः एक शारीरिक रोग माना जाता है ।इसका कारण शरीर में क्षय के कीटाणुओं का प्रवेश समझा जाता है । परन्तु आधुनिक काल के चिकित्सा विशेषज्ञों का कथन है कि यदि क्षय रोग का एक मात्र कारण वातावरण में क्षयरोग के कीटाणुओं की उपस्थिति मात्र हो तो आज कोई भी मनुष्य जीवित न रहता क्यों कि क्षय रोग के कीटाणु सभी जगह वातावरण में वर्तमान हैं । वे हमारे शरीर

में प्रवेश भी करते रहते हैं परन्तु उनका प्रभाव घातक तब तक नहीं होता जब तक शरीर अथवा मन अन्य किसी कारण से निर्बल नहीं हो जाता। निर्बल मन क्षय रोगों के कीटाणुओं का स्वागत करता है। वास्तव में ऐसा मन किसी भी घातक रोग का आवाहन करते रहता है। जब मनुष्य के मन में रोग की जड़ होती है तो रोग का बाहरी उपचार करने पर भी वह नहीं जाता।

कभी कभी रोगी को वास्तविक क्षय रोग नहीं रहता परन्तु वह क्षय रोग के भय से सदा ग्रस्त रहता है। वह बीसों डाक्टरों से अपने शरीर की परीक्षा कराया करता है। यदि सभी डाक्टर उसे कह दें कि उसे कोई रोग नहीं है तब भी उसे संतोष नहीं होता। इस प्रकार के रोगी को उसके रोग से मुक्त करना बड़ा कठिन होता है। यदि उसे क्षय रोग के संदेह से मुक्त भी कर दिया जाय तो उसे कोई दूसरे रोग का सन्देह पकड लेता है। यदि कोई भी शारीरिक रोग न दिखाई पड़े तो फिर उसे कोई बाध्य विचार ही परेशान करने लगता है। इस तरह उसे मानसिक क्लेश से छुट्टी नहीं मिलती।

क्षय रोग का अथवा क्षय रोग के भय का मानसिक कारण आत्म-भर्त्सना की भावना होती है। मनुष्य के मन में पहले क्षय रोग आता है पीछे वह शरीर में आता है। प्राकृतिक चिकित्सा के विशेषज्ञ लिंडलहार महाशय का कथन है कि आत्म-भर्त्सना एक प्रकार का मानसिक क्षय है। यह मनुष्य की मानसिक शक्ति को नष्ट कर डालता है। इसके कारण मनुष्य को वास्तविक क्षय रोग भी हो जाता है। यदि मनुष्य अपनी आत्म-भर्त्सना की आदत को छोड़ दे तो उसके अनेक शारीरिक रोग अपने आप ही नष्ट हो जावें।

क्षय रोग का भय मनुष्य की आन्तरिक मन की असफलता की भावना का प्रतीक है। जो मनुष्य अपने अपने आप को जीवन में असफल मान लेता है, जो अपने किसी प्रिय जन को खो डालता है और इसके कारण जीना नहीं चाहता वह क्षय रोग अथवा उसके भय से पीड़ित होता है। कभी कभी क्षय रोग क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति

के साथ आत्म-घात करने से उत्पन्न हो जाता है। क्षय रोग का भय भी वास्तविक क्षय रोग को उत्पन्न कर देता है। किसी प्रकार के भय से शरीर की रोग को रोकने की शक्ति कम हो जाती है अतएव रोग का प्रवेश सरल हो जाता है। मनुष्य को क्षय रोग का भय तभी हो जाता है जब उसके मन का साम्य बिगड़ जाता है। जब उसके भीतरी और बाहरी मन में द्वन्द्व की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यदि मनुष्य के आन्तरिक द्वन्द्व को समाप्त कर दिया जाय तो उसके क्षय रोग के भय का भी अन्त हो जाय।

क्षय रोग के निराकरण के लिये रोगी के दबे भावों का रेचन करना आवश्यक होता है। उससे कहा जाय कि उसका जीवन बेकार नहीं है, वह समाज का बड़ा उपयोगी नागरिक है। जब हम उसे किसी समाजोपयोगी रचनात्मक कार्य में लगा देते हैं तो उसका क्षय रोग नष्ट हो जाता है। जिनको क्षय रोग नहीं वरन् उसका भय मात्र है उन्हें रचनात्मक कार्य में लगाना ही इस भय से मुक्ति दिलाना है। रोगी के दबे आत्म-ग्लानि जनक भावों का रेचन करना ही आवश्यक होता है।

लेखक के पास कुछ ऐसे व्यक्ति आये जिन्हें क्षय का असाधारण भय था। इनसे सहानुभूति पूर्वक नियमितरूप से बात चीत करने से इन्हें लाभ हुआ। नीचे लिखे वृतांत में क्षय रोगियों के उपचार की विधि को दर्शाया गया है।

क्षय रोग के भय की उत्पत्ति और उसका निवारण

"मैं बी० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् एक स्थानीय पत्रिका में काम करने लगा। परंतु इससे भी संतोष नहीं हुआ पुनः अध्ययन करने लगा। आशा थी कि अध्ययन समाप्त होते ही कोई न कोई कार्य करने लगूँगा परंतु दस महीने तक नौकरी के चक्कर में भटकता रहा मगर सफलता न मिली। इसी बीच मुझे जुकाम एवं खांसी हो गई मैं अधिक दौड़-धूप के कारण उचित चिकित्सा भी नहीं कर पा रहा था इस प्रकार एक महीना व्यतीत हो गया—

मेरे घर वालों को मेरे गिरते स्वास्थ्य को देखकर बड़ी चिंता हुई मैं भी उद्विग्न हो उठा एकाएक मेरे मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अब क्षय हो गया है। मैं अब जीवित नहीं रहूँगा यह सोच सोचकर मैं अत्यधिक परेशान रहने लगा। अब नौकरी की कहाँ चिन्ता हर समय क्षय का अकारण भय हृदय में समाया रहता तीन चार प्रसिद्ध चिकित्सों के पास गया मगर सभी ने कहा कि इस तरह का कोई बात नहीं है। मगर इन लोगों के बार बार समझाने के बावजूद भी क्षय के बिचार मेरे मन से न निकलते। धीरे धीरे मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मुझे सन्ध्या समय ज्वर हो जाता है। पाचन क्रिया ठीक नहीं रहती. दो एक बार खाँसी आ जाती है, सीने में कभी कभी भीषण दाह होने लगता है। इन बातों से मैं तथा मेरा सारा परिवार चिंतित हो उठा। खाने पीने में बड़ा सतर्क रहता, परहेज का भोजन खाता, गर्म किया हुआ जल पीता, तथा कोई ऐसी चीज न खाता जिसके सम्बन्ध में सुन लिया था कि इसके खाने से जुकाम हो जायगा। इस तरह घर में मेरे लिये अलग भोजन पकाया जाता। देखा जाय तो मेरा सारा व्यवहार मरीजों जैसा होता था। मैं कुछ समय तक पहले मनोविज्ञान का अध्ययन कर चुका था। मगर उसके व्यवहारिक पहलू से एक दम अनभिज्ञ था। अपने मनोवैज्ञान के शिक्षक महोदय के इस विषय पर कई भाषण भी सुन चुका था इनकी स्मृति का कुछ अवशेष अब तक बाकी था। जब मैं मानसिक परेशानी में था, मैंने अपने शिक्षक महोदय की लिखी 'आधुनिक मनोविज्ञान' को पढ़ना आरम्भ किया, जैसे-जैसे पुस्तक पढ़ता गया, मुझे ज्ञात हुआ कि उस पुस्तक में वर्णित मानसिक रोगियों की मार्मिक घटनायें मेरे जीवन में भी घटित हुई हैं। पुस्तक के पढ़ने से मुझे प्रोत्साहन भी मिला, मेरे मन में भावना आई कि वे रोगी यदि अच्छे हो गये तो मैं क्यों नहीं अच्छा हो सकता स्वयं पुस्तक के लेखक महोदय के जीवन की क्षयरोग सम्बन्धी घटना ने मेरे मन पर विशेष प्रभाव डाला—अपने चिकित्सकों के उत्तर के बाद

मुझे यह विश्वास हो गया कि मैं वस्तुतः शारीरिक व्याधि से नहीं बल्कि मानसिक रोग से पीड़ित हूँ। अतएव मैं अपने शिक्षक महोदय से मिला और सारी बातें कह सुनाई। उनसे बातचीत करते ही मुझे ऐसा बोध हुआ कि मुझे कुछ हुआ ही नहीं है। क्यों कि मुझे क्षय से इतना भय हो गया था कि तत्सम्बन्धी जितने विचार मेरे मन में आते थे उन्हें भय से किसी से कभी प्रकट नहीं करता था। यहाँ तक की डक्टर के पास जाने में घबड़ाता था कि वह मुझे क्षय का रोगी न कह दे। एक बार डाक्टर को नाड़ी दिखाते समय मेरा हृदय जोरों से धड़कने लगा। डाक्टर के 'नहीं' कहने पर कुछ सान्त्वना हुई। परंतु घर आते ही फिर वही पहले की अवस्था। मैं शिक्षक महोदय के घर से ८ मील की दूरी पर रहता था। वहाँ से पैदल मैं इनके पास आया। सारी बातें कह सुनाई। मुझे यहाँ पर मालूम हुआ कि मैं ही इस प्रकार का मानसिक रोगी नहीं हूँ। बल्कि मेरे समान और कई रोगी यहाँ पर आ चुके थे जो काल्पनिक क्षय से आतंकित थे और स्वास्थ्यलाभ किया था। मुझे पन्डित जी से वार्तालाप कर बड़ा संतोष हुआ और हर रविवार को मैं पण्डित जी के पास आने लगा। और उन्हीं के आदेशानुसार रहने लगा। मै अपने को बड़ा ही क्षीण और कमजोर समझता था। फिर भी इतनी दूर पैदल चलकर मैं अपने शिक्षक महोदय के यहाँ आता। दिन भर उन्हीं के यहां रहता विभिन्न विषयों पर वार्तालाप किया, तथा अनेक मानसिक रोगियों के विवरण को पढ़ता एवं सुनता। इस प्रका मुझे अपने मानसिक विकार का पूरा पता चल गया। मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे गत जीवन की घटनाएँ जो कि विस्मृत हो चुकी है, मेरे इस रोग के कारण हैं। अतएव उन्हें सोचना शुरु किया। जितन काम जीवन-सम्बन्धी मुख्य बातें थी उनको निःसंकोच कह डाला तथा जितनी कमजोरियाँ मैं अपने में पाता था जिसके प्रकट कर देने से मेरे सम्मान को ठेस पहुँचती एक-एक कर सुनाने लगा। इस तरह अपने दाम्पत्य जीवन की कोई भी बात छिपा न रखता। इसी बीच

जितने स्वप्न आते गये उनका भी उल्लेख करता गया तथा प्रत्येक घटनाओं तथा स्वप्नों का क्या महत्व है इसे बार बार समझने की कोशिश करता रहा।

मैं जिस समय अपनी गुप्त घटनाओं को कहता उस समय मैं बहुत उद्विग्न हो उठता था। अतएव इन घटनाओं को शिक्षक महोदय ने लिखने के लिये कहा। मगर लिखते समय भी मैं अत्यधिक घबड़ा उठता था और लेखनी रुक जाती थी। मगर मैं पुनः उस घटना को याद करता और सोचता कि यह तो मानव जीवन का एक अंग है। मेरे में यह कोई विशेष बात नहीं हैं। तब फिर लिखने लगता इस प्रकार मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि मुझे जो कुछ कहने में कठिनाई होती थी वह लिखकर दिखाने में बड़ी सुविधा हुई और आज से अपने बालकाल तक की घटनाएँ लिख गया। जिसकी मुझे कभी आशा न थी। और सोचता था कि मेरे जीवन में हुआ ही क्या है। मगर लिखते समय अनेकों विस्मृत बातें स्मरण हो आई। इनके स्मरण होने पर ज्ञात हुआ कि इतनी घटनाएँ विस्मृत होकर मेरे अचेतन मन में पड़ी थी। अपनी जीवन की घटनाओं को लिखने का मुझे शिक्षक महोदय से आदेश मिला था उन्हों ने कहा था कि 'आधुनिक मनोविज्ञान' को फिर से पढ़ो और जो जो भाव-भय बातें अनायास मन में आती जायें उन्हें लिख डालो, इस लिखने के कार्य में क्रमबद्धता का पालन करना आवश्यक नहीं है।

अपने शिक्षक महोदय के कथनानुसार जब जब मैं बनारस आता, गंगा के किनारे टहलने चला जाता और वहाँ का दृश्य आध घन्टे बैठकर देखा करता तथा वहाँ से लौटने पर सोते समय एक बार उन चीजों का स्मरण कर लेता। स्नान करना भी मैंने एक दम बन्द कर रखा था। जाड़े का दिन था अतएव बेर और अमरुद भी न खाता था। अब रास्ते में इन्हें खरीद कर अपने साथियों के साथ खाने लगता। साथियों को भी यह देखकर आश्चर्य होता। यह क्रम बराबर चलता रहा और मैं नियमित रूप से स्नान करने

लगा। मैं अपना एक समय का भोजन भी नहीं छोड़ पाता था। अब शिक्षक महोदय के आदेशानुसार रविवार का व्रत रहने लगा। पहली बार मुझे कुछ कठिनाई हुई मगर दूसरी बार से आदत भी हो गई। मैंने अपने जीवन में कभी भी उपवास नहीं रखा था। भले ही कभी खाने के अभाव में किसी दिन न खाया हो। परन्तु इस तरह व्रत नहीं रखा था। एक बार घरवालों ने एक पूजन में व्रत रखने के लिए कहा था। मगर मैं न रह सका। परन्तु अब मेरे लिये यह साधारण सी बात हो गई। अपनी इस इच्छा पर आसानी से नियंत्रण कर लिया। तभी से अब बराबर रविवार के दिन व्रत रहा करता हूँ।

मैं इस बेकारी के समय पैसे के अभाव में बड़ा परेशान था। दो बार मैंने इसलिए काम छोड़ दिया कि परिश्रम के अनुसार पैसा नहीं मिलता। मैं अपने हर एक कार्यों का मूल्य पैसे के दृष्टि से ही आँकता भले ही मैं बेकार हूँ। मगर पण्डित जी ने मेरी वास्तविक स्थिति का मुझे ज्ञान कराया कि मैंने अबतक अपने लिए क्या किया है और दूसरों के लिए क्या किया है। जीवन की सार्थकता तो कुछ करते रहने में है। कार्य स्वतः कोई बुरा नहीं होता। और न उसका करनेवाला छोटा होता है। इसी विचार से मैं स्थानीय विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य करने लगा। जिस कार्य को वेतन सहित करने से मैंने ० माह पूर्व इनकार कर दिया उसी को अब अवैतनिक करने लगा। ऐसी अवस्था के समय में मैं कुछ भी कर सकने में अपने को असमर्थ पाता था। परन्तु ज्यों ही मैं ने कार्य शुरु किया मुझे अपनी शक्ति का बोध हुआ कि किस प्रकार लगातार घन्टे कार्य कर सकता हूँ। इस प्रकार इस कार्य को सामने आते ही जिम्मेदारी का बोध हुआ। और अच्छी तरह अपना कार्य कर रहा हूँ। अब मुझे कोई कार्य कठिन प्रतीत नहीं होता

इस प्रकार धीरे धीरे मेरे स्वास्थ्य में भी काफी सुधार हुआ तथा जो बाध्य विचार मन में आते थे वह भी समाप्त हो गये। अब तो सारा समय पठन पाठन में ही व्यतीत हो जाता है। मैं कभी कभी

इस समय भी बनारस आकर मानसिक चिकित्सा सम्बन्धी बातोंपर अपने शिक्षक महोदय से विचार विमर्श किया करता हूँ। मानसिक रोगियों की अनेक प्रकार की बातों को जानकर मुझे विश्वास होता है कि मेरा रोग मेरे कल्याण के लिए ही आया था। यदि यह रोग मुझे न हुआ होता तो मैं मन की अनेक प्रकार को गुत्थियों के बारे में कुछ भी न जान पाता।"

प्रबल आवेगों के दमन से, अथवा रोगी से आत्म सात होने से क्षय रोग हो जाता है। जब इन भावों का रेचन हो जाता है तो रोग नष्ट हो जाता है। यह निम्न लिखित आत्म कहानी से स्पष्ट है।

"मैंने सन् १९४५ में एम.ए.पास किया और जुलाई से टीचर्स ट्रेनिंग कालेज बनारस में प्रवेश पाया। यह वर्ष मेरी छात्रावस्था का अंतिम वर्ष था। इसके पश्चात् मुझे कहीं पर स्वतन्त्रता पूर्वक जमकर संसार के कार्यक्षेत्र में पदार्पण करना था।

एक ग्रामीण कन्या जिसने कभी बी.ए.एम.ए. का नाम केवल अपने निर्धन पर सुशिक्षित पिता से केवल पत्र-पत्रिकाओं में उस समय सुना था, जब वह अन्य अपनी ग्रामीण सखियों को सुन्दर सुन्दर वस्त्र व नये नये गहनों में देखकर उसी प्रकार के वस्त्रों और गहनों के लिये हठ किया करती थी। मेरी इस स्वाभाविक भूख को मेरे समझदार पिता किसी पत्र-पत्रिका में किसी एम.ए.या बी.ए. पास महिला को जो स्वयं धन उपार्जन करती थी दिखा कर यह कहकर समझा देते थे कि देखो बेटी इस लड़की ने बी.ए. पास किया है अब स्वयं १००) मासिक कमाती है। नये नये वस्त्र व गहने अपनी इच्छानुसार बनवाकर स्वयं भी पहनती व जिसे चाहती है उसे भी पहनाती है। तुम भी यदि इसी प्रकार पढ़-लिख लोगी तो बस फिर तुम भी जैसा चाहोगी पहन सकोगी व दूसरों को भी पहना सकोगी। तुम्हें मुझसे माँगकर पहनने की आवश्यकता नहीं रहेगी। विद्या एक ऐसा धन है जो सब प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति कर देता है। अतः पहले पढ़लिख लो। वह और भी विद्या के बहुत से लाभ बताया करते

थे पर मुझे उस समय सबसे अधिक आकर्षक यही आश्वासन लगा करता था कि पढ़कर बिना पिताजी से मांगे मैं अपनी इच्छानुसार सुन्दर सुन्दर वस्त्र व गहने पहना करूँगी। मुझे १००) मासिक मिला करेंगे और उन्हें मैं अपनी इच्छानुसार खर्च किया करूँगी। ज्यों ज्यों मैं बड़ी होती गई और विद्याध्ययन करती गई गहनों व वस्त्रों वाला चाव दूसरे उच्च और सुन्दर भावों में परिवर्तित होता गया। समय और संग भी इसमें मेरा सहायक होता गया। भाग्य से प्रारंभ में मेरठ और अंत में काशी जैसी पवित्र नगरी, मेरे वृद्ध पिता ने मेरे विद्या अध्ययन के लिये उपयुक्त स्थान चुने। मेरठ राजनैतिक दृष्टि से पश्चिमी यू.पी. के जिलों में बहुत अग्रसर रहा है। इधर काशी विश्वविद्यालय भी अपनी मातृभूमि की सेवा में कभी पीछे नहीं रहा। अतः इन दोनों स्थानों तथा पिता की सद्-शिक्षाओं ने मेरा मार्ग मेरे सामने प्रत्यक्ष रूप से दिखला दिया।

काशी-विश्वविद्यालय में आकर कर्म वीर पूज्य महामना मालवीय के साक्षात्कार ने मुझमें कुछ करने की भावना उत्पन्न की। इस विद्या-मंदिर के कुछ व्यक्तियों ने तथा मेरी साथियों ने मेरे कुछ करने के भावों को प्रोत्साहन दे उन्हें दृढ़ बनाने में सहायता दी। तब मैं अपनी अन्य दो बहिनों के साथ नई नई योजनायें बनाने और बिगाड़ने लगी तथा बड़ी उत्सुकता के साथ उस अवसर की प्रतीक्षा करने लगी जब कि मैं अपने पैरों पर खड़ी हो कर बिखरे भावों तथा घर को (माता के देहान्त के बाद हम तीनों भाई-बहिन व पिता सब अलग अलग कभी कहीं किसी के पास कभी कहीं पर रहते थे) इकट्ठा कर सबसे प्रथम अपने वृद्ध पिता की जिस के तप व त्याग से मैं इस योग्य होने जा रही थी सेवा करती हुई उनकी इच्छानुसार अपना मार्ग ग्रहण कर सकूँ।

पर "मन चाही होती नहीं हरिचाही तत्काल" के अनुसार मेरे भाग्य ने फिर पलटा खाया और अबकी बार मुझे ऊपर की ओर उछालने के बजाय बहुत नीचे निराशा के गड्ढे में गिरा दिया। बात

यह हुई कि दुर्भाग्य से तीन महीने बीते न बीते मेरे घर से मेरे चाचाजी का पत्र आया कि मेरे पिता जी अधिक बीमार हैं। यों भी उनका-पत्र मुझे लगभग डेढ़ माह से नहीं मिला था। यद्यपि मैं उन्हें तीन चार पत्र लिख चुकी थी। उनकी यह दशा सुनकर दूसरे दिन प्रातः काल की रेलगाड़ी से जाने का मैंने निश्चय किया तथा छुट्टी के लिये एक प्रार्थना-पत्र लिख अपने प्रिंसिपल के पास जो एक दयालु पिता का हृदय रखते हैं पहुँची। प्रार्थना पत्र देखते ही उन्होंने मुझे जाने की आज्ञा दे दी साथ ही पिता के अच्छे होने पर शीघ्र ही लौट आने की नेक सलाह भी दी। उनसे विदा ले शाम की गाड़ी से मैं अपने पिताजी के पास पहुँची। जाकर उनके चरण स्पर्श किये तो उन्हों ने आशीर्वाद देते हुए कहा कि तुम व्यर्थ ही क्यों आ गईं देखो तुम्हारे पढ़ने में हानि होगी। मैंने उन्हें सान्त्वना देने के लिये उस मय झूठ का सहारा लिया और कहा कि नहीं मेरी पढ़ाई में कोई हानि नहीं होगी। कालेज में आजकल ड्रामा आदि हो रहे हैं और एक सप्ताह ब द तो पूजा की छुट्टी होने जा रही है। यह सुनकर पिता जी ने एक ठंडी सांस ली और कहा तब तुमने अच्छा किया कि तुम आगईं। मेरी बहिन ने मुझे बताया कि पिता जी बार बार तुम्हें याद कर कहते थे कि उसे लिख दो कि "वह आ जाय पर तुरन्त ही वह यह कह कर लिखने से रोक देते थे कि "नहीं रहने दो उसकी पढ़ाई में नुकसान होगा।" यह सब सुनकर तथा शरीर का ताप आदि देखकर उस दिन वहीं उन्हीं के कमरे में एक चारपाई पर सो गई। अगले दिन स्वयं मेरठ के प्रथम श्रेणी के डाक्टर के पास गई जिसने अभी तक पिता जी को मियादी बुखार बता रखा था। मेरे साथ डाक्टर महाशय ने आकर रोगी को भली प्रकार देखा और अब प्लूरेसी बता दी। मेरे अलग पूछने पर डाक्टर ने बताया कि घबड़ाने को कोई बात नहीं है। यदि यह डेढ़ सेर दूध पर आ जाँय तो ठीक होने में कोई सन्देह नहीं है। मैंने उसी दिन से उनकी परिचर्या का कार्य अपने हाथ में लिया और

धीरे धीरे उन्हें एक सेर दूध पर ले आई। अब डाक्टर आते और मुझे और मेरे छोटे भाई को सान्त्वना देते हुए बता जाते कि अब ये अच्छे हो रहे हैं। पर उनका अच्छा होना ठीक उस दीपक के तेज प्रकाश के समान रहा जो बुझने से पहले और अधिक तीव्र प्रकाश देता है। मेरे पहुँचने के २६ वें दिन मेरी आशा के विरुद्ध उनका जीवन दीप सदा के लिये बुझ गया। मेरे लिये अब संसार अंधकारमय तथा सूना हो गया। एक छोटे भाई और बहिन की शिक्षा का भार भी मेरे ऊपर आपड़ा। मुझे रह रहकर यही सिहरन उठती कि मेरे पिता ने मेरे प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण किया और उससे भी अधिक रूप से निबाहा। अब जब उनकी सेवा करने की मेरी बारी आई तो वह चल बसे।

उनकी तेरहवीं से लौटकर जब फिर बनारस आई तो २० दिन बाद ही मुझे बुखार आने लगा। १०-१५ दिन के बाद डाक्टर ने मुझे प्लूरेसी बता दी। बस अब तो कालेज जाना, उठना-बैठना सब बन्द। २४ घन्टे बिस्तर में पड़े पड़े सोचने के अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य ही नहीं रह गया। सहपाठी तथा अन्य परिचित लोग आते; कभ अच्छी अच्छी बातें कर हँसा जाते और कभी घर की बातें कह कर रुला जाते यही नित्य की दिन चर्या बन गई।

इस समय तक सबको कालेज में भी मेरी बीमारी के विषय में ज्ञात हो गया। कई प्रोफेसरों ने आने का कष्ट किया; सान्त्वना दी और डाक्टरों के विषय में सलाह दी। प्रोफेसर लालजी रामशुक्ल ने जो मनोविज्ञान के प्रोफेसर हैं, छात्रा को देखभर लेने तथा कुछ डाक्टरों को बताने के अतिरिक्त अपने को प्राचीन गुरु के रूप में उपस्थित किया। वह नित्य ही अपने बहुमूल्य समय का एक डेढ़ घन्टा मुझे देते, वे आकर केवल सान्त्वना तथा इधर उधर की बातें ही नहीं करते थे पर उन्होंने मेरे हृदय के धक्के को समझा। उनकी मुझसे बातें करने की रीति इस प्रकार थी कुन्ती, "तुम्हें रात को नींद तो ठीक आती है।" मेरे कहने पर कि हाँ मामूली

तौर से सोती तो हूँ पर मुझे प्रत्येक नींद में अपने पिता जी अवश्य दीखते हैं। इस पर पिताजी से संबंधित बहुत से प्रश्नों द्वारा वह नित्य ही बातें किया करते। उत्तर देते समय मेरा गला रुँध जाने और बोलने में असमर्थ होने पर उन्होंने मुझे पिताजी की ही बातें करने पर बाध्य किया। वह जितने समय मेरे पास बैठते मेरे पिताजी तथा उनकी अभिलाषाओं के विषय में बातें करते। मुझे उन्होंने बताया कि तुम कभी भी अपने विचारों को जो तुम्हारे पिताजी के विषय में आते हैं भुलाने या दबाने का प्रयत्न न किया करो। उनका ध्यान आने पर उन्हीं के विषय में सोचो और उनकी जो इच्छायें थी उन्हें ही अब उनका रूप देकर जो सेवा तुम व्यक्तिगत रूप से उनकी करती वह अब उनके आदेशों के पालन में ही समझो। यही सेवा अब उनकी आत्मा को अच्छी लगेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चे से अपनी शारीरिक सेवा के बदले अपने विचारों पर उसे चलते देख अधिक प्रसन्न होता है व सन्तोष लेता है। तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें इसलिये नहीं पढ़ाया था कि तुम पढ़कर उन्हें कुछ आराम दो। बल्कि उनका उद्देश्य था कि तुम पढ़ लिखकर अपने पैरों पर खड़ी होकर अपना व अपने आसपास वालों का कल्याण करो। बस इसी प्रकार यदि तुम अपने और अपने आसपास के सभी जनों के कल्याण में अपनी शक्ति लगाओगी तो यही उनकी सच्ची सेवा होगी और इसी से उनकी आत्मा को सच्ची शान्ति मिलेगी।

इन शब्दोंने मेरे मन के बोझ को बहुत कुछ हल्का कर दिया। मैं हल्कापन अनुभव करने लगी तथा बात बात में गला रुँधना व दम सा घुटना धीरे धीरे कम होने लगा। मैं अब अकेले में बचपन से अबतक की अपने पिताजी की सभी बातों पर विचार करती। पहले उनकी कोई बात याद आने पर मेरा गला घुटने लगता था और मैं उसे भुला देने अथवा दबा देने का प्रयत्न करती थी। अब रात को मुझे नींद अच्छी आने लगी। स्वप्न में पिताजी का दीखना भी कम होने लगा।

शुक्लजी ने यह भी बताया कि तुम रात को सोते समय अपने उस फेफड़े पर जिसमें डाक्टर पानी बताते हैं हाथ फेर कर मन में कहा करो "कहीं भी नहीं, इसमें पानी-वानी कहीं कुछ भी नहीं है, मेरा फेफड़ा बिल्कुल स्वस्थ है। कल मुझे बुखार बिल्कुल नहीं रहेगा आदि"। उन्होंने मेरी मित्रों से कहा कि तुम इसे "आटो सजेशन" (Auto-Sggestioa) की पुस्तक से दो पन्ने नित्य पढ़ कर सुनाया करो। इसकी बीमारी की चर्चा इससे न करके इधर उधर की ही बातें इससे किया करो।

पर यह सब होने पर भी शरीर का ताप घटता ही न था। वह कम होने का नाम ही न लेता था। मेरी परीक्षा के दिन भी पास आते जाते थे मैं स्वस्थ होने को उतावली थी पर बेबस। सुबह-शाम ९९° से १०२° तक ताप रहता था। निराश होकर मैं और भी घबड़ाती जाती थी। मैं अब यही सोचती क्या पिताजी ने इतने कष्टों के लिये मुझे शिक्षित किया था। क्या इसीलिये इतने सुन्दर सुन्दर अवसरों ने मेरे मन के भावों को पक्का किया था कि जब उनके फलने अथवा पकने का समय आया तो न तो वह स्वयं रहे और न मैं ही कुछ कर पाई। यदि इन्हें इसी प्रकार नष्ट होना था तो भगवान ने इन्हें मेरे मन में पैदा ही क्यों किया। पं० लालजीराम शुक्ल मेरी सभी क्रियाओं, स्वभाव व भावों से परिचित थे। उन्होंने मुझ को मिल्टन कवि का यह पद्य स्मरण कराया "जो ठहरते हैं भी भगवान की सेवा करते हैं" और भी इसी प्रकार उन्होंने समझाया कि यदि भगवान की यही इच्छा है कि तुम इसी प्रकार बीमार चलती रहो तथा अन्त में समाप्त भी हो जाओ तो क्या है, इससे भी तुम्हें घबड़ाना नहीं चाहिये। तुम जिस अवस्था में हो प्रसन्न तथा संतुष्ट रहो। भगवान को यदि तुम से और कुछ काम लेना है तो वह अपने आप तुम्हें स्वस्थ करेगा। यदि उसे तुम्हारे कार्यों की आवश्यकता नहीं है तो तुम उन्हें करोगी क्यों? मेरे पूछने पर कि फिर अब तक की मिहनत उसने हम से क्यों कराई हम तो

गाँव में रह कर यों ही मर जाते तब ? इस पर शुक्लजी ने हँसते हुए बड़े सरल शब्दों में मुझे समझाया कि केवल इतना ही परिश्रम भगवान तुम से कराना चाहते थे तुम कर चुकीं। अब यदि और भी कराना चाहेगा तो इसके लिये वह तुम्हें स्वस्थ बना देगा इसके लिये तुम परेशान क्यों होती हो।

अपने गुरु के ये वेद वाक्य सुन कर मुझे बड़ी शान्ति मिली तथा ये ही शब्द अन्त में मेरे लिये जीवन-औषधि बन कर रहे। अब बार बार मैं इन वाक्यों को दोहराती। जब मुझे पड़े रहने से कष्ट, परीक्षा के लिये चिन्ता व घबराहट होती, बहन-भाइयों के भविष्य का ध्यान तथा अपने कुछ करने की इच्छा होती तो मैं उपरोक्त वाक्यों को गुनगुनाने लगती।

ऐसा करने से मुझे संतोष मिलता, घबराहट दूर होती तथा शारीरिक-कष्ट का भी लोप हो जाता। रात को (Auto Sggsestian) तथा जाग्रतावस्था में इन वाक्यों को दुहराना मेरे लिये जीवन बूटी सिद्ध हुआ। मुझे बनारस बी० टी० कालेज में लगभग एक माह होने जा रहा था। मित्रों को यह आभास हो रहा था कि सम्भवतया मुझे क्षय रोग हो गया है। शुक्लाजी से कभी शङ्कित भाव से मैं कहती, कि इतने दिन आखिर बुखार का चलना है क्या ? उन्होंने मुझे अनेक उदाहरण बताये कि अमुक व्यक्ति को दो साल बुखार आया, डाक्टर ने क्षयरोग बता दिया था, पर यह सब व्यर्थ ही। देखो वह कितना हृष्ट-पुष्ट है और अपना कार्य कर रहा है। उन्होंने स्वयं अपना भी उदाहरण दिया कि एक बार डाक्टरों ने मुझे हो कह दिया कि आप अब एक वर्ष आराम कर लीजिये अन्यथा आप को क्षय-रोग होने का अँदेशा है। पर देखो मैं अभी तक बिल्कुल स्वस्थ हूं। आदि आदि। एक दिन शुक्लाजी ने यहाँ तक मुझ से कहा कि "देखो यहाँ तुम्हारी मित्र कभी कभी तुम्हें घबड़ा देती हैं तथा तुम्हें शङ्कित कर देती हैं तुम मेरे घर चलो। मैंने इस विषय में अपनी पत्नी से भी राय ले ली है वह तुम्हें वहाँ रखकर इलाज कराने में सहमत

है।" मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक गया। मन ही में अपने गुरुदेव को धन्यवाद देकर मैंने उनसे कहा "अच्छा अभी तो नहीं, बाद में यहाँ असुविधा होने पर आप के यहाँ चली चलूँगी। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो भगवान ने शुक्लजी को यहाँ मेरे पिता के रूप में भेजा है। उनकी कृपा तथा सहानुभूतिमय बर्ताव ने मेरे ऊपर अच्छा प्रभाव डाला।"

अगले एक दो दिन बाद मेरा भाई जो जयपुर में पढ़ता था आ पहुँचा तथा मुझे लखनऊ अस्पताल ले गया। वहाँ दो माह इसी प्रकार रह कर मेरे अन्य संबंधियों ने भुवाली सैनेटोरियम में भोजन का प्रबन्ध किया अतः वहाँ मैं ५ महीने रही। वहाँ भी डाक्टर सदैव यही कहते, 'तुम तो बहुत शीघ्र हो इस योग्य हो जाओगी कि फिर दुबारा भी जेल यात्रा कर सको। तुम अब भी सब रोगियों से अच्छी दशा में हो। अन्य रोगियों को बता कर डाक्टर कहते यह बहुत बुरी दशा में आया था अब पूर्ण स्वस्थ हो गया है।' इन सब बातों का गहरा प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा और धीरे धीरे स्वस्थ हो गयी।"

क्षय रोग की उत्पत्ति भावनाओं के दमन से कैसे होती है और आत्म निर्देश द्वारा उससे कैसे मुक्ति मिल जाती है एक छात्र की निम्न-लिखित आत्म कहानी से स्पष्ट होता है—

"जब मेरा जन्म हुआ था तो उस समय मेरे पिता जी के ऊपर सात मुकदमे लागू थे। अतः लोग मुझे बड़ा अभागा समझते थे। जब पिता जी मुकदमे की पैरवी के लिये जाते थे तो मुझे घर से माँ बाहर निकाल कर कुछ दूर हटा कर रखती थी कि शायद मेरे दर्शन से यात्रा अशुभ न हो जाय। इन कारणों से मेरा जन्म लेना बड़ा अशुभ समझा जाता था।

मुझे न पिता जी ही प्यार करते थे न भाई जी। माँ मुझे खूब प्यार करती थी। हम तीन भाई हैं। मुझसे दोनों बड़े हैं। उन लोगों का प्रेम मेरे प्रति न था। वे लोग बचपन में तो काफी पीटते भी थे। बड़े भाई जी तो उतना न पीटते थे परन्तु उनमें जो छोटे थे वे बहुत

पीटते थे। मैं बचपन में अपने साथियों के साथ खुल कर खेल भी न सकता था। जब कभी खेल के बीच भाइयों का आना मालूम होता तो छिप जाता था अगर कहीं उनके हाथ आ गया तो बुरी तरह से पीटा जाता था।

गाँव में एक अपर प्राइमरी स्कूल था। पाँच वर्ष की अवस्था में मैं स्कूल में दाखिल हुआ। शुरू में तो मास्टर साहब मुझे प्यार करते थे। वे हमारे भाई एवं बहनों को भी पढ़ाये थे। वे रात में मेरे ही घर खाना खाते और हम बच्चों को पढ़ाया करते थे। वे लड़कों को बहुत पीटते थे। मेरे भाइयों को भी वे इसी तरह पीटते थे। लड़कों को पीटने के लिए वे गाँव में प्रख्यात थे। मैं भी उनसे न बच सका। एक दिन की बात है कि मुझे गणित का एक सवाल लगाने को दिया गया। मैंने हिसाब गलत किया। इस पर उन्हों ने मुझे रोल से पीटना शुरू किया। तब तक दूसरे लोग पहुँच गये और छुड़ा दिये। मैं स्कूल से लौटता था तो यही सोचा करता था कि इनके पंजे से कब निकलूँ। मैं पढ़ने में कमजोर न था परंतु गणित में कुछ कमजोर अवश्य था अन्य विषय मेरे काफी अच्छे थे। मैं पाँचवी श्रेणी तक क्लाश में सर्वप्रथम भी होता रहा। मास्टर साहब के पीटने का कारण मेरे भाई भी थे।

मैंने १९३८ ई० में पाँचवीं श्रेणी पास की। स्कालरशिप की परीक्षा भी देने गया था परन्तु सफल न हुआ। गाँव में कोई मिडिल स्कूल न रहने के कारण हमारे यहाँ से कोई बाहर पढ़ने न जाता था। एक दो पढ़ने भी गये तो आठवीं श्रेणी तक पहुँचते पहुँचते छोड़ घर बैठ गये। मेरे समय में कोई बाहर पढ़ने तो गया ही नहीं था। गाँव से छः मील की दूरी पर एक हाई स्कूल था। कुछ वर्ष पूर्व मेरे भाई जी को पढ़ने के लिए हाई स्कूल में भेजा गया था। उनका मन पढ़ने में न लगने के कारण घर बुला लिया गया। मेरे घर के लोग यही सोचते थे कि यदि मैं भी पढ़ने के लिये भेजा जाऊँ तो नहीं पढ़ूँगा। अपर प्राइमरी पास कर मुझे इन्हीं कारणों से घर बैठ

जाना पड़ा । भाई जी नहीं चाहते थे कि मैं आगे पढ़ूँ क्योंकि वे लोग स्वयं आगे नहीं पढ़े थे । वे बचपन में मुझे सदा गधा (Dull) कहा करते थे । मेरे गधेपन की शिकायत दूसरों से भी किया करते थे । इससे मुझे बड़ा ही दुःख होता था ।

आखिर एक वर्ष बाद यानी १९४० ई० में पिता जी जोर देकर हाई स्कूल में मेरा नाम लिखा दिये । मैं छः महीने तक एक रिश्तेदार के पास ठहरा था वे लोग भी उसी स्कूल में नवीं क्लास में पढ़ते थे । छः महीने बाद वे लोग घर चले गये । अतः मुझे एक मास्टर के साथ बोर्डिङ्ग में आ जाना पड़ा । मास्टर साहब की धाक स्कूल में खूब जमी थी । अच्छे अच्छे लोगों से जान पहचान थी । लोग उन्हें इज्जत की नजर से देखते थे । इन सब के होते हुए भी आप चरित्र के लिए भी बदनाम थे । यह बात सधारणजन नहीं जानते थे परन्तु उस स्कूल से जो लड़के पास किए थे वे तो जानते ही थे । वे सुंदर लड़कों के साथ बुरा व्यवहार करते थे । बहुत से उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों में भी यही बात थी । सारे बोर्डिङ्ग का यही वातावरण था तो मैं ही कब बचने वाला था । मैं भी इसके पंजे में आ फँसा । मैं भी जब घर आया तो हाई स्कूल के अध्ययन काल में एक दो लड़कों के साथ बुरा व्यवहार किया । एक बार तो एक लड़के के साथ बुरा व्यवहार करते हुए मैं उसके पिता द्वारा पकड़ भी लिया गया था परन्तु वह बात वहीं तक सीमित रही । इसके बाद मेरी यह आदत कुछ दिन के लिये दब गयी । मैंने अब हस्तमैथुन करना शुरू किया । इसमें शुरू में बड़ा आनन्द आता था पर पीछे बड़ा दुःख भी होता था । हस्थमैथुन की मेरी आदत दशवें ग्यारहवें क्लाश तक रही । इस समय मैं स्त्री जाति से कुछ घृणा करता था । पर रात में उसके अंग याद कर उसके साथ बुरे व्यवहार भी करता था । ऐसा करने में मुझे शुरु में बड़ा आनन्द आता था पर पीछे बड़ा दुःख भी होता था ।

इस समय मैं स्वप्नदोष से भी पीड़ित रहा । मैं इसके विषय में चिन्तित रहने लगा । मेरे घर में सभी लोग भी चिन्तित रहने

घ सम हाइड्रोजन निकलता है। निम्न अंकों से यशद का संयोजनभार निकालो।

रसायनशाला का तापक्रम	२८° श
वायुमण्डल का दबाव	७६९ मम
जल वाष्प का दबाव	२८ मम.
अत वास्तविक दबाव	७६९ - २८ वा ७४१ मम

११५ घ सम हाइड्रोजन की तौल कितनी है इसे जानने के लिये इस आयतन को ०° श और ७६० मम. दबाव के आयतन मे परिणत करना चाहिये क्योकि इस प्रमाण दबाव और तापक्रम ही एक लिटर हाइड्रोजन की तौल ज्ञात है।

$$\frac{आ_1}{आ_0} = \frac{द_0}{द_1} \times \frac{ट_1}{ट_0}$$

$$आ_1 = ११५ \times \frac{७४१}{७६०} \times \frac{२७३}{३०१}$$

चूंकि १००० घ सम. हाइड्रोजन की तौल प्रमाण तापक्रम और दबाव पर ०·०९ ग्राम होती है।

$$\therefore \frac{११५ \times ७४१ \times २७३}{७६० \times ३०१} \text{ घ सम ,, ,, } \frac{०·०९ \times ११५ \times ७४१ \times २७३}{७६० \times ३०१ \times १०००}$$

$$= ०·००९१४४ \text{ ग्राम।}$$

०·००९१४४ ग्राम हाइड्रोजन ०·३ ग्राम यशद से निकलता है।

$$\text{अत. १ ,, ,, } \frac{०·३}{०·००९१४४} = ३२·८ \text{ ग्राम यशद से निकलेगा}$$

अत. यशद का सयोजनभार ३२·८ हुआ

अभ्यासार्थ प्रश्न।

१ हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के आधिक्य मे ०·५ ग्राम मैगनीसियम की क्रिया से प्रमाण तापक्रम और दबाव पर ४६५ घ. सम. हाइड्रोजन निकलता

डाक्टर साहब ने कहा कि इनके फेफड़े पर कमजोरी आ गई है यानी क्षय रोग के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। अतः फेफड़े का एक्सरे लिया जायगा। मेरा एक्सरे लिया गया और टी० एन० बनर्जी को दिखाया गया। यह बात घर पर लोगों को मालूम हुई तो लोग बहुत घबराये। माँ ने चुपके से एक ज्योतिषी के यहाँ किसी को मेरे विषय में पुछवाने के लिये भेजा। ज्योतिषी ने कहा कि उसके फेफड़े में घाव हो गया है। घरवाले बड़े चिन्तित हुए। माँ तो विशेषकर चिन्तित रहने लगी। भाई जी पटना में ही थे। वे भी घबराए हुए ही थे कि उसी रात को उन्होंने स्वप्न में एक साधु को देखा। साधु ने उन्हें धैर्य दिया कि तुम मत घबड़ाओ। रूपये की कमी होने के कारण तथा माँ को लाने के लिए भाई जी पटने से घर आये। घरवाले और भी चिन्तित हुए। जब माँ घर से पटना आयी तो वह सदा मेरे लिये ही चिन्तित रहती थी। मैं अपने जीवन से निराश हो गया था मैं सोचता था कि अब हमारी आयु तीन वर्ष की है जैसा कि क्षय रोग वालों के विषय में कहा जता है। मुझे कोई चीज अच्छी नहीं लगती थी। मैं उस समय अपने जान पहचान के व्यक्तियों से मिलना अच्छा नहीं समझता था। इसी समय एक दिन एकाएक मुझे गीता पढ़ने की याद आयी। मैंने भाई जी से गीता खरीदकर ले आने को कहा। वे मना करते रहे कि इतनी कमजोरी में किताबें न पढ़ो। मैं नहीं माना। अब मैंने गीता का एक अध्याय नित्य पढ़ना शुरू किया। मां भी गीता पढ़ने से रोक रही थी, क्योंकि वह समझती थी कि मैं बहुत कमजोर हूँ। इसी समय गीताप्रेस गोरखपुर से कल्याण का विशेषांक "संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण" भी पढ़ता था। गीता में मैंने जब यह पढ़ा कि ईश्वर सभी जगह है तो मुझे पेड़ की पत्तियों से लेकर हर चीजों में अपने इष्टदेव का दर्शन होने लगा। जब तक मैं गीता पढ़ता था तब तक मुझे आत्मभर्त्सना प्रबलरूप में नहीं होती थी। परन्तु इसके थोड़ी देर के बाद ही फिर आत्मभर्त्सना होती ही रहती थी। डाक्टर के कथनानुसार तो मैं कुछ अच्छा हो रहा था। मुझे भी इसका

अनुभव कभी कभी होता था परन्तु फिर भी शक बना ही रहता था कि मैं क्षय रोगी हूँ और बचूँगा नहीं। एक महीना पटना में रहने के बाद मैं घर आया। घर के लोग तो मेरे लिये चिन्तित थे ही और मैं भी चिन्तित था। पटना में डाक्टर ने चलने-फिरने तथा कोई विशेष भारी चीज को उठाने से मना कर दिया था। अतः मैं दश कदम भी चल लेता तो मुझे और भी शक हो जाता था कि इसका असर फेफड़े पर अच्छा नहीं पड़ेगा। अब मैं न तो चल सकता था और न कोई वजनदार वस्तु को उठा ही सकता था।

इसी समय मैंने कल्पवृक्ष की १६४४-४५ की फाइल पढ़ना शुरू किया। उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। "मैं शरीर नहीं हूं बल्कि आत्मा हूं" का बोध हुआ। इस समय मैं कल्याण गीता तथा "दी लाइट आफ भगवद्गीता" को पढ़ता था। मुझे यह तो ज्ञान हुआ कि मैं आत्मा हूं और आत्मा न तो मरता है और न उसको किसी तरह का कष्ट ही पहुँचाया जा सकता है। परन्तु शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ। इस समय मैं "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" नामक पुस्तक भी पढ़ता था इस में की कुछ क्रियाओं का अभ्यास भी करता था। इसमें लिखी हुई घर्षण-स्नान की विधियों को भी काम में लाता था। इससे बड़ा लाभ हुआ परन्तु जब मैंने इसमें हस्तमैथुन के दुर्गुणों को पढ़ा तो मैं और भी चिन्तित हुआ तथा मैं अपनी बीमारी का कारण भी यही समझने लगा। जब कोई मुझे कह देता कि अभी तक कुछ भी चेहरे में परिवर्तन नहीं दिखाई देता तो मैं और भी घबड़ा उठता। मैं तो अपने जीवन से निराश ही हो गया था अतः मैंने अपने को ईश्वर के ऊपर छोड़ दिया। जब कभी मैं सोता तो ईश्वर का ही नाम लेकर सोता। कल्पवृक्ष को पढ़ते पढ़ते तो मुझ में एक नवीन जीवन का अनुभव होने लगता। मैं अपने जीवन से निराश होने के कारण सदा ईश्वर का नाम मन ही मन लेने की कोशिश करता। कल्पवृक्ष के किसी लेख में पढ़ा था कि मनुष्य के सामने जब कभी कोई बुरा विचार आवे तो समझना चाहिये कि

वह उसके लिये अच्छा ही हो रहा है। मैं तो ऐसा न कर पाता था। जब कभी क्षय रोग की याद आ जाती या किसी रोगी को देख लेता तो फिर रोग का अनुभव होने लगता। मैं जितना ही अपने रोग के अनुभव को बाहर निकालने की कोशिश करता उतना ही रोग का विचार प्रबल हो उठता और मैं फिर निराशा में डूब जाता।

एक दिन की बात है मैं सोया था कि एकाएक मुझे यह अनुभव हुआ कि मैं आत्मा हूं और इस शरीर से भिन्न हूं तो मैं झट उठ गया और अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अब मुझे यह अनुभव होने लगा कि मैं आत्मा हूं मैं कदापि नहीं मर सकता। अब मैं सब प्राणियों से लेकर निर्जीव वस्तु में भी आत्म दर्शन करने लगा और समझने लगा कि यह दुनिया व्यर्थ है जितना जल्द हो मर जाना ही अच्छा है। मैं अब ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि—हे प्रभु! मुझे जितना जल्द हो इस संसार से ले चलो। अब मैं सदा मृत्यु का आलिंगन करने के लिये प्रसन्न चित्त से उद्धत रहता था। अब मुझे मृत्यु में ही आनन्द का अनुभव होने लगा।

जब मैंने मृत्यु से मैत्री-भावना स्थापित कर ली तो मौत से डर ही न रहा और मुझे आत्म-विश्वास हो गया कि अब मैं नहीं मरूँगा। मैं अपने शरीर के कण-कण में भी ईश्वर का दर्शन करने लगा। मैं समझता था कि जब मेरे शरीर के रोम-रोम में ईश्वर की सत्ता है तो वहाँ रोग रह ही कैसे सकता है। रोग से मुक्त होने के लिये मैंने अंडा और मछली भी खायी थी। उस समय मैंने मौत से मैत्री भावना स्थापित नहीं की थी तथा ईश्वर पर अपना जीवन नहीं छोड़ रखा था। जिस दिन मैंने अंडा और मछली खायी उस दिन अत्यन्त ग्लानि हुई और मैं बहुत रोया भी। ईश्वर से इसके लिये क्षमा भी माँगी। इससे ग्लानि कम हो गयी अब मैंने मछली माँस, अन्डा खाना छोड़ दिया।

जिस समय मैं बीमार था उस समय जब मैं भोजन करता या पानी पीता तो अच्छे विचार के साथ खाता और पानी पीता

जैसे—मैं कहता कि—"मैं स्वस्थ हो रहा हूं। यह भोजन मेरे शरीर को बल प्रदान करे" आदि। यह प्रेरणा "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" नामक पुस्तक से मिली थी।

जब मुझे ईश्वर तथा अपने आत्मा पर विश्वास होने लगा तो मुझे आत्मा और ईश्वर में कुछ भेद ही न दिखाई दिया। मैं ईश्वर और आत्मा को अभिन्न मानने लगा। मैं नित्य सुबह शाम नदी के किनारे या खुले मैदान में टहलने जाता। उस समय भी मैं अपने इष्ट देव को हर चीजों में देखता। मैं यहाँ तक बढ़ गया कि घासों पर जूता लेकर चलने से मुझे दुःख होता था। मेरे सारे दुर्गुण। (हस्त मैथुन, स्वप्न दोष, बीड़ी पीना, क्रोध करना आदि) दूर हो गये और मैं समझने लगा कि मेरा बीमार पड़ना बहुत ही अच्छा हुआ तथा इसके लिये ईश्वर को धन्यवाद भी दिया।

इसी समय गोरखपुर के शिवकुमार शास्त्री मेरे गाँव से एक मील की दूरी पर राजकुमार सोनवर्षा के यहाँ आये थे। मैं उनके व्याख्यान से अत्यन्त प्रभावित हुआ। मैं उनके अध्यात्म-मंडल का सदस्य बना। उनके बताये हुए मार्ग पर चलने की कोशिश की। व्यायाम करने के बाद शरीर को शिथिल कर आत्मा का अनुभव करना तथा प्रणाव-जप करना शुरू किया। इससे भी मुझे बड़ा फायदा हुआ। मैं अब ऐसा अनुभव करने लगा कि मैंने एक नव जीवन प्राप्त किया है। मुझे अब खराब बात चीत करने से ग्लानि होती थी। मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मैं स्वस्थ हो गया हूँ परन्तु पेट खराब होने का शक रह ही गया।

मैं १९४५ के छठवे महीना में वासुकीनाथ आया कि जलवायु परिवर्तन करने से पेट अच्छा हो जायगा। मैं वहाँ से गुरुकुल बैद्यनाथ धाम किसी तरह आया। वहाँ दो महीने बिताये। वहाँ मैंने त्रिफला और गाय के दूध का सेवन किया। इससे मेरा पेट अच्छा हो गया। मैं घर आया। इस वर्ष मैं एक दिन भी क्लास में हाजिर न था प्राइवेट परीक्षा दी मूझे पूर्ण विश्वास था मैं पास करूँगा।

ऐसा हुआ भी। मैं अब ग्यारहवें क्लास में आया और उसे बड़ी सफलता के साथ पास की। फिर मेरी हस्तमैथुन या किसी स्त्री को कल्पना की सुन्दरी समझ कर व्यभिचार करने की आदत उभड़ी तथा स्वप्न दोष भी फिर शुरू हो गया। यह बात फर्स्टईयर तक रहा। शुक्ल जी की मानसिक चिकित्सा को पढ़ा तथा अच्छे साथियों के साथ रहने से मैं स्वप्न दोष आदि से होने वाली आत्मभर्त्सना से मुक्त हो गया परन्तु सिगरेट पीने की आदत से नहीं मुक्त हुआ।

इस बार जब शुक्ल जी के सम्मुख मैंने अपनी ऊपर की सब बातें कह सुनायी और आत्म-स्वीकृत की तो मेरे स्वप्न में किसी कल्पना सुन्दरी के साथ व्यभिचार करने की भी आदत छूट गयी और सिगरेट पीने का नशा भी जाता रहा है। अब मैं किसी भी प्रकार की आत्मभर्त्सना से ग्रसित नहीं होता। अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि मैं जीवन में बड़े बड़े काम करूँगा।"

ऊपर की तीनों आत्म कथाओं से स्पष्ट है कि वास्तव में क्षय रोग का आरम्भ कल्पना से होता है, जो आगे चलकर यथार्थता में परिणत हो जाती है। शारीरिक क्षय के पहले मानसिक क्षय प्रारम्भ होता है। इस स्थिति की उत्पत्ति के तीन मुख्य कारण होते हैं—निराशावादिता, आत्मभर्त्सना और प्रेम की कमी।

जब मनुष्य के आदर्श और उसके आचरण में मेल नहीं बैठता उस समय निराशा की प्रवृत्ति का उदय होता है। निराश व्यक्ति स्वभावतः ही अपने आप को कोसने लगता है। वह अपने आप को सर्वथा अयोग्य मान बैठता है। फल स्वरूप आत्मभर्त्सना की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है। जब मनुष्य इस प्रवृत्ति को जबरदस्ती भुलाने की चेष्टा करता है तो उसका मानसिक विघटन आरम्भ हो जाता है। उसकी सारी शक्ति अपने आप से लड़ने में ही खर्च हो जाती है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति चाहे वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो भयावह होती है। इससे बचने के लिये मनुष्य प्रायः अपने दोषों को दूसरों पर आरोपित करने लगते हैं। वे अपनी प्रत्येक कमजोरी का

कारण अपने आप में न खोज कर बाहर वातावरण में खोजना आरम्भ कर देते हैं और पूर्णतया बहिर्मुखी हो जाते हैं। इस अवस्था में मन बहुत निर्बल रहता है और वातावरण का पूरा पूरा प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। आस पास के लोगों की आलोचना करते करते वह उन्हीं से अपना तादात्म्य कर लेता है। अब उसके विचार दूसरों का अहित न कर उसका ही अनिष्ट करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उसे प्रेम पूर्ण वातावरण न मिले तो निश्चय ही वह किसी न किसी रोग की कल्पना से पीड़ित रहने लगता है।

आत्मभर्त्सना को मनोवृत्ति साधारणतः काम कुचेष्टाओं आदि के ही कारण होती है। ऐसी अवस्था में यदि व्यक्ति अपना तादात्म्य किसी ऐसे व्यक्ति अथवा सत्ता से कर सके जिसे वह अति महान एवं सद्गुण सम्पन्न समझता है तो उसे आन्तरिक शांन्ति उपलब्ध होती है।

प्रेम का वातावरण प्रत्येक व्यक्ति में आशा का संचार करता है। प्रेम प्राप्त करने के लिये त्याग की आवश्यकता है। इसके लिये रोगी में त्याग की भावना का जागृत होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रायः देखा जाता है कि साधारण दान पुण्य से ही बहुत लाभ होता है। क्षय के भय से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय, बालकों की सेवा एवं रोगियों से सहानुभूति है।

प्रत्येक प्रकार की रुग्णावस्था में मैत्री भावना का अभ्यास अत्यन्त लाभ प्रद होता है। हमारी दुर्भावनायें विध्वंसक होती है। जब किसी कारण से उनके प्रकाशन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो वे हमारे ही व्यक्तित्व का विघटन आरंभ कर देती हैं। हमें अधिकतर रोग इसी लिये होते हैं कि हम उनसे भय करते हैं। क्षय के रोगियों में दबी हुई क्रोध अथवा ईर्ष्या की भावना रहती है जिसका निराकरण मैत्री भावना के अभ्यास से ही हो सकता है। जब हम यह सोच लेते हैं कि हमारे आसपास के सभी लोग भले आदमी हैं, वे सदा हमारा भला चाहते हैं, वे हमें बहुत प्रेम करते हैं, और हमारा रोग शारीरिक

और मानसिक विकारों के शोध करने के लिये ही है तो हमें स्वास्थ्य लाभ करने में देर नहीं लगती।

प्रत्येक रोग हमारे प्रायश्चित के स्वरूप होता है। अतएव यदि हम अपने उन कामों की जो हमारी आत्मभर्त्सना के कारण हैं किसी सम्मान्य व्यक्ति के सम्मुख आत्म-स्वीकृति कर लेते हैं तो हमारे हृदय का बोझ उतर जता है और दण्ड के भय से मुक्ति भी मिल जाती है।

सातवाँ प्रकरण

अनिद्रा और बेहोशी

अनिद्रा का कारण

अनिद्रा स्वयं कोई मानसिक रोग नहीं, अनिद्रा दूसरे मानसिक रोगों की सहगामी अवस्था है। अनिद्रा का रोग मन में स्थित मानसिक द्वन्द्व की सूचना देता है। अनिद्रा की स्थिति कई कारणों से उत्पन्न हो जाती है। धन की चिन्ता से, मान हानि की चिन्ता से, शोक की अनुभूति से अथवा किसी प्रकार के भय से। जब किसी प्रकार के अप्रिय आवेग का दमन होता है तो अनिद्रा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भय क्रोध, कामवासना, शोक आदि का दमन अनिद्रा की उपस्थिति कर देता है। अनिद्रा के साथ साथ दूसरे प्रकार का मानसिक रोग भी रहता है। इस रोग का पता व्यक्ति की बाहरी सांकेतिक चेष्टाओं अर्थात् असाधारण व्यवहारों से चलता है। यहाँ एक ऐसे रोगी के उपचार का वृतान्त दिया जाता है जिसे अनिद्रा के रोग के साथ साथ बेहोशी का रोग था।

एक उदाहरण

लेखक की लड़की एक बार खबर लाई कि उनकी सहपाठी कन्या की माँ बीमार है और उसने मुझे अपने रोग के विषय में सलाह लेने के लिए बुलाया है। इस महिला के पूरे परिवार से लेखक पहले से ही परिचित था। इस महिला के दो भाई लेखक के शिष्य रह चुके थे और उसकी एक कन्या भी लेखक की शिष्या रही थी। दोनों भाई और कन्या का लेखक के प्रति श्रद्धा भाव था। कन्या की माँ का भी लेखक के प्रति शुभ भाव था। उसके पिता भी योग्य

अनुभवी डाक्टर हैं। ऐसी अवस्था में मानसिक चिकित्सक की सलाह के लिये इच्छुक रहना रोग का भयंकरता का सूचक होता है।

लेखक जब उक्त महिला के पास पहुँचा तो उसकी पुत्री ने उसके रोग का सब वृतान्त सुनाया। यह लड़की बी० ए० पास कर चुकी है और मनोविज्ञान का उसने अच्छा अध्ययन किया है। वह मानसिक रोग की विशेषताओं को जानती थी। उसके कहने से इतना ही ज्ञात हुआ कि उसकी माँ को रात को बहुत कम नींद आती है, उसका आहार कम हो गया है उसका किसी काम में मन नहीं लगता, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया है और कभी कभी अचानक उसे बेहोशी सी आ जाती है और हाथ पैर ठंडे हो जाते हैं।

रोगिणी से बातचीत

फिर लेखक उक्त महिला के पास गया। इस महिला से सहानुभूति पूर्ण अनेक प्रकार की बात चीत की। उसकी बातचीत से पता चला कि वह जीवन से निराश हो चुकी है। वह कहती थी कि मुझे जीवन भार रूप प्रतीत हो रहा है। नींद नहीं आती, खाना पीना अच्छा नहीं लगता। हाथ पैर मेरे निकम्मे से हो गये हैं और कभी कभी मुझे अचानक फिट आ जाते हैं, जिन में हाथ पैर ठंडे हो जाते हैं। इस महिला को लेखक पांच छै साल से जानता था। वह छै सात वर्ष पूर्व विधवा हो गया थी। उसके बाद उसे आज तक यह रोग नहीं हुआ था। उनकी आयु लगभग बैयालीस वर्ष की है। उसके दो लड़के और दो लड़कियां है। बड़ी संतान की उमर कोई बीस साल की और सबसे छोटी की आयु दश वर्ष की है।

लेखक ने महिला के पुराने वातावरण में किसी विशेष प्रकार के परिवर्तन की खोज की। पर इसका पता तुरत उसे न चला। लेखक इस महिला के घर केवल कुशल पूछने के लिये विषय पूर्वक दो तीन दिन में जाने लगा और उससे अनेक नियम में बात चीत करने लगा। यह महिला अपनी संतान के साथ अपने पिता के घर पर

अतः .. १०० , ,, $\frac{३\times ४०\times १००}{४६\times ४०}$,, रहेगा।

= ६.१० ग्राम ,,

अभ्यासार्थ प्रश्न।

१. गन्धकाम्ल और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का कितना कितना ग्राम अनार्द्र सोडियम कार्बनेट के विलयन के, जिसके एक लिटर मे ५० ग्राम लवण विद्यमान है, ५० घ सम को पूर्ण रूप से उदासीन करेगा ?

(प्रयाग १६०५)

२. दाहक पोटाश के प्रमाण विलयन का ४४ ४ घ सम गन्धकाम्ल के किसी विलयन के २५ घ सम को उदासीन करता है। सोडियम हाइड्रोजन कार्बनेट के उस विलयन मे कितना ग्राम फ़ी लिटर होगा जिस का ५३ ५ घ सम. ऊपर दिये हुये गन्धकाम्ल के ५० घ सम विलयन के बराबर है।

(पंजाब १६११)

३ हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के एक नमूने का अवधारण निकालने के लिये उसे १० घ. सम जल मे तनु करके उस मे ७ ग्राम संगमरमर डाला जाता है, जब क्रिया समाप्त हो जाती है तब संगमरमर को निकाल धो और सुखाकर तोलने से २० ग्राम होता है। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का प्रतिशतक अवधारण निकालो।

(प्रयाग १६११)

४ सोडियम कार्बनेट के १० प्रतिशत विलयन का कितना आयतन ऐसे गन्धकाम्ल के १ लिटर विलयन को उदासीन करेगा जिसमे गन्धकाम्ल का ४ ६ ग्राम रहता है।

(कलकत्ता १६१२)

५ पोटासियम हाइड्राक्साइड के दशांश प्रमाण विलयन का कितना घ. सम हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के अर्ध प्रमाण विलयन के १६·८ घ सम. को उदासीन करने के लिये लगेगा ?

६. शुद्ध नाइट्रिक अम्ल का, जिसका विशिष्ट घनत्व १ ५२२ है, १००

और वे भी अच्छी तरह अपनी कक्षाओं को पास कर जाते हैं। मैं जब अपने इस बेटे के विषय में चिन्ता नहीं करती थी तो यह भी ठीक से पास होता था। जब से मुझे इसके विषय में चिन्ता होने लगी तभी से यह अपनी परीक्षाओं में फैल होने लगा। मैं चाहती थी कि जब यह बड़ा लड़का कमाने खाने लगे और अपने भाई बहिनों का भार अपने ऊपर लेले तो मैं हरिद्वार जाकर भगवद् भजन में अपना जीवन व्यतीत करूँ। बच्चों के पिता के मरने पर मुझे भारी कष्ट हुआ था। मेरा दुःख इतना था कि जीने की इच्छा ही नहीं करती थी। जब मैं हरिद्वार गई और वहीं गंगा जी के किनारे कई दिन तक बैठा तथा साधुओं के प्रवचन सुने तब कुछ मन में ढाढस आई और मैं अपने भार को वाहन कर सकी। मुझे विचार आने लगा कि यदि मैं मर जाऊँ तो फिर मेरे छोटे छोटे बच्चों को देखने वाला कौन रहेगा। इस विचार ने जीने की इच्छा को बली बना दिया। मैं सदा इसी विचार में रहती थी कि जब मेरा बड़ा लड़का किसी अच्छे काम में लग जायगा तो मैं गृहस्थी के भार से निश्चिन्त हो जाऊँगी। जब वह इन्टर में आया तो मेरी आशा अधिक बढ़ गई। मैं सोचने लगी कि यह अब डाक्टरी की ओर चला जायगा। पर इसी के साथ मुझे इसके विषय में चिन्ता भी होने लगी। यदि कभी कभी खेल कूद में अधिक समय खर्च करता तो मैं इसे डाँटती। मैं जितनी ही अधिक इसके विषय में चिन्तित हुई इसकी उन्नति और भी कम होती गई। वह अब पहली बार फेल हुआ तब मुझे इतना दुःख नहीं हुआ। पर अब वह दूसरी बार फेल हुआ तो मेरा दुःख असह्य हो गया।

लेखक ने महिला से कहा कि तुम्हारी चिन्ता ने ही लड़के को फेल करा दिया तुम भगवान की उपासक तो हो पर हार्दिक रूप में उनकी सहायता में विश्वास नहीं करती। अब सब बातें भगवान पर छोड़ दो। तुम उसके विषय में चिन्ता न करो तो वह अवश्य पास हो जायगा। महिला के मन में यह बात बहुत कुछ लगी। इधर

लेखक महिला की जानकारी में उक्त बालक से भी मिला। उसे अपने प्रेम का परिचय दिया और उसे अनेक प्रकार का प्रोत्साहन दिया। लड़का बहुत भला है। वह अपनी किशोरावस्था में ही है। इसलिये स्वाभाविक है कि उसे किसी प्रकार की काम-कुटेव लग गई हो और फिर उसके दमन के कारण आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता हो। यही बात किशोर बालकों की पढ़ाई में अनमनस्कता तथा पिछड़ने का प्रधान कारण होती है। बालक से गुप्त बातें करके बिना उसका आत्म-सम्मान घटाये लेखक ने उसे प्रोत्साहित किया। यह बालक धीरे धीरे पढ़ाई में अधिक समय देने लगा।

इस रोग का कारण खोजते समय एक और बात का पता-चला। जिस घर में यह महिला रहती है वहां उसके और भाई के परिवार के साथ एक और इसका सम्बन्धी रहता है। यह युवक भी लेखक का छात्र रह चुका है। इससे बात चीत करने पर पता चला कि उस महिला के रोग का दौरान उस समय से प्रारम्भ हुआ जब कि उस युवक का विवाह हुआ। यह युवक इस महिला को अपनी सगी बहिन से भी अधिक मानता है और वह उसकी सभी प्रकार की सेवा कई वर्षों से करता चला आया है। वह उस के बच्चों की देख रेख भी करता है। महिला के सगे भाइयों को इसको फुरसत नहीं मिलती। जब इस युवक का विवाह हो रहा था तो उक्त महिला को भारी आन्तरिक वेदना हो रही थी। वह अपने मन की बात किसी से कह नहीं सकती थी। कभी कभी वह उक्त छात्र को ही कह देती थी कि अब तुम मेरी परवाह नहीं करो गे। इस छात्र ने अपने विवाह के पश्चात् भी उक्त महिला के प्रति वैसा ही वर्ताव रखा जैसा कि वह पहले रखता था।

लेखक ने इस युवक को सलाह दी कि वह उक्त महिला के प्रति पहले से भी अधिक सहानुभूति प्रदर्शित करे। जिस प्रकार माता का मन घर में पतोहू के आने पर ऊपर से प्रसन्न और भीतर से दुःखी होता है और जिस प्रकार सास अपनी पतोहू के प्रति ईर्ष्या का भाव

रखती है इसी प्रकार जब दो व्यक्तियों में कुछ स्नेह का भाव उत्पन्न हो जाता है तो मित्र के प्रेम को बटवारा करने वाले किसी भी व्यक्ति के आने पर पुराने साथी का आन्तरिक मन दुःखी होता है। यह बात समलिंगी और विषम लिंगी मित्रों के विषय में एक ही तरह ठीक उतरती है। मित्र सदा यही चाहता है कि उसका अनन्य मित्र सदा ही अविवाहित रहे जब उसका विवाह हो जाता है तो वह अपने मित्र के प्रति ही उदासीन हो जाता है। फिर दोनों में उतनी घनिष्टता नहीं रह जाती जितनी पहले रहती है। इसी प्रकार माँ का प्रेम भी पुत्र के विवाह हो जाने पर कुछ कम हो जाता है। अतएव इस प्रकार का धक्का लगना स्वाभाविक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने आपको दूसरे व्यक्ति के प्रेम पर अवलम्बित कर देता है उसे धक्का उतना ही अधिक लगता है। अतएव लेखक को निश्चय हुआ कि उक्त महिला के प्रेमावलम्बन का अभाव हो जाने के कारण ही उसकी मानसिक स्थिति बिगड़ गई है। यह स्थिति तभी पूरी तरह सुधर सकती है जब कि उसके हृदय को कोई नया अवलम्ब न मिल जाय।

साधारणतः पति के अभाव में और उसकी उपस्थिति मे भी स्त्री का प्रेम पुत्र के ऊपर आता है। जब पति की उपस्थिति में स्त्री बेटे को अत्यधिक प्रेम दिखाती है तो उसका पति लड़के से ईर्ष्या करने लगता है। फिर वह लड़के के आचरण की अनेक प्रकार की नुक्ताचीनी करने लगता है। पिता के द्वारा किशोर बालकों की अत्यधिक नुक्ता चीनी होने का एक प्रधान कारण यही होता है। पर पति से हट कर बेटे के ऊपर प्रेम जाना स्वाभाविक है। यह स्त्री के मानसिक विकास को दर्शाता है। पति के अभाव में तो बेटे पर प्रेम जाना और भी आवश्यक हो जाता है। कभी कभी बाल बच्चों की खबर लेने वाले व्यक्ति पर भी विधवा स्त्री का प्रेम चला जाता है। ऐसी अवस्था में मानसिक झंझटों की उपस्थिति होती है। विधवा महिला के बेटे के विवाह होने पर और पतोहू के घर में आने पर जो मानसिक स्थिति होती है वही मानसिक स्थिति

सहायता पहुँचाने वाले व्यक्ति के विवाह होने पर और उसकी स्त्री के घर में आने पर होती है। ऐसी अवस्था में उसकी मानसिक शक्ति प्रोगामी न बन कर अर्थात् भविष्य की भव्य कल्पनाओं में अथवा किसी रचनात्मक कार्य में संलग्न होकर, प्रतिगामी बन जाती है। वह फिर पुराने अनुभवों के संस्कारों को सजीव बनाने लगती है। ये पुराने संस्कार अप्रिय होते हैं और जब मनुष्य की चेतना इन दुःखद स्मृतियों को ऊपरी सतह पर आने से रोकती है तो वे चेतना का प्रतिबंध हटा कर बाहर चली आतीं हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति पुराने अनुभव का अभिनय करने लगता है।

इस महिला की मानसिक शक्ति प्रोगामी न बनकर प्रतिगामिनी बन गई थी। उसकी पुरानी निराशावादिता ने उसे फिर आ घेरा था। वह अपने पति के मरने के समय का अनुभव अपने मन में फिर से दुहराने लगी। उसका पति क्षय रोग से मरा था। उस का मरण का दृश्य दुखद था। महिला के मन में इसके संस्कार दृढ़ थे। वह इस दुःखद स्मृति को सदा भुलाने की चेष्टा करती रहती थी। वर्तमान समय में वह अपनी स्मृति को भूल सी गई थी। पर अब वह अपने ही आचरण में अपने पति की मृत्यु का अभिनय करती थी। उसके हाथ पैर ठंडे हो जाते थे। कुछ समय के लिये वह उसी प्रकार चेतना हीन होकर पड़ जाती थी। जिस प्रकार उसका पति मृत्यु के समय पड़ा था।

दबे आवेग का रेचन

लेखक को निश्चय हुआ कि जबतक महिला की दुःखद स्मृति के आवेग का रेचन नहीं हो जाता तब तक उसे स्वास्थ्य लाभ होना कठिन है। पर यह रेचन का कार्य सरल न था। इसके लिये ऐसा वातावरण उपस्थित करना आवश्यक था जिससे पुरानी स्मृति सहज रूप से उसी आवेग के साथ भाग जाय। लेखक एक दिन महिला के बुलाने पर ही गया। यह महिला अपने दुःखों की गाथा

सुनाने लगी। लेखक उस गाथा को सहानुभूति पूर्वक सुनता गया। फिर लेखक ने उस महिला के पति को जो एक सफल प्रोफेसर और कवि थे, धीरे धीरे तारीफ करना प्रारंभ किया। उसकी लड़की और दो और बच्चे पास में बैठे थे। लड़की ने अपने पिता की कविताओं के संग्रह की चर्चा प्रारम्भ की। उसने एक लेख की भी चर्चा की जिसमें उसके पिता की काव्यकला प्रसंसा एक सहृदय आलोचक ने की थी। महिला भी यह सब सुनती थी।

फिर कविता का संग्रह जो छपा पुस्तक के रूप में है बताया गया। बालिका की इच्छा थी कि लेखक उन कविताओं को पढ़े। पर लेखक को तो अपने ही ध्येय का ध्यान था। वह रागिणी महिला के पुराने दुःख के संस्कारों को उसके स्मृति पटल पर लाना चाहता था और साथ ही साथ उक्त महिला के प्रेम का उसकी सन्तान की ओर प्रवाहित करना चाहता था। अतएव पहले तो उसने उस संग्रह की कुछ कविताओं को बड़ी लड़की से ही पढ़वाया, फिर बड़े लड़के को बुलाया और उससे पुस्तक में से चुनी कवितायें भावपूर्ण विधि से पढ़ने को कहा। जैसे जैसे लड़का कविता पाठ करता था लेखक कवि और उसके पुत्र की भी तारीफ एक साथ करता था। वास्तव में पिता का साहित्य प्रेम इस लड़के में भी पाया जाता है। अतएव जैसे कवि की प्रशंसा सच्ची थी, इसी प्रकार लड़के की प्रसंसा भी सच्चे हृदय से की जा रही थी।

जब तक लड़का तीन चार कविता पढ़ पाया था उसकी मां को पुराने रोगका दौरा होगया अर्थात् उसके हाथ पैर ठंडे होने लगे। वह चारपाई पर मरते हुए व्यक्ति के समान पड़ गई। उसके हाथ पैर ठंडे हो गये। लेखक ने कविता पाठ बन्द करा दिया और उसके सिर से पैर तक कई बार पास देने के रूप में हाथ फेरा। फिर उसके शरीर में स्फूर्ति धीरे धीरे आ गई। इसके बाद वह थकी हुई सी अवस्था में चारपाई से उठकर अपने कमरे में गयी। उससे कहा गया कि वह इस रोग के दौरान से घबराये नहीं, यह अच्छे होने के

लिये आवश्यक है। इस घटना के बाद वास्तव में उक्त महिला का रोग दिन प्रति दिन कम होते गया।

जब लेखक यह उपचार कर रहा था महिला के द्वारा शैथिलीकरण और आनापानसति का अभ्यास भी कराया जा रहा था। साथ ही साथ उसकी लड़की को आदेश दिया गया था कि वह अपनी माँ के पास सोवे और उसे अच्छे हो जाने का सन्निर्देश माँ को प्रतिदिन देती रहे। रोगी जब सोता है तब धीरे धीरे उसे यह कहने पर कि वह स्वास्थ्य लाभ कर रहा है उसके स्वास्थ में पर्याप्त उन्नति हो रहा है, वह आरोग्यवान जल्दी हो जाता है। कभी कभी रोगी को सुप्तावस्था में उसके ऊपर भाड़ने जैसा हाथ फेरने से भी लाभ होता है। रोगी का चेतन मन जब सोता रहता है तब उसका अचेतन मन जागता है और सोये व्यक्ति से जो कुछ कहा जाता जाता है उसका अचेतन मन ग्रहण कर लेता है। रोग की जड़ अचेतन मन में ही रहती है। रोगी का अचेतन मन रोग को पकड़े रहता है। जब तक अचेतन मन को समझा बुझाकर उससे रोग नहीं छुड़ाया जाता चेतन मन पर चाहे जितना प्रभाव डाला जाय उसका उलटा ही परिणाम होता है। ऐसी अवस्था में जैसे जैसे रोगी की दवा की जाती है उसका रोग और भी भयंकर होता जाता है। जब किसी व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन मन में एकता रहती है तब उसके अचेतन मन को चेतन मन के द्वारा प्रभावित करना कठिन नहीं होता। पर जब यह एकता नहीं रहती तो चेतन मन के द्वारा किसी व्यक्ति के अचेतन मन को प्रभावित करना बड़ा कठिन हो जाता है। मानसिक रोग की अवस्था में यह एकता नहीं रहता। ऐसी अवस्था में रोगी के सोते समय ही रोगी के अचेतन मन को प्रभावित करने की चेष्टा करना उचित है।

आवेग का क्रोध

जब यह महिला कुछ अच्छी हो रही थी तब वह गंगा जी के किनारे एक मकान किराये से लेकर अकेली रहने लगी। वहां एक दो

व्यक्ति हो जाया करते थे। वह गंगा जी के प्रभाव को देखती थी। उसके मन को बहुत ही शान्ति मिली। इसी काल में उसके मन में अनेक उमंगे उत्पन्न हुई और वह कवितायें लिखने लगी। उसकी इस काल की रचनायें बड़ी मार्मिक हैं। इस रचनाओं में से कुछ को यहां उद्धरित किया जाता है :—

पगली सिर धुन मत पछताय ॥
तू तो भूली थी अपन को समझे थी सुखमान,
नहीं जानती थी आगे चल होगा दुःख महान ॥
जिसपर तेरा मन अटका है,
अब वह बता कहाँ तेरा है।
मत भ्रममें अब रहरो तू
कर ले हरिका ध्यान
तेरा इतना ही नाता था।
तू उसकी थी वहतेरा था ॥
राह दूसरी ली जब उसने
इस में भी सुखमान
जग की रीति यही चलि आई
समझ इसी में सदा भलाई
ठगी गई मत सोचन कर तू
तेरा है भगवान
अब तू करले कही कमाई
जिसमे होगी फर्ज अदाई
जहाँ जायेगी क्या खायेगी
सोच इसे सचजान।
तू पागल है मन पागल है
तू ज्ञानी बन तेरा प्रभु है
सौंप इसे अपने को मनसे
होगा वही सहाय

मृगतृष्णा में मत पड़ रीतूँ
ध्यान हरी का लगा अरीतूँ
तूँ समझा दे अपने मन को
लेकर कुछ विश्राम।
अब अगर नहीं चेती तूँ
रोयेगी तब सिर धुनकर तू
हरदिन मिलेंगे वह न मिलेगें
कर मल मल पछताय
तू स्वतंत्र आई थी जग में
साथ नहीं लाई थी कर में।
फिरक्यों खोज रही है साथी
इतना तो कर ज्ञान
अपने मन की अटक मिटादे
माया का आवरण हटा दे।
लोभ छोड़ दे तू उसका अब
करले वही उपाय।
सोच जरा वह कब है तेरा
अन्य जगह उसका डेरा
पता नहीं है तुझको कुछ भी,
त्तण त्तण मत कर हाय
मन है एक एकही तन है,
जीव एक है ब्रह्म एक है
तू है एक चाहती,
एरी बन जा एकाकार।

उक्त महिला की एक परिचारिका है। यह उसे बहुत प्रेम करती है। वह दूर की सम्बन्धी है और अनाथ विधवा है। महिला को वह विधवा सब कुछ मानती है। महिला का इसके प्रति विशेष स्नेह भी है। महिला की मानसिक अवस्था असाधारण है। वह रात को

उठकर गाती है, और कही हुई बातों को भूल जाती है। ऐसे तो यह दिनभर काम करती रहती है। यह अपनी आँख की ज्योति खो चुकी थी पर कुछ डाक्टरी दवा करने से और कुछ मानसोपचार से उसे फिर से ज्योति प्राप्त हो गई है। लेखक ने इस महिला के विषय में उक्त रोगी से प्रतिदिन पूछ ताछ करना प्रारंभ किया। रोगी महिला उसके विषय में बहुत कुछ कहती। इस प्रकार उसका मन अपने आप से हटाकर अपने से अधिक दैन्यावस्था के प्रति लाया गया। जब कोई मनुष्य दूसरे व्यक्ति की दीनता पर करुणा का अनुभूति करने लगता है तो वह अपनी दीन अवस्था को भूल जाता है।

इसी बीच एक और रोगी महिला उक्त रोगी महिला के पास आ गई। इसे भी कुछ मानसिक रोग था। इसकी सेवा में रोगी महिला लग गई। जैसे जैसे उसकी रुचि इस प्रकार के रचनात्मक रोगों में अधिकाधिक होने लगी उसका रोग नित्यप्रति और भी अच्छा होने लगा। फिर लेखक जब कभी उक्त महिला के पास जाता तो उससे दूसरे रोगियों की चर्चा करता और उससे भी दूसरे रोगियों के बारे में बातें सुनता। उसका मन इस प्रकार अपने ही रोग के विषय में चिन्ता करने से हटाकर दूसरे रोगियों के विषय में और उसकी सेवा की भावनाओं को जाग्रत करने में लग गया।

धीरे धीरे उसकी दूसरी चिन्तायें भी दूर हो गईं और वह पूर्णतः आरोग्यवान हो गई। उसके स्वास्थ्य-लाभ करने का एक लाभ यह भी हुआ कि उसका पुत्र जिसके विषय में वह चिन्तित थी पूरे मन से पढ़ने लिखने में लग गया और अन्त में वह परीक्षा में द्वितीय श्रेणी में पास भी होगया।

आठवां प्रकरण

स्मृति का ह्रास

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अनेक ऐसी घटनायें होती हैं जिनका स्मृति पटल पर आना दुःखद होता है। किसी प्रकार की हानि की स्मृति दुःखद होती है यह हानि पैसे रुपये सम्बन्धी मान की अथवा चरित्र की होता है। दुःखद स्मृतियों को हम जान बूझकर दबाने का चेष्टा करते हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य उन सभी बातों को भूलने लगता है जिनका किसी प्रकार का नजदीक का अथवा दूर का सम्बन्ध हानि से रहता है। जिन लोगों का पैसा रुपया खो जाता है और जिनकी ममता पैसे से होती है वे अपनी वर्तमान परिस्थिति को ही भूल जाते हैं। वे अपने आप का बड़ा धनी व्यक्ति समझने लगते हैं। स्मृति ह्रास की साधारण अवस्था में वे केवल पैसे सम्बन्धी बातों को ही भूलते हैं।

किसी नजदीक के सम्बन्धी के मर जाने पर मनुष्य पहले तो इस दुःखद घटना को भूलता नहीं परन्तु पीछे जब वह उसे भूलने में समर्थ होता है तो दूसरे प्रकार की स्मृति भी खो देता है। कितनी ही मातायें पुत्रशोक में पागल हो जाती हैं। वे दुःखद स्मृतियों को भुलाने की चेष्टा करती हैं पर इससे वे अपनी वर्तमान अवस्था को भी भूल जाती है। वर्तमान अवस्था में बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो दुःखद स्मृति से सम्बन्धित रहती है। दुखःद स्मृति को भुलाने के परिणामस्वरूप वर्तमान का अधिक भाग विस्मृत हो जाता है।

अपमान-सम्बन्धी सभी बातें दुःखद होती है। मनुष्य इन्हें भूलने की चेष्टा करता है। परन्तु इस चेष्टा के परिणामस्वरूप वह

अपनी चेतना की शक्ति को बहुत कुछ खो देता है। किसी बात को स्मरण करते समय मनुष्य को विभिन्न विचारों के आपस के सम्बन्धों से सहायता लेनी पड़ती है। जब किसी विचार का सम्बन्ध किसी अपमानजनक घटना से होता है तो वह विचार स्मृति पटल पर नहीं आता। इस प्रकार मनुष्य के स्मरण की सहज प्रक्रिया में बाधा पड़ती है।

इस प्रसंग में फ्रायड महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—एक व्यक्ति अपने पुराने परिचित व्यापारी का नाम बार बार भूलने लगा। उसे इस व्यापारी को प्रति दिन व्यापार सम्बन्धी पत्र लिखने पड़ते थे और हर बार अपने मुनीम से उनका नाम पूछना पड़ता था। इस प्रकार की भूल का कारण खोजने से पता चला कि एक युवती ने जिसे वे दोनों व्यापारी प्यार करते थे, पहले व्यक्ति से विवाह न कर दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया था। इस घटना से पहलेउक्त व्यक्ति को भारी मानसिक क्लेश हुआ। यह घटना बड़ी अपमान सूचक थी। उसने इस घटना को भुलाने की चेष्टा की। परन्तु इस प्रयत्न से उसे घटना से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातें भूलने लगीं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में हजारों अपमान होनेवाली घटनायें होती हैं। जब वह इन्हें भुलाने की चेष्टा करता है तो उसे अनेक प्रकार के स्मृति के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कितने ही बालकों को कोई विशेष विषय इसलिये याद नहीं रहता कि उसका सम्बन्ध किसी प्रकार के अपमान से रहता है। जिस लड़के को अंग्रेजी के हिज्जों के लिये बार बार डाँट पड़ती है उसे हिज्जे याद नहीं होते, जिसे गणित के गुणाभाग में भूल हो जाने के कारण बार बार मार खाना पड़ता है उसके मन में गणित के प्रति द्वेष हो जाता है। वह गणित सम्बन्धी बातों से दूर ही दूर रहने की चेष्टा करता है। संसार के कुछ कर्मठ व्यक्ति अपने खर्च का साधारण सा ही हिसाब नहीं रख पाते। उन्हें गणित के अंक देखते ही ज्वर सा चढ़ आता है। ऐसे

लोगों को न केवल गणित की बातें भूल जाती हैं वरन् उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरे बातें भी भूल जाती हैं।

सबसे बड़ा नुकसान चरित्र का नुकसान है। कोई भी घृणित कार्य करने से मनुष्य की आत्मा उसे कोसती है। जब मनुष्य किसी आवेग के वश में आकर कोई ऐसा काम कर बैठता है जिसकी स्मृति उसके मन में आत्मग्लानि उत्पन्न करे तो वह ऐसी स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है। परन्तु इस प्रकार के भुलाने के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपनी साधारण स्मृति को भी खो देता है।

मान लीजिये कोई किशोर बालक किसी प्रकार का व्यभिचार करता है। वह आवेश में आकर यह काम तो कर डालता है; परन्तु पीछे उसे भारी आत्म-भर्त्सना होती है। वह इसे भुलाने की चेष्टा करता है। बार बार प्रयत्न करने से वह भूल जाता है। परन्तु साथ ही साथ वह अपनी साधारण स्मृति को भी खो देता है। मनुष्य का वर्तमान स्वत्व उसके सभी पुराने संस्कारों का बना हुआ होता है। जो मनुष्य अपने अतीत को स्वीकार करता है वह अपने मन में एकत्व स्थापित किये रहता है। जो व्यक्ति अतीत को अपने स्वभाव का अंग न मानकर उसे भूल जाने की चेष्टा करता है, वह अपने मन में दो भाग उत्पन्न कर लेता है। ऐसी अवस्था में मन का एक भाग दूसरे भाग का शत्रु बन जाता है। जो कुछ भी आदर्श स्वत्व करता है उसमें नीचा स्वत्व बाधा डालने की चेष्टा करता रहता है।

आत्मभर्त्सना उत्पन्न करने वाली घटनायें मनुष्य के भोगेच्छुक स्वत्व के कारण होती हैं जो मनुष्य जितना ही अधिक आदर्शवादी होता है उस में आत्म-भर्त्सना करने की प्रवृत्ति भी उतनी ही प्रबल होती है। पर इस प्रकार की आत्म भर्त्सना से पूरे व्यक्तित्व को हानि ही पहुँचती है। जब तक आत्म भर्त्सना सीमित रहती है तब तक वह हानि कारक नहीं होती। परन्तु सीमा से अधिक होने पर मनुष्य आत्म ग्लानि-जनक घटनाओं को भुलाने की चेष्टा करता है। जब ये घटनायें भूल जाती हैं तो स्मृति के दोष अपने आप ही उत्पन्न

हो जाते हैं। मनुष्य का घृणित स्वत्व उसे आगे बढ़ने से रोक देता है।

कभी कभी दबी हुई स्मृति प्रतीक रूप से चेतना के समक्ष आजाती है। मान लीजिये किसी व्यक्ति ने किशोरावस्था में कोई काम वासना सम्बन्धी कुकृत्य किया। उसे पीछे भर्त्सना हुई। उसने इसे भुलाने की चेष्टा की। कुछ वर्ष के बाद ऐसे व्यक्ति को अकारण सन्देह होता है कि कोई व्यक्ति उसे ताक रहा है। सांप का अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार कीड़े मकोड़ों का कानों आदि में घुसने का भी भय ऐसे व्यक्ति को होता है। घर में अकेले रहने से भी भय होता है। ऐसा व्यक्ति अकसर सोचने लगता है कि दूसरे लोग उसकी निंदा कर रहे हैं। उसे छोटी छोटी बातों के लिये आत्म-भर्त्सना होने लगती है। वह किसी निर्णय पर देर तक स्थिर नहीं रहता।

पुरानी घटना की स्मृति भुलाना अपने आप को ही अस्वीकार करना है। कोई भी मनुष्य अपने आपका सुधार अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को स्वीकार किये बिना नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अपने भोगेच्छुक स्वत्व को अस्वीकार करता है, उससे घृणा करता है वह आत्म-विच्छेद की मानसिक स्थिति उत्पन्न कर डालता है।

मनोविश्लेषण चिकित्सा में दबी स्मृति को चेतना पर लाने की चेष्टा की जाती है। दबी स्मृति का चेतना पर आना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक मनुष्य उस स्मृति के प्रति अपना दृष्टि कोण नहीं बदलता। परन्तु अपना दृष्टि कोण बदलना बड़ा कठिन कार्य है। जिस व्यक्ति के मन में जितनी अधिक अप्रिय स्मृतियां रहती हैं उस में हठ की मनोवृत्ति भी उतनी ही अधिक रहती है। बहुत मानसिक क्लेश के सहने पर ही मनुष्य अपना दृष्टि कोण बदलता है। मनोविश्लेषक की कुशलता इसी बात में है कि वह व्यक्ति के दृष्टि कोण को बदलने में सहायक हो जिससे कि व्यक्ति अपने आपको घृणा करना छोड़ दे। यदि कोई मनुष्य अपने भोगेच्छुक

स्वत्व को घृणा करता है तो वह सुधार करेगा किसका? भोगेच्छुक स्वत्व को धीरे धीरे अपनी इच्छाओं से मुक्त किया जा सकता है। इसके लिये उसकी शक्ति का शोध किया जाना आवश्यक है।

यदि कोई व्यक्ति अपनी आत्म-ग्लानि जनक स्मृतियों को अपने आप ही लिखने लगे तो उसके व्यक्तित्व के विभिन्न भागों में एकत्व सरलता से ही स्थापित हो जावे। भागावात्मक घटनाओं को खोज खोज कर रेचन कर डालने से मनुष्य की विभिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियों का फिर से उदय हो जाता है।

नवाँ प्रकरण

गंदगी से त्रास और सफाई की झक

कभी कभी हमारी घृणा की भावना किसी व्यक्ति विशेष पर आरोपित न होकर किसी बाहरी वस्तु पर ही आरोपित हो जाती है। अचानक कोई घृणास्पद वस्तु का ध्यान आ जाता है और फिर वह प्रयत्न करने पर भी नहं छूटता। ये विचार हमें इतना त्रास देते हैं कि उनके कारण हमारा जीवन सारहीन सा हो जाता है। किसी किसी व्यक्ति को जहाँ देखो वहाँ गन्दी वस्तुयें दिखाई देती हैं। किसी किसी को कोई गन्दी वस्तु दिख गई तो वह फिर ध्यान से नहीं जाती। इस प्रकार के विचार उन्हें समाज में सामान्य व्यवहार करने में बाँधा डालते हैं।

हाल ही में लेखक के पास एक चौबीस वर्ष का नवयुवक आया। यह एक ब्राह्मण परिवार का व्यक्ति है। हाल ही में इसने नार्मल स्कूल की परीक्षा पास की है और अब एक गाँव की पाठशाला में अध्यापन का कार्य कर रहा है। इसके पिता भी अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। इस व्यक्ति ने लेखक को अपनी मानसिक स्थिति का परिचय कराया। उसने बताया कि मैं बड़ी ही दुःखद मानसिक अवस्था में हूँ। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मुझे सब समय गन्दगी के विचार आते रहते हैं। मैं अपने चारों ओर गन्दी वस्तुयें ही देखता हूँ। पैखाना और पिशाब यही दिमाग में घूमा करते हैं। यह नवयुवक कुछ गन्दे कपड़े पहने था। लेखक ने जब उससे पूछा कि वह गन्दे कपड़े क्यों पहने है तो उसने कहा कि मेरा मस्तिस्क ठिकाने नहीं है। अतएव मुझे कोई भी काम करने में रुचि नहीं होती। यहां तक कि शरीर की सफाई में भी रुचि

नहीं होती। यह रोग उसे कई दिनों से है। उसने निम्नपत्र लेखक को लिखा—

"श्रद्धेय पंडित जी—

मैंने आप का शुभ नाम राजकीय नार्मल स्कूल चुनार (मिर्जापुर) में मनोविज्ञानान्तर्गत सुना। तभी से आप का आश्रय लेने की मन में कल्पना हुई। मुझे एक शारीरिक बीमारी पेशाब का बहुत जल्दी जल्दी होना बहुत पहले से है। हाँ कामवासना सम्बन्धी दोष अर्थात् व्यभिचार से भी मैं बचपन से ग्रस्त हूँ। मेरा जीवन करीब १० वर्ष से बहुत दुःखी है। इस समय यह अवस्था है कि मुझे सभी वस्तुओं से बहुत घृणा मालूम होती है। साथ ही साथ शारीरिक रोग भी है।

मैंने स्वयं समझा था कि मिलने से अच्छा पत्र लिखना होगा। इसलिये मैं पत्र में अपनी सभी बातें विस्तार-पूर्वक लिखूँगा।

इस समय जहाँतक मुझे स्मरण है जब से मैंने पढ़ना प्रारम्भ किया तभी से मेरी माता जी जो कुछ खरे स्वभाव की है मेरे ऊपर बिगड़तीं और मैं उनको गाली दे देता था जिसका मुझे हार्दिक दुःख था। इसी प्रकार लड़ने झगड़ने में ही मेरा जीवन अबतक बीता है।"

उक्त नवयुवक से बात चीत करने से पता चला कि उसका विवाह हो चुका है। उसका विवाह हुए दो वर्ष हो गये हैं। पर उसकी स्त्री से उसकी बातचीत नहीं हुई है। वह यह भी नहीं जानता कि वह सुन्दर है अथवा असुन्दर। जब गौना होगा तब स्त्री घर आवेगी, तभी वह उसे जानेगा। जैसा कि इस मानसिक रोग के रोगी अपने रोग के विषय में दूसरे व्यक्ति को बताने में हिचकते हैं यह व्यक्ति भी अपनी रोग की चर्चा करने में हिचकिता था। उसे भय रहता है कि कहीं उसकी मानसिक स्थिति का दूसरे लोगों को पता न लग जाय। इसने लेखक की मानसिक चिकित्सा नामक पुस्तक पढ़ी थी इसी कारण वह अपने रोग के विषय में लेखक से चर्चा कर सका।

इस रोगी के मिलने के पूर्व एक और व्यक्ति लेखक से मिला था। इसको भी शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोग थे। इसे बवासीर की बीमारी है और शरीर में सोने के बाद थकावट की अनुभूति करना, हतोत्साही की अनुभव करना आदि शारीरिक रोग हैं। इस का भी अपनी माता से झगड़ा रहता है। माता छोटे भाई की पिच्छ लेती है। और इस भाई ने घर की सभी सम्पत्ति को अपने हाथ में लेलिया है। उसकी इच्छा है कि बड़ा भाई घर से चला जाय और खुद कमावे खावे। माँ इस बात में छोटे पुत्र का समर्थन करती है। यह अपनी स्त्री के साथ रहता है। इसे एक सन्तान भी है। परन्तु वह अपने भविष्य को उज्वल नहीं देखता। वह 'लोक सेवक संघ' में कार्य करता है। पर इस कार्य को वह पूरे मन से नहीं करता। वह जितना पढ़ना चाहता था नहीं पढ़ सका। अब उसकी आयु २४ वर्ष की हो चुकी है अतएव कालेज में पढ़ने का समय भी बीत चुका। दूसरे उसके पास यद्यपि साधन पढ़ने का नहीं है, इसलिये वह एक प्रकार से हताश सा हो गया है।

लेखक ने अपनी मानसिक चिकित्सा नामक पुस्तक में एक प्रौढ़ व्यक्ति का वर्णन किया है जिसे भय हो गया है कि कहीं वह अपना पैखाना हाथ में लेकर मुँह में नदेलो एक बार जब वह बीमार पड़ा था और अकेला विस्तर पर था उसके मन में विचार आया कि कहीं वह अपने पिशाब के बर्तन से पिशाब उठा कर न लेले। इस विचार के आते ही वह घबड़ा गया। वह अपनी स्त्री के लिये चिल्लाया। वह आई और उसने अपने विचार को कह सुनाया। तब से उसे गन्दी वस्तु के छूजाने, पाखाना हाथ में लेलेने आदि का भय सदा त्रास देते रहता है। इस भय के कारण उसे अपने साथ एक व्यक्ति रखना पड़ता है जो उसे ऐसी चेष्टा करने से रोके। कभी कभी उसे कल्पना हो जाती है कि उसने वास्तव में पैखाना हाथ में ले लिया है तब वह अपने साथी से कहता है। इसके साथी उसे बड़ी कठिनाई से यह निश्चय कराने में समर्थ होते हैं कि उसने किसी गन्दी वस्तु को नहीं छुआ।

लेखक ने एक कालेज के विद्यार्थी का गन्दी वस्तुओं से भय का एक पत्र अपनी आधुनिक मनो विज्ञान नामक पुस्तक में दिया है। इस विद्यार्थी को रोग है कि वह किसी गन्दी वस्तु को देखते ही सोचने लगता है कि कहीं वह उसे उठा न ले। मानलिजिये कहीं गन्दे कागज के टुकड़े पड़े हुए हैं तो उसके मन में भाव आ जाता है कि कहीं वह उन्हें उठा न ले। इस प्रकार का विचार ही उसे इतना त्रास देने लगता है कि वह बेचैन हो उठता है। प्रयत्न करने पर भी यह विचार मन से नहीं जाता। उसकी भाभी को भी इसी प्रकार का विचार त्रास देता है।

कभी कभी गंदगी का विचार एक विशेष रूप लेता है यह किसी भी खूब सूरत मनुष्य को देखते ही उसकी गन्दी वस्तुओं का स्मरण कराता है। एक व्यक्ति को किसी भी नये व्यक्ति के मिलते ही विचार आता था कि वह पैखाना कैसे फिरता होगा। उसके मन में उसके गुणों की बातें न आकर उक्त विचार मन में आता था। इसके कारण यह व्यक्ति नये व्यक्ति से मिलना भी पसन्द नहीं करता था।

सफाई की झक

कुछ दिन पूर्व मेरे पास एक बहुत पुराने मित्र आये थे। आपने बड़े प्रयत्न के साथ मेरा मकान ढूँढ़ा। मैं इनसे दस-बारह वर्ष के बाद मिला। अतएव आपस के मिलन में बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं ही अपने घर का सब कुछ प्रबन्ध करता हूँ अतएव घर की चीजें काफी इधर उधर पड़ी रहती हैं। जिस समय मित्र आये थे उस समय घर की नाली भी साफ नहीं थी। मित्र मेरे हितैषी हैं अतएव उन्होंने घर की सफाई की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। विशेष कर नाली की सफाई के लिए। मैंने सधन्यवाद उनका सुझाव स्वीकार किया। फिर कोइ पन्द्रह दिन के बाद इन्हीं मित्र का पत्र मिला। इस पत्र में अपने भाई के रोग की चर्चा थी। ये भाई बड़े आदर्श वादी हैं! परन्तु किसी व्यवसाय को लग के नहीं कर सकते। उनका स्वभाव

बड़ा चिड़चिड़ा है। वे किसी की आलोचना नहीं सह सकते। लेखक को फिर सफाई रखने का जोरदार शब्दों में आदेश मिला।

पत्र को पढ़ करके लेखक के मन में अपने मित्र के प्रति कृतज्ञता का भाव आया परन्तु इसी पत्र में उनके भाई के मानसिक रोग की चर्चा थी। अतएव लेखक के मन में विचार आया कि कहीं मेरे मित्र के मन में भी अपने बड़े भाई के मानसिक रोग की झलक तो नहीं है। मानसिक रोग संक्रामक होते हैं। यदि किसी घर में एक मानसिक रोगी हुआ तो उसकी छूत दूसरे लोगों को भी लग जाती है। फिर मेरे मित्र में भी बड़ा आदर्शवादिता है। उनकी अड़तालिस वर्ष की अवस्था हो चुकी है परन्तु वे अब तक भी अविवाहित हैं। इन सब कारणों से लेखक को मित्र के मानसिक स्वास्थ्य के ऊपर कुछ संदेह हुआ।

लेखक के एक वयोवृद्ध मित्र सदा सफाई के ऊपर जोर दिया करते हैं। यदि किसी व्यक्ति का घर लिपा पुता अथवा झड़ा हुआ न हो तो उन्हें वहाँ ठहरना भी मुश्किल हो जाता है। वह सफाई कोहो मनुष्य का सर्वोत्तम गुण मानते हैं। ईश्वर के पास जाने का सबसे सुयोग्य साधन सफाई है। इस सफाई की धुन के कारण वे कभी कभी अपने समीपवर्ती लोगों की कड़ी आलोचना कर देते हैं। जिसके कारण उन लोगों का इनके पास ठहरना कठिन हो जाता है। अपनी आलोचना की मनोवृत्ति के कारण उन्होंने अपने अधिक मित्र खो दिये।

उपर्युक्त सफाई में लगन जब कुछ अधिक बढ़ जाती है तो वह मानसिक रोग की परिचायक होती है लेखक के एक छात्र ने अपने सम्बन्धी का निम्न लिखित वृतांत हाल ही में लेखक को लिखा—

"आप निम्न लिखित क्रियायें करती हैं। जब शौच से वापस आती हैं अपने सब कपड़ों को (साड़ी ब्लाउज आदि को) धुलवाती हैं। अपनी चूड़ियों को साबुन से धुलवातीं हैं। उनके घर के लोग सब समय सफाई में लगे रहते हैं। जब घर के बच्चे स्कूल से आते तो उन्हें

सब कपड़े उतार कर दूसरे कपड़े पहनने पड़ते हैं। स्कूल के कपड़े अछूत समझे जाते हैं अतएव घर के कपड़ों से उनके छू न जाने की काफी सावधानी रखी जाती है। घर में एक कमरा कपड़ा पहनने के लिये निश्चित है जहां सभी कपड़ों को उतार कर नंगे हो कर दूसरे कपड़े लड़कों को पहनने पड़ते है जिससे स्कूल के कपड़े घर के कपड़ों से छू न जायँ। उनके साथ रहने वाले किसी बालक को वे कुछ खाने नहीं देती और यदि वह खाले तो उसे तुरन्त पानी पीना अनिवार्य होता है। जब वे हमारे घर आती हैं तो हमें केवल उनके लिये एक नौकर रखना पड़ता है। वे दिन में कई बार शौच जाती और प्रत्येक बार धोती ब्लाऊज वगैरह धुलवाती है। उन्हें दही खाने की आदत है और इसके कारण उन्हें ताप तिल्ली हो गई है। जिन लोगों के यहाँ जाती हैं वे उनसे इतने परेशान हो जाते हैं कि उन्हें फिर बुलाने की इच्छा नहीं करते। वे अपनी नतिनियों को खूब मारती पीटती और भला बुरा कहती रहती है। उन्हें उनके पिता के घर से पढ़ाई के लिये बुलवा दिया है पर वे दिन भर अपनी सफाई के काम ही कराती रहती है।" लेखक के एक दूसरे मित्र ने हाल में ही अपनी एक बुआ का निम्न लिखित वृतांत कह सुनाया।

"मेरी बुआ जो विधवा है बड़ी आदर्शवादी महिला है। वे देश सेवा के कार्य में सदा लगी रहती हैं। समाज के लोगों पर उनका काफी प्रभाव है। यदि उनसे कोई बात चीत करे तो विना प्रभावित हुए नहीं रहता। उन में यदि कोई दोष है तो सफाई की झक का। वे जब पैखाने जाती हैं तो अपने सभी कपड़ों को धुलवाती और स्नान करती है। घर में जो कोई रहे उसे ऐसा ही करना पड़ता है। घर के सभी कमरे प्रति दिन धोये जाते हैं। वे जब बाहर से आती हैं तो अपनी चट्टियों को बालटी भर पानी से धोती है। यदि कोई रेल से उनके घर आये तो उसके सभी कपड़े धुलवा ये जाते हैं। ओढ़ने बिछाने के कपड़े जैसे तोसक रजाई और कम्बल भी धुलाये जाते हैं। पैखाने से आने के बाद वे देर तक साबुन से हाथ साफ करती रहती हैं।

बाजार से जब कोई भी चीज़ आती तो धुलवा कर घर में रखती हैं। वे इसका इतना अधिक ध्यान रखती हैं कि गेहूं को भी साबुन से धुलवाती है।

ये सभी लोगों से काफी सतर्क रहती हैं। उनकी एक पतोहू जो विधवा हो गई है काफी निगरानी में रखी जाती है उसे किसी भी व्यक्ति से बात चीत नहीं करने दी जाती। इस कारण उसे बार बार हिस्टीरिया होता रहता है। वे इसकी बीमारी से परेशान रहती है। किसी भी नवयुवक और नवयुवती को बात चीत करते देख नहीं सकती तुरत उनके आचरण पर सन्देह किया जाने लगता है। अपने मेहमानों के ऊपर भी सफाई के विषय में वे ही नियम लागू किये जाते हैं जो वे अपने ऊपर लागू करती है। अतएव बहुत से समझदार व्यक्ति उनके घर न ठहर कर दूसरी जगह ही ठहरते हैं।"

सफाई की झक बढ़ते बढ़ते कभी कभी कठिन मानसिक रोग में प्रगट होने लगती है। लेखक के एक परिचित व्यक्ति ने जिसे पहले हाथ साफ करने की असाधारण झक थी अपनी साधारण चेतना को खो दिया वह कभी कभी अपने पिता को ही मारने पहुँच जाता था। उसे कुछ दिन तक बंद कमरे में रखा गया।

सफाई की झक मानसिक रोग का प्रतीक किस प्रकार है यह लेखक के पास एक मानसिक रोगी के विषय में आये हुए निम्न लिखित वृतांत से स्पष्ट होता है। "आप एक साल से मानसिक रोग से परेशान हैं। आप को सफाई ही पसंद है। जैसे बाहर कहीं किसी के यहाँ गये तो घर आतेही पहले खूब १०-१२ बाल्टी पानी में स्नान करेंगे। इतने में किसी को छुयेंगें नहीं न कोई वस्तु ही छुवें गे। स्नान करेंगे तो किसी दूसरे आदमी से पानी डलवा कर। कहते है मुझे छुओमत मैं गन्दा हो गया मेरे रास्ते में छींटे पड़ गये। भंगी की व दूसरी गन्दी चीजों की हवा लग गई है। अपने कमरे की हर एक वस्तु को बहुत साफ रखते हैं। खाना बनाने वाले से कहते रहते हैं कि खाना सम्हाल कर बनाना। कहीं बनाते समय मक्खी नगिर पडे।

बाजार की कोई बनी वस्तु नहीं खाते। जब पाखाने से आते हैं तो बहुत दूर तक हाथ साफ करते रहते हैं। पाखाने की तो यहाँ तक झक सवार है कि अपने पाखाने में किसी दूसरे को नहीं जाने देते। कहते हैं पाखाना ऐसा साफ होना चहिए जैसा गांधी जी का वर्धा में है जहाँ कोई रोटी भी खाले।

'यह है तीन चार महीने पहले का हाल। शुरु में सफाई की धुन लगने के पहले उन्हें मलेरिया हो गया था। वे डाक्टर की दवा नहीं खाते थे। वे कहते थे डाक्टर मुझे गर्म दवा देते हैं यदि मैं उसे खाऊँगा तो मर जाऊँगा, या पागल हो जाऊँगा। मलेरिया अच्छा होने पर सफाई की धुन लग गई। अब तो ऐसा हाल हो गया है कि दिन में ५०-६० बाल्टी पानी से नहाते हैं। धोबी के धुले कपड़े नहीं पहनते। जब नहाते हैं तो चारों ओर से ओट करवा कर बीच में बैठकर नहाते हैं। दूसरे आदमी से पानी डलवाते हैं। दिन रात ऐसा ही करते रहते हैं। इनके खाने का ढंग बिगड़ गया है। जब मन में जँच जाती है कि मैं शुद्ध हो गया तो खाते हैं नहीं तो नहीं खाते।

"इन्हे नाखून साफ करने की बड़ी आदत सी हो गयी है। ब्लेड से २-२ घंटे तक नाखून साफ किया करते हैं। यहाँ तक कि खून बहने लगता था और गढ्ढे पड़ जाते थे।

"आप की ऊमर २४ साल की है। आप एम० ए० पास हैं। गांधीवादी और उच्च विचार के, समझदार व्यक्ति हैं। बड़े सत्यवादी वचन के पक्के हैं। सादा खाना खाते हैं। शुद्ध खादी पहनते हैं। और सब बातें ठीक हैं।"

रोगी का शुभचिन्तक एक दूसरे पत्र में लिखता है "रोगी का कहना है कि जबतक मैं माता जी के साथ हूँ ठीक नहीं होऊँगा क्योंकि उनके और मेरे विचार नहीं मिलते। अगर माता जी को मुझे ठीक करना है तो छुआछूत कतई त्याग दें। यहाँ तक कि भंगी के हाथ का पकाया खाना खायँ। ये बचपन से निराशावादी

हैं। इनको कुछ ऐसी आदत है कि किसी से कुछ आशा करते हैं और यदि आशा पूरी न हुई तो वे जीवन से ऊब जाते हैं। वे रोते हैं और कहते हैं कि यह दुनियाँ मैंने देख ली सब अजब अजब आदमी हैं। इनका मन कहीं स्थिर नहीं होता। अभिलाषाएँ बहुत ऊँची हैं। परन्तु उनके लिए प्रयत्न कुछ नहीं करते।"

"रोगी ने कहा कि मैं अगर अपने इस घर से दूसरे घर में रहूँ और गांधी जी की टट्टी के समान टट्टी रहे तो मैं ठीक हो जाऊँ। ऐसा ही किया गया। परन्तु दो दिन तो ठीक रहे परन्तु फिर वही अपना १०-१५ बार साबुन मल मलकर नहाना शुरू कर दिया। सुबह ६ बजे से १२-१ बजे तक उनका नहाना लगा रहता है। अब तो पहले से कुछ ज्यादा हो गया है। नहाते समय उनकी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ? क्या न करूँ? कभी किसी से पानी डलवाते कभी नल से नहाते, घर के सब लोग बड़े परेशान हैं। भंगी को देख कर, गन्दे काले मनुष्य को देख कर कुत्ते बिल्ली को देखकर, फटे पुराने चिथड़ों को, बच्चों की टट्टी पेशाब को देखकर उलझ जाते हैं डरते हैं। गन्दगी की वजह से बाहर नहीं जाते। वैसे जब बातें करते हैं तो इतनी ऊँची ऊँची बातें करते हैं कि सुन कर ताज्जुब होता है। पढ़ाते भी खूब ठीक हैं।"

इस प्रकार के विचारों का कारण खोजने से पता चलता है कि मनुष्य में बाहरी गंदगी के विचार बाध्यरूप से आना आन्तरिक गंदगी का प्रतीक मात्र है। जिस व्यक्ति के मन में नैतिक गंदगी की भावनाओं का दमन रहता है उसी के मन में किसी न किसी प्रकार गंदगी के विचार आते रहते हैं। यह गंदगी पैसे सम्बन्धी अथवा कामवासना सम्बन्धी हो सकती है। जब कभी मनुष्य अपनी गंदी भावनाओं को भुलाने की चेष्टा करता है और उनकी आत्मास्वीकृति नहीं करता तो ये गन्दी वासनायें अथवा भावनायें रुपान्तरित होकर प्रतीक रुप से बाहर निकल आती हैं। मनुष्य का आत्मा अपने भीतर किसी प्रकार की नैतिक गन्दगी को ठहरने नहीं देता।

जिस प्रकार प्रकृति शारीरिक रोगों के द्वारा शारीरिक विकार को बाहर निकालतती रहती है, इसी प्रकार वह मानसिक रोगों के द्वारा मानसिक विकारों को बाहर निकालती रहती है। जब तक मनुष्य के भीतरी मन में नैतिक गन्दगी उपस्थित रहती है तब तक गन्दगी के विचार भी बाहरी मन को किसी न किसी प्रकार परेशान किया करते हैं। आन्तरिक गन्दगी का ज्ञान मनुष्य को नहीं रहता। वह स्मरण करने पर भी उसे स्मरण नहीं कर पाता। कभी कभी आन्तरिक गन्दगी का दमन इतना अधिक होता है कि मनुष्य के बाहरी आचरण से उसका बिलकुल पता नहीं चलता। गन्दगी के के विचार अकारण हो ऐसे लोगों के मन में आते हैं जिनका बाहरी जीवन बड़ा ही पवित्र है और जो अपनी पवित्रता का अभिमान रखते हैं। गन्दगी के भावों की आन्तरिक मन में प्रबलता और उसके प्रतिकूल बाहरी आचरण एक दूसरे के पूरक होते हैं। जिन लोगों का बाहरी जीवन बड़ा पवित्र दिखाई देता है उनके ही मन में गन्दगी की भावनायें छिपी रहती हैं। वे ही भावनायें रुपान्तरित होकर मनुष्य के मन के बाहर आती रहती है। इन भावनाओं अथवा विचारों से मनुष्य के अहंकार को ठेस पहुँचती है। ऐसे गन्दी वस्तुओं की ओर सभी लोगों का मन आकर्षित नहीं होता। भीतरी गन्दगी ही किसी विशेष व्यक्ति के मन को विशेष प्रकार की गन्दगी की ओर ले जाती है और यह गन्दगी का भाव बाध्य विचार बन जाता है।

कितने ही किशोर बालकों को बार बार हाथ साफ करने की आदत होती है। लेखक का परिचित एक नवयुवक शौच जाने के बाद एक टबभर पानी में अपने हाथों को साफ करता था। उसे अपने हाथ बार बार धोने पड़ते थे। इस नवयुवक के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसे अपनी किशोरावस्था में हस्तमैथुन की आदत थी। वह आदत अब जाती रही थी

था। वह अब प्रतीकरूप से अपनी मानसिक गन्दगी को हटाने की चेष्टा करता था।

अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक के पास एक ऐसा नवयुवक आया जिसे किसी भी सुन्दर स्त्री या पुरुष को देखते ही उसकी गुदा की याद आती थी। वह जिस किसी वस्तु के बारे में सोचे उसके मन में ऐसे ही अप्रिय विचार आते। यदि वह मोटर का भोंपू सुने तो उसके मन में विचार आता था कि मोटर पाद रही है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण वह किसी सुन्दर स्त्री से प्रेम नहीं कर पाता था। इसका कारण खोजने पर पता चला कि अपनी किशोरावस्था में इस व्यक्ति को समलिंगी व्यभिचार का व्यसन था। पर एक बार उसे अपने इस कृत्य से भारी आत्मभर्त्सना हुई। इससे उसकी पुरानी प्रवृत्ति तो दब गई, पर अब उसने एक नया रूप धारण कर लिया। रोगी का बाध्य होकर गन्दे हिस्से के बारे में सोचना पुराने गन्दे काम का प्रतीकमात्र था। यह व्यक्ति अपने पुराने कृत्यों को भूल चुका था, पर उन कृत्यों के संस्कार उसे अचेतन मन में अभी वर्तमान थे और वे उसे पुरानी बातों को प्रतीक रूप से सोचने के लिये बाध्य करते थे।

गन्दी वस्तुओं का भय, बार बार हाथ धोने की आदत, शरीर के गन्दे स्थान का ध्यान में आना तबतक जारी रहता है जबतक मनुष्य के बाहरी और भीतरी मन में एकत्व स्थापित नहीं हो जाता और इसके परिणामस्वरूप उसकी भीतरी गन्दगी बाहर नहीं आ जाती, अर्थात् जबतक मानसिक रोगी की मानसिक गन्दगी का रेचन नहीं हो जाता। गन्दी वस्तुओं से भय करने वाले व्यक्ति के मन में गन्दी मानी हुई प्रवृत्ति अथवा वासनाओं की प्रबलता रहती है। गन्दी प्रवृत्ति अथवा वासना के अवरोध से वह निर्बल न होकर और भी प्रबल हो जाती है। इस प्रवृत्ति की शक्ति जबतक खर्च नहीं होती तबतक गन्दगी की भावना नहीं छूटती। इसके लिये अवरुद्ध शक्ति का किसी न किसी प्रकार रेचन, अथवा उपभोग होना आवश्यक है।

गन्दगी के विचार उसी व्यक्ति को त्रास देते हैं जिसके चेतनमन में पवित्रता के भावों की प्रबलता रहती है। अधिक सफाई पसन्द लोगों के मन में गन्दे भावों का दमन रहता है। इनके दमन के लिये ही अत्यधिक सफाई की चिन्ता रहती है। भीतरी मन में गन्दी भावनायें रखनेवाले व्यक्ति बाहरी गन्दगी से सदा भयभीत रहते हैं। उन्हें थोड़ी बहुत धूल गन्दी आदि असह्य होते हैं। वे धुले कपड़ों को धोकर पहनते हैं, साफ बर्तनों को फिर से साफ कराकर भोजन करते हैं, दिनभर कमरा झाड़ते धोते रहते और कपड़ों को साफ करते रहते हैं। इस सब बाहरी गन्दगी का भय आन्तरिक गन्दगी का भय है। यह सब प्रतीकरूप से प्रकट होता है। जबतक आन्तरिक गन्दगी वर्तमान रहेगी बाहरी गन्दगी का भय इस प्रकार बना रहेगा। जब मनुष्य अपनी आन्तरिक गन्दगी को चेतन मन के समक्ष आने देता है तो गन्दगी की प्रवृत्ति शक्ति हीन हो जाती है, फिर उसको बाहरी गन्दगी का भय भी चला जाता है।

आन्तरिक गन्दगी की भावना को कैसे नष्ट किया जाय अथवा उसकी प्रबलता को कैसे कम किया जाय यह एक भारी महत्व का मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। इसी पर मनुष्य के जीवन का आध्यात्मिक विकास और उसका स्वास्थ्य निर्भर करता है। आन्तरिक गन्दगी की भावना नष्ट होने पर ही बाहरी गन्दगी की भावना कम हो सकती है। इसके पहली आवश्यकता यह है कि मनुष्य आन्तरिक गन्दगी की भावना को स्वीकार करे। मनुष्य में किसी प्रकार की मानसिक बेचैनी केवल पुराने अनुभव के संस्कारों के कारण ही नहीं होती। फ्रायड महाशय का कथन है कि किसी संवेगात्मक घटना के संस्कार मानसिक रोग का कारण होते हैं। यह संवेगात्मक घटना विस्मृत हो जाती है, पर उसके संस्कार मनुष्य के अचेतन मन में बैठे रहते हैं। मनोविश्लेषण के द्वारा रोगी को पुरानी घटना का स्मरण कराया जाता है। इस स्मरण के होते ही वे संस्कार जो रोग का कारण होते हैं नष्ट हो जाते हैं। इससे रोग भी जाता रहता है।

आधुनिक विचारों के अनुसार रोग की जड़ किसी पुराने अनुभव में नहीं रहती, वरन रोगी की वर्तमान मानसिक स्थिति में रहती है। संवेगात्मक घटना का महत्व इतना ही है कि उसके घटित होने के समय से मनुष्य के मन में तत्सम्बन्धी मानसिक शक्ति का अवरोध होता है और इस अवरोध के कारण मानसिक बेचैनी और मानसिक रोग की उपस्थिति होती है। अतएव मानसिक शक्ति की अवरोध की अवस्था का अन्त करना ही मानसिक रोग के नष्ट करने का उपाय है। कुछ अवरुद्ध मानसिक शक्ति का खर्च मनोविश्लेषण द्वारा पुरानी घटना को स्मरण करने से हो जाता है। पर इतना ही मानसिक शक्ति को खर्च करने के लिये पर्याप्त नहीं है। रोग का कारण बनने वाली मानसिक शक्ति का सदुपयोग होना भी नितान्त आवश्यक है। जब किसी मानसिक शक्ति का सदुपयोग नहीं होता तो वह मनुष्य के दुःख का कारण बन जाती है। युंग महाशय का कथन है कि मनुष्य का अचेतन मन स्वय बुरा नहीं है, पर जब उसका कठोरता के साथ दमन किया जाता है तो वह बुरा बन जाता है। अतएव यदि चेतन मन की शक्ति का दमन न करके उसका अपने जीवन को विकसित करने में उपयोग किया जाय तो मनुष्य को किसी प्रकार का मानसिक रोग न रहे।

घृणा और गन्दगी की भावना का अधिकतर सम्बन्ध मनुष्य की काम वासना से रहता है। जिन लोगों को इस प्रकार की भावनायें आती हैं उनका प्रेम सम्बन्ध व्यवस्थित नहीं रहता। जो व्यक्ति अपनी स्त्री को पूरे मनसे प्यार करता है, उसे उक्त प्रकार का रोग नहीं होता। इसी तरह पति को पूरे मन से प्यार करने वाली महिला को भी सफाई की झक सवार नहीं होती। जब किसी मनुष्य को एक बार उक्त रोग आ जाता है तो फिर उसे स्त्रियों के प्रति प्रेम नहीं होता। वह अपना जीवन अकेले रह कर व्यतीत करना पसन्द करता है। अतएव गन्दगी के विचारों से परेशानी के रोग के निराकरण के लिये पहली आवश्यकता पुराने संवेगात्मक अनुभव को स्मरण कराना है।

दू रे रोगी का अपनी अवरुद्ध वासना के प्रति दृष्टि कोण बदलना भी आवश्यक है। रोगी को अवरुद्ध वासना को घृणा की दृष्टि से न देख कर सामान्य दृष्टि से देखना होगा। अर्थात् रोगी को सोचना होगा कि जिस प्रकार की प्रवृत्ति के लिये वह आत्म-भर्त्सना करता था वह सर्वथा सामान्य है और उसके सम्बन्धित कार्य के लिये उसे आत्म-ग्लानि न करना चाहिये। इस प्रकार की भावना के मन में आने पर पुराने अनुभव पूरी तरह से स्मृति के पटल पर आ जाते हैं। अब आन्तरिक मानसिक शक्ति का ज्ञान हो जाने पर उसका सदुपयोग किया जा सकता है।

मान लीजिये अवरुद्ध मानसिक शक्ति काम वासना की शक्ति है। इन शक्ति का शोध साहित्य के अध्ययन, संगीत, कला के कार्य, लोक सेवा, बालकों के लालन पालन के कार्यों में होता है। मानसिक चिकित्सक का यह कर्तव्य है कि वह रोगी को उसके उपयुक्त काम में लगावे। जो लोग किसी समाजोपयोगी कार्य में अपने आप को पूरे मन से लगा देते हैं उनका अनेक प्रकार के मानसिक रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

गन्दगी के विचारों को हटाने का एक उपाय प्रति भावना का अभ्यास है। जिस वस्तु के सोचने से गन्दगी का भाव मन में आता है उसे रोगी को बार बार सोचना चाहिये। उसे उसके भले पहलू पर भी विचार करना चाहिये। पैखाने का विचार जिस व्यक्ति को तंग कर रहा है उसे सोचना चाहिये कि मनुष्य का मल भी एक प्रकार का भौतिक पदार्थ है। वह कितना उपयोगी है। इसे कौन बता सकता है? मैले के खाद से अनाज की उपज होती है। मैले से अमोनियां निकाल कर सुगन्धी कई प्रकार के इत्र बनाये जाते हैं। जर्मनी से आने वाले अनेक प्रकार के इत्र प्रायः मनुष्य के मल के बने रहते थे। लेखक का एक मित्र भी अनेक प्रकार के सुगन्धी इत्र मल से ही बनाया करता था। आधुनिक वैज्ञानिक अविष्कारों ने घृणा को वस्तुओं का अन्त कर दिया। सभी प्रकार की गन्दी वस्तुओं को अब उपयोगी वस्तुओं के

निर्माण में काम में लाया जाता है। इस प्रकार अपने विचारों को मलके भले पहलू पर केन्द्रित करके गन्दगी के विचारों को बदला जा सकता है।

अपने सभी पुराने संवेगात्मक अनुभवों का लिखना मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने और गन्दगी के विचारों को हटाने के लिये बड़ा ही लाभ प्रद है। इनसे उन संवेगों का रेचन हो जाता है। किसी दूसरे व्यक्ति के समक्ष अपने अनुभवों को कहने से जो लाभ होता है वही लाभ अपने अनभवों को लिख डालने से भी होता है। अतएव मानसिक स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने संवेगात्मक अनुभवों को लिख डालें और फिर उन पर विचार करें।

गन्दगी के विचारों को मन से हटाने का उपाय दूसरे लोगों की की गन्दगी को साफ करना है। लेखक के एक मित्र को पैखाना पेशाब आदि से बड़ी घृणा रहती थी। पर जब से उसे सेवा पुरी में पैखाना साफ करना पड़ा तब से उसका पैखाने के प्रति घृणा का भाव जाता रहा। इसी तरह छोटे बालकों का मल मूत्र साफ करने से, उन्हें नहलाने धुलाने से भी गन्दगी के विचार मन से दूर हो जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति के अपने बच्चे न हों तो उसे उक्त प्रकार की सेवा दूसरे लोगों के बच्चों की ही करनी चाहिये। जो व्यक्ति दूसरे लोगों को साफ रखने की चेष्टा करता है और दूसरों की गन्दगी को सह लेता है वह अपने आन्तरिक मन में अपने आप ही शुद्ध हो जाता है। बालकों की सफाई की चेष्टा करने से मनुष्य में जितना आत्म-सुधार होता है उतना आत्म-सुधार और किसी प्रकार नहीं होता।

शिव भावना का अभ्यास मनुष्य के मन से सभी गंदगी के विचार निकाल देता है। जो कुछ होता है अथवा है वह सब भला है-इस भावना को बार बार मन में लाना शिव भावना का अभ्यास करना है। जब इस भावना में मनुष्य रत हो जाता है तो गन्दगी के विचार मन में ठहर ने नहीं पाते। फिर शिव भगवान तो विचित्र से देवता हैं। वे मुण्डों की माला गले में डालते हैं, नाग उनके आभूषण हैं

और उन्हें मसान की भस्म प्रतिदिन कई बार लगाई जाती है। जब मनुष्य ऐसे देवता को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है तो उसे फिर कोई गन्दगी का विचार त्रास नहीं देता !

उक्त भावनाओं का अभ्यास मनुष्य को सोते समय और जागते समय अवश्य करना चाहिये। सोते समय के विचार बड़े प्रभावकारी होते हैं। मनुष्य जिस प्रकार के विचारों को लेकर सो जाता है, उसका जीवन भी उसी प्रकार का धीरे धीरे बन जाता है। जब मनुष्य का चेतन मन सोता है तो उसका अचेतन मन काम करने लगता है और इसके काम के कारण मनुष्य के स्वभाव और विचारों में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है।

दसवाँ प्रकरण

मानसिक नपुंसकता

मानसिक नपुंसकता हमारे समाज का एक व्यापक रोग है। इस रोग के दो रूप होते हैं—एक अपने आप में अपनी स्त्री के साथ रमण करने में असमर्थता की अनुभूति होना और दूसरे संसार के अन्य कामों में भी सन्देह की मनोवृत्ति, झिझक, संकोच का उत्पन्न होना और इसके कारण किसी भी नयी परिस्थिति में पड़ने से जी चुराना। मानसिक नपुंसकता अन्य दूसरे प्रकार के रोग में भी परिणत हो जाती है। उदाहरणार्थ-अकारण आत्मभर्त्सना को उत्पत्ति होना, अनिद्रा का होना किसी प्रकार के शारीरिक रोग की मन में बार-बार कल्पना आना इत्यादि। मानसिक नपुंसकता की जड़ कामवासना के दमन में ही रहती है। कभी कभी बालक की आत्म प्रकाशन की भावना के दमन से भी मानसिक नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है। जिस बालक को बात बात में झिड़का जाता है। उसके हरेक काम को सुधारा जाता है उसे निकम्मा, बेसहूर आदि शब्द कहे जाते हैं उसमें भी मानसिक नपुंसकता का भाव आ जाता है। ऐसा बालक युवा होने पर अपनी पत्नी से उस प्रकार प्रेम नहीं कर पाता जिस तरह अन्य लोग कर सकते हैं। उसे अपनी स्त्री के प्रति अनेक प्रकार के अकारण सन्देह हो जाते हैं। इस कारण दोनों का हृदय से मिलन नहीं होता और इस हृदय के मिलन के अभाव में नपुंसकता को उत्पत्ति होना स्वाभाविक है।

बार बार किसी प्रकार की चिन्ता होने से मानसिक नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है। नपुंसक हो जाने की चिन्ता अपने आप ही एक भारी चिन्ता है। यह भी मनुष्य को नपुंसक बना देती है।

जिस प्रकार मनुष्य के अनेक अन्य शारीरिक रोग कल्पना के द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं उसी तरह भययुक्त कल्पना मानसिक नपुंसकता को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार की नपुंसकता में मनुष्य सामर्थ्य रहते हुए भी अपने सामर्थ्य के अनुसार काम नहीं कर पाता। ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी कल्पना से घबड़ाता है त्यों त्यों ही वह और भी प्रबल हो जाती है। मानसिक नपुंसकता की स्थिति में मनुष्य अपने ही विषय में सदा चिन्तित रहता है। वह अपनी कमी के लिये आत्मभर्त्सना करते रहता है और जैसे जैसे उसका आत्मभर्त्सना का भाव प्रबल होता है और उसकी चिन्ता बढ़ती है, उसका रोग भी बढ़ता जाता है। इसके अधिक बढ़ने पर अनिद्रा का रोग हो जाता है। कभी कभी मनुष्य क्षयरोग की कल्पना मन में ले आता है और वह इस रोग का कभी-कभी शिकार भी हो जाता है।

मानसिक नपुंसकता के रोगियों के कुछ अनुभव, जिन से मानसिक नपुंसकता के स्वरूप और उनके कारणों पर प्रकाश पड़ता है यहां उल्लेखनीय हैं। पहले तो मानसिक नपुंसकता के रोगी प्रायः शिष्ट सम्पन्न और सुशिक्षित व्यक्ति होते हैं उन्हें आत्म-सुधार की चिन्ता रहती है. वे साधारणतः किसी प्रकार के दुराचार में नहीं पड़ते। अपने कामवासना सम्बन्धी विचारों का वे निग्रह करने की ही चेष्टा में लगे रहते हैं। दूसरे—इनका विवाह प्रायः युवावस्था प्राप्त होने पर होता है। किशोरावस्था में जिन बालकों का विवाह हो जाता है और अपनी स्त्री से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उन्हें प्रायः यह रोग नहीं होता। अपनी इच्छित प्रेयसी से यकायक मिलने से भी मानसिक नपुंसकता की कल्पना उत्पन्न हो जाती है। स्त्री के मन से न मिलने पर अथवा उसके सहवास में सहयोग प्राप्त न होने पर भी मानसिक नपुंसकता आ जाती है। जिस स्त्री से मनुष्य विवाह नहीं करना चाहता उससे विवाह हो जाने पर कभी कभी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। एक स्त्री से

आकर्षित होने पर जब दूसरी के साथ विवाह हो जाता है तब भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। हस्थमैथुन की आदत का यकायक दमन भी इस रोग की उत्पत्ति करता है। इस आदत के कारण मनुष्य में अपने पुरुषत्व के चले जाने का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। वह अपने आप में नपुंसकता की कल्पना करने लगता है। स्त्रियों से मिलने पर डरता है और विवाह होने पर उसे पत्नी के साथ सहवास से झिझक तथा अरुचि हो जाती है।

लेखक के एक मित्र ने जो शारीरिक चिकित्सा का कार्य करते हैं. हाल में अपने एक रोगी की मानसिक नपुंसकता का वृत्तान्त सुनाया और उससे सलाह मांगी कि वह उससे मुक्त कैसे हो। यह रोगी पहले एक युवती से प्रेम करता था पर इसके माता-पिता ने किसी दूसरी लड़की से उसका विवाह कर दिया। इस विवाह से उसे बड़ी निराशा हुई। परन्तु यह नववधू विवाह के डेढ़ साल के भीतर ही मर गई। इसके बाद इस व्यक्ति का विवाह उसी स्त्री से हुआ जिसे वह पहले से प्यार करता था। अपनी वांछनीय वस्तु को पाकर उसे हृदय में उल्लास होना चाहिये था। यह उल्लास बहुत कुछ हुआ भी। परन्तु अब उसे एक नई कठिनाई उत्पन्न हो गई वह अपनी स्त्री के साथ सहवास नहीं कर सकता।

लेखक के एक दूसरे वैद्य मित्र ने एक दूसरे रोगी का इस प्रकार वृत्तान्त सुनाया। रोगी २५ वर्ष का युवक है इसे अपने आप में हाल में ही मानसिक नपुंसकता की अनुभूति होने लगी। उसकी स्त्री रूपवती है वह अपनी स्त्री के साथ संभोग करना चाहता था परन्तु वह सदा इसमें सहयोग देने से रुकती थी। उसकी इस प्रकार की मनोवृत्ति को देख कर इस व्यक्ति के मन में बार-बार यही आता था कि यदि मैं नपुंसक हो जाता तो अच्छा था। उसे अपनी इच्छा को सदा मारते रहना पड़ता था। अब उसकी बार-बार की गई इच्छा फलित सी हो गई। अब उसकी स्त्री सहवास के लिये उत्सुक भी रहती है तब भी उसे कामवासना की उत्तेजना नहीं

होती और इसके कारण वह सदा आत्मभर्त्सना की अनुभूति करता है।

एक रोगी जिसे अनिद्रा का रोग है। विवाह के समय से ही अपनी स्त्री को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा। उसने अपनी स्त्री के साथ काम सम्बन्ध नहीं किया। विवाह के कुछ ही दिन बाद उसे अनिद्रा, मानसिक चंचलता, स्त्री के प्रति सन्देह, निराशावादिता आदि रोग उत्पन्न हो गये। वह अपने आप में किसी न किसी प्रकार की बीमारी की कल्पना किया करता है और इसके कारण भोजन और दवा की बातों में ही सदा परेशान रहता है। वह अपनी स्त्री के विषय में भी सदा चिन्तित रहता है। वह उसे क्षण भर के लिये नहीं छोड़ना चाहता। यदि वह अपने नैहर जावे तो वह भी उसी के साथ आ जाता है. उसके रोग को देखकर उसके ससुराल के लोगों ने उसकी डाक्टरी परीक्षा कराई उन्हें सन्देह हुआ कि वह नपुंसक है। इस परीक्षा के परिणाम-स्वरूप उसका स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया। माता-पिता ने फिर लड़की को कालेज में पढ़ाना प्रारंभ किया। पति उसे कालेज की शिक्षा नहीं देना चाहता था और इसके कारण उसको शिक्षा में अनेक प्रकार की बाधायें उत्पन्न करने लगा। वह बार-बार अपनी स्त्री के मिलने के लिये कालेज जाता और उसे अपने रोग की चर्चा सुनाकर उसे पढ़ाई छोड़ने के लिये कहता।

यह रोगी एक ओर तो स्त्री की इतनी चिन्ता दिखाता कि उसके बिना क्षणभर भी नही रहता था, पर दूसरी ओर वह उसे भोजन तक नहीं करने देता। जब स्त्री भोजन करती रहे तो वह बीच में आ जाता और कहता कि "मैं बीमार हूं और तुम तो खूब भोजन उड़ा रही हो"। वह सदा अपनी सेवा में ही अपनी स्त्री को लगाये रखता है। यदि वह कभी थोड़ा भी आराम करे तो उससे वह परेशान हो जाता है। रात में सो जाने पर वह उसे

जगा देता है। वह कहता है—"मुझे निद्रा नहीं आ रही और तुम खूब मजे में सो रही हो"।

एक बार रात में बैठे समय एक ज्योतिषी ने उसका हाथ देखा और उससे कह दिया कि उसकी आयु कुल पाँच वर्ष की और है तब से वह और भी परेशान हो गया है। उसके मन में मृत्यु का विचार बैठ गया है। इस विचार को अब कोई व्यक्ति बाहर नहीं निकाल सकता। वह अपने आप को चार दिन का मेहमान समझता है अतएव उसका मन किसी काम में लगता ही नहीं।

एक तीसरे रोगी को हृदय का रोग है। इसकी आयु ४५ वर्ष की है और वह अच्छी जगह पर नौकर है। उसका प्रारम्भ से ही अपनी स्त्री से झगड़ा होता रहता है। अब उसका झगड़ा अपने दूसरे सम्बन्धियों से भी होने लगा है। वह बड़ा कंजूस है। जब क्रोध का आवेग आता है तो उसका हृदय का रोग बढ़ जाता है। इस रोग के कारण उसमें निराशावादिता और शारीरिक कमजोरी आ गयी हैं।

मानसिक नपुंसकता का भाव किसी किसी मनुष्य के मन में कई दिनों तक दबा रहता है, पर पीछे एकाएक झक के रूप में उत्पन्न हो जाता है। एक सुशिक्षित सम्पन्न घरके व्यक्ति को अपनी छत्तीस वर्ष की अवस्था में मानसिक नपुंसकता का रोग प्रबल हो गया। अब उसके मन में निराशावादी विचार, स्त्री के प्रति सन्देह के भाव, अकारण भय, अनिद्रा आदि रोग आ गये। उसके इस समय तक चार बच्चे हो चुके थे। उसकी धारणा बन गई कि वे बच्चे उसके नहीं वरन् स्त्री के व्यभिचार से पैदा हुये हैं। उसे अकारण सांप का भय भी उत्पन्न हो गया। वह कभी कभी सांप को अपनी कल्पना में अपने सामने देखता था। यह भय काम वासना के भय का प्रतीक होता है। जब उसका मनोविश्लेषण करके उसके दलित विकार का रेचन किया गया तो उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया। अब इसके एक सन्तान और हो गई तो उसको मानसिक रोग की झक जाती रही।

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्रबल कामवासना का दमन मानसिक नपुंसकता की उत्पत्ति करता है। जब कामवासना की प्रोगामी प्रगति का यकायक अवरोध हो जाता है तो वह प्रतिगामिनी बन जाती है। ऐसी स्थिति में ही अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। नपुंसकता दीर्घकालीन काम शक्ति के अवरोध का परिणाम होता है। यह नपुंसकता जन्म जात नहीं होने के कारण मनुष्य को पर्याप्त दुःख देती है। कभी कभी व्यभिचार करनेवाले अथवा हस्तमैथुन करनेवाले लोगों को भी मानसिक नपुंसकता आ जाती है जो पीछे अनिद्रा, अकारण भय तथा अनेक प्रकार के कल्पित रोगों में भी प्रकाशित होती है। व्यभिचार करनेवाले व्यक्ति की इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है। ऐसी अवस्था में कोई भी बुरा विचार मन में घुस जाने पर वह मनुष्य को त्रास देने लगता है।

मानसिक नपुंसकता के रोगी को सदा ही अपना रोग स्मरण रहता है, अतएव वह उससे मुक्त नहीं रहता। जिस प्रकार अनिद्रा का रोगी अपने रोग को स्मरण रखे रहने के कारण अनिद्रा की अवस्था में ही बना रहता है, इसी प्रकार मानसिक नपुंसकता का रोगी भी अपने रोग को स्मरण रखे रहने के कारण ही उस रोग में पड़ा रहता है। यदि ऐसे रोगियों को किसी प्रकार उनके रोगों से उदासीन करा दिया जाय तो वे उन रोगों से मुक्त हो जायँ।

मानसिक नपुंसकता एक जटिल रोग है। यह रोग साधारण उपचार से और भी बढ़ जाता है। दवाई करने से रोगी को अपना रोग स्मरण रहता है और इसके कारण रोग और बढ़ता है। जब रोगी अपने विषय में चिन्ता करना छोड़ देता है तो उसका रोग अपने आप ही नष्ट हो जाता है। मानसिक नपुंसकता मनुष्य में प्रेमाभाव की सूचक है। जैसे जैसे मनुष्य के मन में प्रेम की वृद्धि होती हैं और जैसे जैसे वह अपने विषय में चिन्ता करना छोड़ता है उसका रोग नष्ट हो जाता है। मानसिक नपुंसकता

के निराकरण के लिये रोगी को दीन दुखियों, बच्चों अथवा अपने मित्रों की सेवा में लगा देना चाहिये। इस प्रकार जितना ही उनका मन दूसरों के कल्याण के विषय में संलग्न होगा उसका रोग अपने आप ही नष्ट हो जावेगा।

मानसिक नपुंसकता में मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास अत्यन्त लाभकारी होता है। मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास में व्यक्ति अपने मन की सभी प्रकार की भली तथा बुरी कल्पनाओं को मानस पटलपर आने की छूट दे देता है। किसी विचार को न रोकने पर सभी विचार अपने आप ठिकाने पर आ जाते हैं। यदि इस अभ्यास के करते समय नींद आ जाय तो और भी अच्छा है। साधारणतः नींद आ ही जाती है।

मानसिक नपुंसकता का निरा करण साधरण प्राकृतिक उपचार से भी होता है। प्रति दिन नियमित रूप से घूमने जाना, बहते पानी से स्नान करना, सूर्य की रोशनी में देर तक बैठना नित्य नियम से व्यायाम करना आदि बातें इस रोग का अन्त कर देती हैं। प्रति दिन अपने मित्रों से मिलने जुलने से उनके प्रति प्रेम प्रदर्शन से यह रोग नष्ट होता है! प्राकृतिक दृष्यों का देखना, चित्र कारी करना संगीत में रस लेना आदि बातें मानसिक नपुंसकता की निवारक हैं।

सबसे महत्व की बात इस रोग के प्रति उदासीन होने की है। इसके लिये शिव भावना का अभ्यास करना आवश्यक है। रोगी को सोचना चाहिये कि उसका रोगी की स्थिति में ही रहना अच्छा है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक इस रोग से मुक्त होने के लिये उद्विग्न मन होता है वह इस रोग को उतना ही अधिक बढ़ा लेता है। यातो रोगी से इस विचार का अभ्यास कराया जाय कि उसका रोग धीरे धीरे अच्छा होगा अथवा उससे रोगी बने रहने को ही भला मानना सिखाया जाय तो उसका रोग नष्ट हो जाय। जब तक रोगी उद्विग्नता के साथ रोग से छुटकारा पाने की चेष्टा करता है रोग नहीं जाता।

नष्ट कर देता है और वह सोच लेता है कि इस रोग के रहते हुए भी वह संसार का अनेक प्रकार का कल्याण कर सकता है तो उसका रोग चला जाता है।

कितने ही मानसिक नपुंसकता के रोगी अपनी स्त्री के मिलने से डरने लगते हैं। इसके कारण उन्हें अनेक प्रकार की बीमारियों का का अभिनय करना पड़ता है। स्त्री से मिलने से डरने वाले लोगों को अनिद्रा, कल्पित हृदय के रोग, अपच के रोग हो जाते हैं। जब उनका स्त्री के प्रति डर मिट जाता है तो ये रोग भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसे लोग मृत्यु का भी आवाहन करने लगते हैं। वे किसी भी ज्योतषी की अशुभ सूचक भविष्य वाणी में विश्वास करने लगते हैं और उसे अपने जीवन में चरितार्थ होते देखते हैं।

स्त्री के प्रति सच्चा प्रेम करने से मनुष्य की मानसिक नपुंसकता नष्ट हो जाती है। सच्चा प्रेम भोग वासना से भिन्न वस्तु है। स्त्री को अपनी भोगेच्छा का साधन मानने वाला व्यक्ति स्वार्थी होता है। ऐसे ही पुरुष को मानसिक नपुंसकता होती है। जब स्त्री की सेवा करना मनुष्य अपने ग्रहस्थ जीवन का ध्येय बना लेता है तो उसके पुरुषत्व का उदय हो जाता है। सच्चे प्रेम का आधार पारस्परिक सेवा है नकि पारस्परिक सुख। जब स्त्री पुरुष दोनों ही एक सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति में संलग्न हो जाते हैं तो उनमें सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था रोग की मनोवृति नष्ट हो जाती है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

भूत बाधायें और मानसिक रोग

एक वैज्ञानिक पुस्तक में भूत और भूत बाधाओं की चर्चा करना असंगत सा दिखाई देता है, परन्तु सचमुच में भूत बाधाओं पर विचार किये बिना मानसिक रोगों की ठीक ठीक विवेचना नहीं हो सकती। भूत बाधा अकारण मानसिक रोग है। जिस रोग का कारण मनुष्य अपने शरीर में अथवा वातावरण में नहीं देखता उसका कारण वह किसी अज्ञात सत्ता को मान लेता है। देवी देवता का प्रकोप और भूतों के द्वारा त्रास इसी प्रकार के कारण हैं।

वैज्ञानिक बुद्धि भूतों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती, परन्तु वैज्ञानिक चिकित्सा के ज्ञाता अनेक ऐसे रोगों को देखते हैं जिनका उन्हें कोई भौतिक कारण नहीं दिखाई देता। वास्तव में इन रोगों का कारण मानसिक होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो जिन रोगों को हमने मानसिक रोग कहा है वे सभी भूत बाधायें हैं। इन रोगों का वास्तविक कारण रोगी को ज्ञात नहीं रहता और जब वह ज्ञात हो जाता है तो रोग ही नष्ट हो जाता है।

भूत बाधाओं की व्यापकता

संसार के सभी देशों में भूत बाधाओं की व्यापकता देखी जाती है। पुराने समय में भूत बाधाओं की बहुतायत थी अब ये कम हो रही हैं। परन्तु संसार के सभ्य से सभ्य देशों में भी इसका सर्वथा अभावनहीं है। वर्तमान काल में भी हम कभी कभी अखबार में पढ़ते हैं कि किसी व्यक्ति को भूत सताते थे और किसी साधू संत पादरी, मुल्ला आदि के कुछ मंत्र तंत्र से सताना बंद हो गया। कुछ दिन पूर्व की खबर है कि एक लड़के को भूत सताये थे। वे कभी कभी

उसको जमीन पर पटक देते और अनेक प्रकार से उसको ताड़ना देते थे। इस प्रकार के सताने को एक पादरी ने झाड़ फूक कर बंद कर दिया।

कुछ लोग भूतों के बाह्य आस्तित्व में विश्वास करते हैं और "प्लेंचेट", तथा दूसरे साधनों के द्वारा कभी कभी भूतों को बुलाते हैं इसके लिए उन्हें किसी को माध्यम बनाना पड़ता है जो व्यक्ति माध्यम बनता है वह साधारणतः छोटी आयु का होता है अर्थात् उसमें तार्किक विचार की कमी होती है कभी कभी स्वयं प्रयोग कर्ता अपने आप ही को माध्यम बना लेता है। उसका ही हाथ कभी कभी ऐसी बातें लिखने लगता है जो स्वयं लिखनेवाले के चेतन मन को ज्ञात नहीं रहती। उदाहरणार्थ प्रयोग कर्ता का हाथ कुछ ऐसी खबर को लिख सकता है जिसका ज्ञान व्यक्ति की साधारण चेतना को नहीं है। इस प्रकार प्रयोग कर्ता विश्वास करने लगता है कि उसके शरीर में किसी विशेष स्प्रिट (भूत) ने प्रवेश कर लिया है।

हम यहाँ भूतों के बाह्यअस्तित्व पर विचार न कर केवल इस बात पर विचार करेंगे कि भूत चाहे बाहर हों अथवा नहीं भूत बाधायें वास्तविक वस्तु है और उनके कारण मनुष्यों को उसी प्रकार दुःख होता है जिस प्रकार यदि वास्तविक भूत होते तो दुःख होता। भूत बाधाओं का विशेष मनोविज्ञान है। सभी लोगों को भूत त्रास नहीं देते अपितु विशेष प्रकार की मनोवृत्ति के लोगों को ही भूत त्रास देते हैं। साधारणतः शिक्षित लोगों की अपेक्षा अशिक्षितों को भूत बाधा अधिक होती है, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को और प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा बालकों को भूत बाधायें अधिक होती है। जिस व्यक्ति की इच्छा शक्ति जितनी अधिक निर्बल होती है उसे भूत बाधायें उतनी ही अधिक होती है।

भूत बाधा और हिस्टीरिया

पढ़े लिखे और वैज्ञानिक विचार के लोगों को भूत बाधायें नहीं सतातीं। ऐसे लोगों में भी इच्छा शक्ति की कमजोरी का अभाव

नहीं रहता । किन्तु पढ़े लिखे लोगो की भूत बाधायें हिस्टीरिया रोग का रूप धारण कर लेती हैं । पढ़े लिखे लोगों को वे होशी की बीमारी उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अपढ़ लोगों को । पढ़े लिखे लोग अपने आप को अकारण भय, बाध्य विचार तथा नाना प्रकार के मानसिक रोगों से त्रस्त पाते हैं । वे इन रोगों का कारण किसी भूत को नहीं मानते, तिसपर भी वे उनका वास्तविक कारण नहीं जानते । आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि हिस्टीरिया का रोग और भूत बाधायें एक तथ्य के दो नाम है । जिसे पुराने समय के अशिक्षित लोग भूत बाधा कहते थे उसे ही आधुनिक काल के पढ़े लिखे लोग हिस्टीरिया कहते है । सभी मानसिक रोग भूत बाधायें ही हैं । आधुनिक मनोविज्ञान के एक प्रमुख पंडित चार्ल युंग महाशय के कथनानुसार अपने ही दलित विचार भूतों के द्वारा सताने का रूप धारण करते है अथवा हिस्टीरिया बन जाते हैं । यह एक प्रकार का मानसिक आरोपण है । जिसे हम बुरी आत्मा (ईविल स्पिरिट) कहते हैं वह वास्तव में अपने ही अनैतिक विचार हैं जिन्हें हम स्वीकार नहीं करना चाहते यही दबे हुए अनैतिक विचार एक व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेते हैं । इस व्यक्तित्व को मनुष्य का साधारण व्यक्तित्व नहीं पहचानता अतएव जो काम मनुष्य इस नये व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर करता हैं वह उसे अपने काम न मानकर किसी अन्य व्यक्तित्व अथवा आत्मा के काम मानने लगता है ।

भूत बाधा में व्यक्तित्व का विच्छेद

एक ही मनुष्य में अनेक व्यक्तित्व रह सकते हैं । मनुष्य का एक व्यक्तित्व बड़ा सादा, सुशील और सदाचारी हो सकता है और दूसरा व्यक्तित्व ही इसका उलटा हो सकता है । जब मनुष्य के दोनों व्यक्तित्व में अधिक विरोध होता है तो एक दूसरे को स्वीकार नहीं करता । ऐसी स्थिति में अपढ़ लोग दूसरे व्यक्तित्व को कोई बाहरी आत्मा मान लेते हैं । जिस प्रकार चलित स्वप्नों में मनुष्य अपने ही

काम करके यह नहीं जानता कि वह स्वयं उन कामों को करता है, इसी प्रकार द्वि व्यक्तित्व की अवस्था में भी मनुष्य अनेक प्रकार के काम कर डालता है। कभी कभी ये काम प्रधान व्यक्तित्व के लिए उपयोगी होते हैं और कभी वे हानिकारक भी होते हैं। जब कोई मनुष्य इस प्रकार के कामों को अपने समक्ष देखता है तो वह सोचता है कि कोई बाहरी आत्मा उसके उन चमत्कारक कामों कर गई है।

दुरात्मा के द्वारा त्रास के मनोविज्ञानपर विचार करने से पता चलता हैं कि यह दुरात्मा का त्रास अपने आप द्वारा ही त्रास है। जिस मनुष्य के अनेक अनैतिक विचारों का दमन होता है उसका मन आन्तरिक द्वन्द्व में ही लगा रहता है। यह अन्तर्द्वन्द्व मनुष्य के अनजाने होता है। जब कोई मनुष्य इसे स्वीकार नही करना चाहता तो उसे अनेक प्रकार के मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य उन्हीं चेष्टाओं को करता है जो दबी भावनाओं की प्रतीक होती हैं इसी प्रकार शारीरिक रोग भी दबी भावनाओं के प्रतीक होते हैं। जब कोई व्यक्ति इन रोगों का कारण अपने आप में नहीं देखता, अर्थात् जब वह अपने दबे बुरे विचारों की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता तो यह इनको किसी बाहरी दुरात्मा के सिर मढ़ता है। इससे एक प्रकार का आत्म संतोष रोगी मनुष्य को होता है।

कोई भी मनुष्य अपनी किसी बुराई की जड़ अपने आप में नहीं देखना चाहता। वह अपने आप की जिम्मेदारी अपने ऊपर भी नहीं लेना चाहता। उसे भारी संतोष इस बात में होता हैं कि कोई बाहरी दुरात्मा ही उसे त्रास दे रही है और उसी के कारण अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो रहे हैं। इस प्रकार वह आत्म-निरीक्षण की जिम्मेदारी से बच जाता है। इस तरह जिस प्रकार मनुष्य को शारीरिक रोग नैतिक जिम्मेदारी से बचाता हैं, इसी तरह किसी दुरात्मा के सिर अपने रोग का कारण मढ़ने से भी मनुष्य मिथ्या आत्म-संतोष पा लेता है। वास्तव में यह दुरात्मा मनुष्य को अपने आपकी ही दुरात्मा है।

यह उसके अशुभ बिचारों के समुदय से बना हुआ एक व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व की सृष्टि स्वयं मनुष्य के विचार ही करते हैं। परन्तु पीछे इसकी बीभत्सता को देख मनुष्य उसे स्वीकार नहीं करना चाहता अतएव किसी दुरात्मा की कल्पना करता है। यह दुरात्मा की कल्पना अपने व्यक्तित्व का आरोपण (प्रोजेक्शन) मात्र हैं और दुरात्मा द्वारा त्रास पाना अपने आपको भुलाव देने की क्रिया है। इसे आधुनिक मनोविज्ञान में अध्यास (इन्ट्रोजेक्शन) कहा जाता है।

अनैतिक चिन्तन तथा आचरण और भूत बाधा

किसी भी प्रकार के अनैतिक चिन्तन का अशुभ परिणाम अवश्य होता है। वह किसी प्रकार के मानसिक अथवा शारीरिक रोग का रूप धारण करता है। यदि ऐसा न हुआ तो बाहरी विपत्तियों के रूप में कुचिन्तन प्रकाशित होता है। सदा मानसिक संघर्ष में पड़ा हुआ व्यक्ति बाहरी जगत से भी संघर्ष उत्पन्न कर लेता है। बाहरी परिस्थितियों से परेशान रहना, अपने मानसिक रोगों से परेशान रहना, अपने आप से परेशानी के अनेक रूप हैं। जब मनुष्य का कुचिन्तन इतना प्रबल हो जाता हैं कि वह अपने नैतिक स्वत्व के काबू के बाहर हो जाता है तथा उसके विवेकात्मक स्वत्व के वश में नहीं रहता तो किसी न किसी प्रकार अप्रिय परिस्थिति में वह प्रकाशित हो जाता है। भूत बाधाओं को उपस्थिति इसी प्रकार को मानसिक परिस्थिति का परिणाम है। जिन लोगों का मानसिक साम्य बिगड़ा हुआ है उनका मानसिक साम्य सुधारने के लिए ही अनेक प्रकार की दुःखदाई परिस्थितिओं का निर्माण होता है। भूतों की कल्पना के द्वारा त्रस्त होना भी इसी मानसिक साम्य प्राप्ति की एक प्रक्रिया है।

उक्त सिद्धान्त की सत्यता दो एक उदाहरणों के द्वारा समझाई जा सकती है। लेखक के एक मित्र के पास एक नाई रहता था। इस नाई को अभिमान था कि भूत उसका कुछ भी नही कर सकते। वह अपनी भूतों से निर्भीकता के विषय में डींग हाका करता था। एक बार गर्मी दिनों जब वह एक आम के नीचे सो रहा था उसने देखा कि कोई

व्यक्ति ऊपर से उ के बदन पर रेत फेंक रहा है। उसे पहले से ही ज्ञात था कि उस आम के पेड़ में एक भूत रहता है। उसने अपनी निर्भीकता के ताव में आकर अपने पास के जूते को उठाकर आम के पेड़ को दो जूते लगाये। इसके बाद वह बेहोश होकर गिर पड़ा। वह कुछ समय तक बेहोश रहा। पीछे उसे दूसरे लोग उठाकर घर ले गये। इस घटना के पश्चात् उसे सोते सोते बेहोशी की बीमारी हो जाया करती थी। इस बीमारी के कारण कभी कभी उसकी जीभ भी कतर जाती थी। सब लोग इस प्रकार की बीमरी को भूत बाधा कहते इसका उपचार लेखक के मित्र ने किया जिसका आगे चलकर वर्णन करेंगे। उक्त उपचार से भी भूत बाधा के वास्तविक स्वरुप का पता चलता है।

लेखक के एक मित्र कई साल पूर्व एक डाकखाने में क्लर्क का काम करते थे। एक दिन डाकखाने में रात को चोरी हो गई। इस की इत्तला उक्त मित्र ने पुलिस को दी। पुलिस ने घटना स्थल पर जाकर चोरी की जांच पड़ताल की। चोरी में नकद आठ सौ रुपया गया। कुछ खिड़कियों के कांच फूट हुए थे। जांच के परिणाम स्वरूप किसी चोर का पता न चला। पर कुछ संदेह मित्र के ऊपर ही पुलिस वालों का हो गया। पुलिस के लोगों ने इसे प्रगट नहीं किया।

उक्त घटना के चार महीने बाद इस मित्र को अचानक एक मानसिक रोग हो गया। वे सदा इस विचार से पीड़ित रहने लगे कि कोई पुलिस वाला उनका पीछा कर रहा है। वे जहां कहीं जाते थे पुलिस के सिपाही को अपने साथ गुप्तरूप में देखते थे। इस प्रकार की बीमारी से त्रस्त रहने के कारण उन्हें नौकरी से छुट्टी लेनी पड़ी। पर उनका यह रोग अच्छा नहीं हुआ और इसी रोग से उन की मृत्यु भी हो गई।

यहाँ अपने मन की कमजोरी ही मित्र के रोग का कारण थी। मित्र ने अपने नैतिक स्वत्व के प्रतिकूल आचरण किया। इस आचरण को वे किसी से कह नहीं सकते थे। अतएव इसने कल्पित त्रास देने

वाली भावनाओं का रूप धारण कर लिया। ऐसी ही मानसिक अवस्था में भूतों द्वारा त्रस्त होने की भावना भी मन को पकड़ लेती है।

कुछ दिन पूर्व लेख के पड़ोस में एक साधु की हत्या हो गई थी। साधु के पास दस बारह हजार रुपया था। पुलिस को खोज करने पर अपराधियों का पता नहीं चला। इस घटना के दो महीने बाद एक भर बीमार पड़ा। वह अपनी अचेतन अवस्था में चिल्ला कर कहता था मैंने साधु को नहीं मारा किसी दूसरे आदमी ने मारा है। वह भर उस व्यक्ति का नाम भी लेता था। वह इसी बीमारी से कई दिनों त्रास पाकर मर गया। लोगों ने कहा कि उसे बाबा का भूत खा गया।

यदि किसी सीधे सादे व्यक्ति को त्रास देकर मार डाला जाय अथवा उसका धन छिनालिया जाय, अथवा उसे धोखा दिया जाय तो मारने धन छिनाने और धोखा देने वाले व्यक्ति को अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न होती है। सीधे सादे व्यक्ति के प्रति अन्याय करने की प्रेरणा किसी भी व्यक्ति में नहीं होती और जब कोई व्यक्ति ऐसे व्यक्ति के प्रति अन्याय करे तो वह अपनी आत्मा से ही अपने कुकृत्य का दण्ड पाता है। मरते हुए मनुष्य के साथ किसी प्रकार की दगा बाजी करना तो बड़ा ही घातक होता है।

लेखक की एक भतीजी को उसकी सुसराल के लोग बहुत तंग करते थे। कुछ वर्ष पूर्व इन लोगों को कुछ पड़ा हुआ धन मिलगया। इससे उनकी उक्त महिला को त्रास देने की मनोवृत्ति और भी बढ़ गई। वह एक दिन घर के त्रास से तंग आकर रात में नर्मदा के गहरे पानी में जा कूदी। इस नदी में वह डूब कर मर गई। इस घटना के लिये गांव के लोगों ने ससुराल के लोगों को दोषी माना। इधर पुलिस की भी जांच आरंभ हुई। पुलिस के लोगों को तो घूस देकर शान्त कर लिया गया और गांव के लोगों को भी किसी प्रकार चुपकर दिया गया, पर किसी भी प्रकार के कुकृत्य का पुरा परिणाम होता है। अतएव इस

घटना के तीन महीने बाद ही ससुर महाशय को लकवा का रोग हो गया। सालभर खटिया पर रह कर उनका देहान्त हो गया।

इधर लड़के की दूसरी शादी हो गई। पर यह स्त्री भी एक साल से अधिक न रह सकी उसे क्षय रोग हो गया और वह इसी रोग के कारण मर गई। फिर दूसरी शादी भी हुई। यह स्त्री भी स्वस्थन रही। इधर उसकी माँ भी अपने पति से स्वतंत्र होने कारण व्यभिचार में पड़ गई और उसकी समाज में निन्दा होने लगी। फिर मां और बेटे में ही झगड़ा होने लगा। इस प्रकार उक्त लड़की के प्रति दुर्व्यवहार ने उस परिवार को ही बर बाद कर डाला। उस लड़की का भूत उस परिवार के पीछे पड़ा हुआ है।

मरते हुए व्यक्ति को धोखा देना किस प्रकार विनाश कारी होता है इसका एक सुन्दर उदाहरण लेखक के एक वयो बृद्ध मित्र श्री लज्जाशंकर झाजी ने हाल में ही सुनाया। झाजी के एक मित्र तीन भाई थे। ये तीनों इकट्ठे रहते थे। पर प्रत्येक भाई अपनी कमाई का कुछ हिस्सा अपने बेटे के लिये रखता था। झाजी का मित्र मंझला भाई था। एक बार वह एक घातक रोग से बीमार पड़ा। इस समय उसका बड़ा भाई ही उसके पास था। उसका लड़का जो बीस वर्ष का था घर से दूर था। वह अपने लड़के को मरने के पूर्व अपने छिपे रुपये देना चाहता था। उसने अपने तकिये में पांच हजार का सोना छुपा रखा था। यह बड़े भाई को मालूम हो चुका था। अतएव वह अपने भतीजे को बुलवाने में इधर उधर कर देता था। इस प्रकार की अवहेलना के कारण रोगी व्यक्ति का लड़का उसके मरते समय तक न आ सका जब रोगी व्यक्ति मरही रहा था उसी समय उसके बड़े भाई ने उसके तकिये से पांच हजार का सोना निकाल लिया और उसे छिपा कर रख दिया। जब बाप के मरने पर लड़का आया तो उसे बाप का धन नहीं मिला। पर इस घटना के कुछ ही दिन बाद लड़के के चाचा को लकवा का रोग हुआ और वह इसी में कई दिनों तक पड़े रहने के बाद मर गया। फिर एक के बाद एक उसके

परिवार के लोग बीमार हो हो कर मरने लगे। इस प्रकार बड़े भाई के छः या सात सम्बन्धी व्यक्ति मर गये। उस परिवार का कोईभी व्यक्तिस्वस्थ नहीं रहता। कोई क्षय रोग से तो कोई दमा से तो कोई दूसरे रोगों से पीड़ित हो कर मरते हैं। अब सभी दयनीय अवस्था में है। उक्त मरे व्यक्ति का लड़का सभी प्रकार से सुखी और सम्पन्न है। लोगों का कहना है कि मरे हुए व्यक्ति की आत्मा ही उक्त परिवार को नष्ट कर रही है। वास्तव में अपराध की भावना ही उस परिवार के विनाश का कारण है। दूसरे व्यक्ति के प्रति अन्याय करना अपने नैतिक स्वत्व के प्रति अन्याय करना है। यह नैतिक स्वत्व ही फिर मनुष्य को अनेक प्रकार के त्रास देता है।

लेखक के गांव के घर के पास आज से कोई पैंतीस वर्ष पूर्व एक बुढ़िया रहती थी। इस बुढ़िया का जब पति मरा था तो वह एक घर एक गाय और कुछ सम्पति छोड़ मरा था। पति के मरने के बाद उसके चचेरे भाइयों ने बुढ़िया से एक एक करके सभी चीजें छीनना प्रारम्भ किया। थोड़े ही दिनों में उसे घर से भी निकाल भगाया वह सिर पटक पटक कर रोती थी और अपने देवरों को कोसती थी। वह इसी प्रकार कोसते हुए मर गई। उसकी मृत्यु के बाद एक एक करके उसके सभी देवर जो तीन भाई थे तीन चार साल के भीतर ही मर गये। उनके परिवार भी विनष्ट हो गये। उनकी सब जायदाद और घरद्वार भी गिर गये। बुढ़िया को त्रास देनेवाले लोगों के बच्चे या तो जीवित ही न रहे और यदि जीवित रहे तो भारी क्लेश में रहे। एक लड़का भिखारी हो गया। जिस मकान में बुढ़िया रहती थी उसकी जमीन जब मालगुजार की ओर से नीलाम हुई तो उसे खरीदनेवालों पर भी किसी न किसी प्रकार की आपत्ति आई और वह जमीन उनके पास न रह सकी। कुछ खरीदनेवालों को अपना घर छोड़ कर ही गांव से भागना पड़ा और कुछ समय के पूर्व ही जीवन यात्रा समाप्त कर दिये। इस प्रकार उस बुढ़िया ने अपने त्रास देनेवालों से

अथवा उसकी वस्तुओं से लाभ उठानेवालों से बदला लिया। कहा जाता है कि बुढ़िया की आत्मा ही उन्हें त्रास देती रही है।

ब्रह्म बाधायें

कितने ही लोगों के परिवार में ब्रह्म बाधायें रहती हैं। जो लोग किसी असहाय व्यक्ति का धन अपहरण कर लेते हैं उन्हें इस प्रकार की बाधायें त्रास देती हैं। ये एक ही व्यक्ति को नहीं सतातीं, वरन् पीढ़ी दर पीढ़ी उनके द्वारा त्रास होते रहता है। लेखक के एक दूर के सम्बन्धी अपनी स्त्री को बहुत कष्ट देते थे। वह इस कष्ट के मारे घर के पास के एक पेड़ से रात को फांसी लगा कर मर गई। इस पाप को दबाने का पूरा प्रयत्न किया गया और उसके पति तथा उसके भाई वगैरह सफल भी हुए। पर इसके बाद ही पति को गलित कुष्ट का रोग हो गया। एक युवा लड़के को लकवा हो गया और घर के कुछ लोगों को और भी रोग हुए। किसी व्यक्ति को कोसते हुए मरनेवाले व्यक्ति के कारण अनेक प्रकार के कष्ट कोसे जानेवाले व्यक्ति को होते हैं। इसका कारण जिन लोगों को कष्ट होता है उनकी नैतिक कमी से उत्पन्न मानसिक अन्तरद्वन्द्व की अवस्था ही होती है। कष्ट का भोगना पाप का प्रायश्चित है। जिस व्यक्ति के मन में पाप की भावना का दमन नहीं रहता उसे किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं होता।

कभी कभी जीवित व्यक्ति के प्रति अन्याय करने के कारण भी मनुष्य को उसी प्रकार का मानसिक क्लेश होता है जिस प्रकार कि मरे व्यक्ति के कारण होता है। जबतक कोई व्यक्ति अपने पाप की आत्म स्वीकृति नहीं करता तबतक उसका क्लेश बना ही रहता है। लेखक की एक सम्बन्धी महिला ने अपने स्वार्थवश उसकी दूर की भतीजी के प्रति अन्याय किया। वह, उसकी पतोहू और यह भतीजी तीनों हिन्दी स्कूलों की मास्टरिन थी। उसने अपनी पतोहू की सुविधा के लिये भतीजी की दूर की बदली करा

दी। इसके बाद यह भतीजी बीमार हो गई। कुछ दिन बाद वह महिला भी बीमार हो गई। भतीजी की मृत्यु क्षय रोग से हुई। महिला को लकवा हो गया और इसी रोग से पीड़ित होकर वह मर गई। वह मरने के पूर्व कहा करती थी कि कुछ लोगों को मरने पर कोई व्यक्ति भूत बनके लगता है, पर मुझे तो यह लड़की जिन्दा में ही लग गई और त्रास दे रही है। वास्तव में अपने पाप की भावना ने ही उस बहिन के प्राण हर लिये।

एक बार लेखक के एक आफिसर ने लेखक के साथ धोखा किया। उसने लेखक के ऊपर एक अपनी सम्बन्धी की नियुक्ति छिप कर करा दी। इसके पश्चात् लेखक को जब इसका ज्ञान हुआ तो उसने पूरे क्रोध में उक्त आफिसर से कहा कि अब हम देखते हैं कैसे कालेज चलता है। आफिसर चुपचाप रहा आया पर वह घर जाकर बीमार हो गया। लोगों ने कहा उसे टाइफायड हो गया। पर वह डेढ़ महीने तक बीमार ही बना रहा। अपनी अचेतन अवस्था में वह चिल्लाता था कि कालेज का सभी काम खराब हो रहा है।

बहुत दिन बीतने पर लेखक के विचार उक्त आफिसर के प्रति बदल गए उसे उसके प्रति दया का भाव आया। एक दिन वह रात को उसके पास गया। उसकी स्त्री ने कहा कि इस समय उससे कालेज के बारे में बात चीत न करना, पर ज्यों ही लेखक उक्त आफिसर के पास पहुँचा उसने तुरन्त कहा कि कालेज कैसा चल रहा है। उसे आश्वासन दिया गया कि कालेज ठीक से चल रहा है। तब उसने अपने काम के लिये अनेक प्रकार की कैफियत देनी आरम्भ की। सौभाग्य की बात यह थी कि जिस व्यक्ति की नियुक्त की गई थी वह आया ही न था। इस बात की खबर लेखक को पहले ही लग गई थी और इसी बात को उक्त आफीसर ने पहले पहल मिलते ही लेखक से कहा। यहाँ हम देखते हैं कि जो त्रास व्यक्ति को भूत बाधा से होती वह जीवित व्यक्ति के प्रति अन्याय से भी होती है।

मनुष्य के मन में रोग दो प्रकार से उत्पन्न होता है। एक उसके नैतिक स्वत्व के दमन से और दूसरे उसके अनैतिक स्वत्व के दमन से मनुष्य के अनैतिक अथवा पाशविक स्वत्व के दमन से मानसिक रोगों की उपस्थिति अवश्य होती है पर यह उतने भयंकर परिणाम नहीं लाती जितने नैतिक स्वत्व के दमन की स्थिति लाती है। मनुष्य का मानसिक साम्य तभी ठीक रहता जब वह न केवल अपने पाशाविक स्वत्व को ठीक से संतुष्ट करता है। वरन् वह अपने नैतिक स्वत्व को भी ठीक से संतुष्ट करता है। किसी वासना के अतिक्रम से मनुष्य के नैतिक स्वत्व का दमन होता है। इससे उसका व्यक्तित्व उसी प्रकार कमजोर हो जाता है जिस प्रकार पाशविक स्वत्व के दमन से मनुष्य का व्यक्तित्व कमजोर हो जाता है। मनुष्य की सामान्य चेतना में दोनों प्रकार के स्तत्वों का प्रतिनिधित्व उपस्थिति रहता है। मनुष्य का चेतन मन न केवल पूरा भला है और न पूरा बुरा। इसी प्रकार उसका अचेतन मन भी न केवल पूरा बुरा है और न भला। उसमें पाशविक प्रवृत्तियां भी है और नैतिक प्रवृत्तियां भी हैं। किसी प्रकार की प्रवृत्तियों का दमन आवांछनीय है। दमन ही मानसिक अन्त-र्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न करता है और तभी अनेक प्रकार के मानसिक रोग जिनमें भूत बाधायें शामिल है उपस्थित होते हैं।

जो लोग दूसरे लोगों के प्रति अन्यार्य करते हैं, उनका धन खा जाते हैं, उन्हें मार डालते हैं, उनकी बहू बेटी अथवा स्त्री के साथ व्यभिचार करते हैं उन्हें अनेक प्रकार की मानसिक यंत्रणाये होती ही हैं, पर मानसिक यंत्रणायें उन लोगों को भी होती है जो अपना जीवन सामान्यरुप से व्यतीत न करके तपस्वी, धर्मात्मा के रूप में अपने आप को प्रसिद्ध करके रहते हैं। पहले प्रकार की बाधायें मनुष्य का सर्वस्व विनाश कर डालती है, और दूसरे प्रकार की बाधायें तब लुप्त हो जाती है जब मनुष्य अपना मानसिक साम्य लाभ कर लेता है। हिस्टीरिया के रोग इसी प्रकार की भावनाओं के दमन से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक प्रकार की बाधाओं में अपने आप को जानने

की अपने दोषों को स्वीकार करने की और अपने आपसे एकता स्थापित करने की आवश्यकता है। मान लीजिये मनुष्य के नैतिक स्वरूप का दमन हुआ है तो अपना मानसिक साम्य प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि रोगी अपने कुकृत्य का प्रायश्चित करे। नैतिक स्वत्व कोई व्यक्तिगत भावना नहीं है। यह एक सामाजिक वस्तु है। यदि कोई अपने व्यक्तिगतरूप से किसी विशेष प्रकार की नैतिक भावना को न भी माने तो भी वह उसकी अव-हेलना के दुष्परिणाम से बचेगा नहीं। उसे अपने किये का बुरा परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ेगा। जैसा कि बुद्ध भगवान ने धम्मपद में कहा है कि जिस प्रकार गाड़ी के पहिये बैलों के खुरों का पीछा करते हैं इसी प्रकार मनुष्य के पुराने कृत्य उसका पीछा करते हैं। बुरे कृत्यों का बुरा परिणाम और भले कृत्यों का भला परिणाम अवश्य होता है। बुरे कृत्य अथवा विचार ही अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों का रूप धारण कर लेते हैं।

कभी कभी मनुष्य की पाशविक वासनाओं का बाहरी परिस्थितियों के कारण, लोकलाज के कारण दमन होता है। जहाँतक यह दमन जानबूझ कर किया जाता वह मानसिक रोग का कारण नहीं बनता, परन्तु जब यह दमन अज्ञात रूप से होने लगता है तो वह मानसिक रोग का कारण बन जाता है। जब मनुष्य की किसी भी वासना का नैतिक मनसे दमन होता है तो वह बड़ी ही हेय दृष्टि से देखी जाने लगती है। ऐसी अवस्था मनुष्य उस वासना की अपने मन में उपस्थिति ही स्वीकार नहीं करना चाहता। ऐसी ही अवस्था में मानसिक रोगों की उपस्थिति होती है।

मान लीजिये कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति बार बार क्रोध के विचार मन में लाता है। ऐसी अवस्था में वह किसी ऐसी दुरात्मा द्वारा पकड़ लिया जा सकता है जो उसके मन में भय की मनोवृत्ति उत्पन्न करे। क्रोधी मनुष्य को भय अपने आप ही आता है। यह मानसिक साम्य प्राप्त करने का प्राकृतिक उपाय

है। यह भय मनुष्य के अचेतन मन से आता है। पर मनुष्य जब इस भाव को अपने आप द्वारा स्वीकार करने को तैयार नहीं होता तो वह किसी बाहरी वास्तविक अथवा कल्पित पदार्थ के ऊपर आरोपित कर देता है। इस प्रकार क्रोधी मनुष्य को भय दिखाने वाले भूत त्रास देने लगते हैं। जबतक क्रोध की भावना का प्रकाशन होते रहता है, रोग की उपस्थिति नहीं होती, जब उसका दमन होता है तभी रोग की उपस्थिति होती है।

जिस प्रकार क्रोध की भावना का दमन मानसिक रोग की उत्पत्ति करता है, इसी प्रकार कामवासना का दमन भी मानसिक रोग की उत्पत्ति करता है। कामवासना के दमन होने पर किसी भूत के द्वारा पकड़े जाने का भय लग जाता है और फिर अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोग मनुष्य को पीड़ा देने लगते हैं। किसी भूत के द्वारा त्रास दिये जाने का बाध्य विचार भी मनुष्य ऐसी अवस्था में त्रास देने लगता है।

दूसरों की अशुभ भावनाओं का परिणाम

इस प्रकार के त्रास का कारण एक ओर कष्ट उठाने वाले व्यक्ति की मानसिक कमजोरी होती है और दूसरी ओर अन्याय किये जाने वाले व्यक्ति के अभद्र विचार भी होते हैं। किसी प्रकार के भद्र अथवा अभद्र विचार मनुष्य के मन को प्रभावित करते हैं। यदि किसी व्यक्ति के प्रति बार बार शुभ भावनायें हम अपने मन में लायें तो उसका कल्याण होता है। इसके प्रतिकूल यदि प्रबल विचारों के द्वारा हम किसी व्यक्ति को शाप दें तो उसका भी प्रभाव अवश्य होता है। अब यदि जिस व्यक्ति के प्रति अशुभ विचार मन में लाये जाते हैं वह अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था में हो तो परिणाम और भी निश्चित रूप से होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक कमजोरी के द्वारा मानसिक अथवा शारीरिक रोगों की उत्पत्ति में विश्वास करता है, परन्तु वह

भी घुल सकते। गन्धक जल मे अविलेय है किन्तु कार्बन डाइ-सल्फ़ाइड मे घुल जाता है। कपूर जल मे अविलेय है किन्तु अलकोहल मे घुल जाता है।

जो घन घुलते है उन के घुलने की एक सीमा होती है और यह सीमा तापक्रम पर निर्भर करती है। जब द्रव किसी घन को इतना घुला लेता कि अधिक नहीं घुल सकता तब ऐसे विलयन को '**संतृप्त विलयन** कहते है। भिन्न भिन्न तापक्रम पर सतृप्त विलयन मे विलेयता की मात्रा भिन्न भिन्न होती है। साधारणत तापक्रम के बढने से घनो की विलेय भी बढ़ती है किन्तु कुछ बहुत थोडे ऐसे भी घन है जिनकी विलेयता उच्च तापक्रम पर निम्न तापक्रम से कम होती है। जिस विलयन मे और भी घुलाने की क्षमता रहती है ऐसे विलयन को **अतृप्त विलयन**' कहते है। किसी किसी घन से विशेष विशेष अवस्थाओ मे ऐसा विलयन प्राप्त करते है जिन मे सतृप्त विलयन के घन की मात्रा की अपेक्षा अधिक मात्रा उपस्थित रहती है। ऐसे विलयन को '**अतितृप्त विलयन**' कहते है। ऐसा विलयन साधारणत स्थायी नहीं होता। इस से शीघ्रही विलीन घन अलग हो कर सतृप्त विलयन बन जाता है। कुछ ऐसे घन होते है जो विलयन से किसी विशिष्ट नियमित आकृति मे पृथक् होते है। इन्हे मणिभ कहते है। ये घन मणिभ के रूप मे अलग होते हैं। इस मणिभ के निकलने की क्रिया को मणिभीकरण कहते है। साधारणत उच्च तापक्रम पर संतृप्त विलयन तयार कर उसे ठंडा करने से मणिभ बनत है। इस मणिभीकरण के द्वारा अनेक घन पदार्थ शोधित होते है। शोरा इसी विधि से शोधित होता है। जब इस मणिभीकरण को बार बार दुहराते हैं तब इसे आंशिक मणिभीकरण कहते है।

अनेक मणिभ जब विलयन से अलग होते हैं तब जल के कुछ अंश को ले लेते है। गरम करने से यह जल उनसे निकाला जा सकता है किन्तु इसके निकालने से बहुधा उनका मणिभ रूप नष्ट हो जाता है और कभी कभी उन मणिभो के रग भी नष्ट हो जाते है। तूतिये का जलीय बिलयन से मणिभीकरण करने पर सुन्दर नीला मणिभ प्राप्त होता है। इसे गरम करने से इसका जल निकल जाता और इस से इस का मणिभ रूप और नीला रंग दोनो नष्ट

हो जाते हैं। मणिभो के ऐसे जल को 'मणिभीकरण का जल' कहते हैं। ऐसा समझा जाता है कि यह जल रासायनिक रीति मे उस पदार्थ के साथ मणिभो मे संयुक्त है। फिटकरी, तूतिया, धोने वाला सोडा, और कसीस के मणिभो में मणिभीकरण का जल होता है।

सोडियम कर्बोनेट और सोडियम सल्फेट के मणिभो को हवा मे रखने से देखा जाता है कि इन मणिभो का जल धीरे धीरे निकल जाता है। इस से मणिभो का रूप नष्ट हो जाता और वे चूर चूर हो जाते है। ऐसी क्रिया को **प्रस्फुरन**' कहते है। मणिभो का प्रस्फुरित होना वायुमण्डल की आर्द्रता पर निर्भर करता है।

इस के विपरीत कुछ पदार्थ ऐसे होते है जो हवा मे रखने से हवा के जलवाष्प को ग्रहण कर लेते है। इस जल की मात्रा धीरे धीरे इतनी बढ जाती है कि सारा पदार्थ उस मे घुलकर विलीन हो जाता है। ऐसी क्रिया को **प्रस्वेदन** कहते है। जिंक क्लोराइड और दाहक सोडा इस के उदाहरण है। ऐसे पदार्थो को **प्रस्वेद्य**' कहते है।

द्रवों की विलेयता। केवल घन ही द्रव मे नही घुलते वरन् एक द्रव भी दूसरे द्रव मे घुलकर विलीन होता ह। यदि अलकोहल और जल को मिलावे तब दोनो द्रव मिलकर एक हो जाते है। ऐसी दशा मे हम कह सकते हैं कि अलकोहल जल मे घुलता है वा जल अलकोहल मे घुलता है। ग्लीसिरिन और जल भी इसी प्रकार एक दूसरे मे सरलता से घुल जाते हैं। ऊपरोक्त द्रवो के परस्पर घुलने मे एक विशेषता है जो घन पदार्थों के घुलने मे नहीं देख पडती। वह विशेषता यह है कि ऊपरोक्त द्रवो को किसी भी मात्रा मे लेकर मिलाने से वे परस्पर घुल जाते है। अलकोहल और जल, जल और ग्लीसिरिन सभी मात्रा मे एक दूसरे मे विलेय है। ऐसे द्रवो को 'परस्पर मिश्रणीय' कहते है।

इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे द्रव है जो जल मे घुलते तो है पर परस्पर मिश्रणीय नहीं है। यदि जल और ईथर को लेकर मिलावे तब देखेंगे कि ये दोनो द्रव जल और ग्लीसिरिन की नाईं मिलकर एक नहीं हो जाते वरन् इन

है। कितने ही पढ़े लिखे लोग भी अपने आप को भूत के द्वारा पकड़े हुए देखना चाहते हैं। लेखक के पास हाल में ही एक ३० वर्षीय सुशिक्षित धनी घर का युवक आया था। उसके मन में यह भाव बैठ गया था कि उसे किसी दुरात्मा ने पकड़ लिया है और वह उसे कुछ भी करने नहीं देती। वह उससे बार बार कहती रहती है कि अमुक काम मत करो। इस प्रकार वह उसे तंग करती रहती है। वह झाड़ फूँक कर उसे अपने आप से बाहर निकलवाना चाहता था। इसमें लेखक को उतनी सफलता नहीं मिली जितनी आवश्यक है। इसका एक कारण उक्त रोगी के मन में दुरात्मा के प्रति कठोर भावनाओं का उपस्थित होना और अपने आप की स्वीकृति की अनिच्छा का रहना था। कई दिनों की यंत्रणा के पश्चात् ही मनुष्य में वह सद्बुद्धि आती है जिसके कारण वह अपनी बुराइयों को स्वीकार करता है। इन बुराइयों के स्मरण होने पर और उनके स्वीकार करने पर मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

भूतों की करामातों का रहस्य

कई एक लोगों को भूतों की अद्भुत करामातें दिखाई देती है। वे कभी घर की वस्तुयें चुरा ले जाते हैं, कभी कभी वे घर में गंदगी फैला जाते हैं, अथवा किसी वस्तु को तोड़ फोड़ जाते हैं। इस प्रकार की घटनाओं की चर्चा कभी कभी अखबार में भी छपती है। ये सभी घटनायें होती हैं चीजें चुराली जाती हैं, तोड़ फोड़ दी जाती है अथवा घर गंदा कर दिया जाता है। पर इन्हें कौन करता है जब इसकी ठीक विवेचना की जाती है तो बात उसी प्रकार की निकलती है जिस प्रकार की बात द्विव्यक्तित्व के विषय में निकलती है। मनुष्य कभी कभी दबी चेतना के बश में होकर ऐसे काम कर डालता है जिसका उसकी साधारण चेतना को ज्ञान नहीं रहता फिर वह इस प्रकार के कामों को आश्चर्य के रूप में देखता है। ऐसा चलते फिरते स्वप्नों में भी नहीं होता है। एकगणितज्ञ प्रतिदिन देखता था कि उसके द्वारा हल न किये गये

प्रश्नों को कोई दूसरा व्यक्ति हल क जाता है। उसने समझा कि कोई सूक्ष्म आत्मा ही इस काम को करता है। अतएव उसने अपने मित्रों से इसकी चर्चा की। खोज करने पर पता चला कि स्वयं गणितज्ञ ही अपनी अचेतना वस्था में सभी प्रश्नों को कर डालता है और फिर वह सो जाता है। उसे सवेरा होने पर यह ज्ञात नहीं रहता कि प्रश्नों को हल किसने किया।

कितने ही लोग कभी कभी अपने पूरे व्यक्तित्व को ही भूल जाते हैं। इस सम्बन्ध में स्मिथ और हाइडेके जो दोनों एक ही व्यक्ति थे, की करामातों की बातें उल्लेखनीय है। एक दिन स्मिथ महाशय अमेरिका की फिलाडेल फिया नामक प्रान्त की किसी बैंक से चेक भुनाने गए, परन्तु चैक भुना कर घर न आये। वे किसी दूसरी जगह हो चले गए और और नये नाम से एक व्यापार खोल लिया। इधर उनकी बड़ी खोज पड़ताल हुई। उनके लड़के ने विज्ञापन भी निकाला। जब उक्त व्यक्ति का पता चला तो उसने अपने सम्बन्धियों को न पहचाना। कई दिनों तक मानसिक चिकित्सा गृह में रहने के पश्चात् ही सामान्य चेतना उसे आई।

यदि ऐसे व्यक्ति के पुराने विचारों को जाना जाता तो पता चलता कि वह अपने सभी सम्बन्धियों को छोड़कर अपना जीवन अलग व्यतीत करना चाहता था। उसकी पुरानी प्रबल कल्पनाओं का जब दमन हुआ तो उन्हों ने एक नये संसार का निर्माण कर लिया। अब पुराने व्यक्ति की जगह नया व्यक्ति ही खड़ा हो गया। यह एक प्रकार से किसी दूसरी आत्मा के द्वारा अपने आप पर अधिकार हो जाने के समान ही है।

भूत के दृश्य देखने का रहस्य

मनुष्य के मन में ऐसी स्थिति जिससे कि व्यक्ति के मन के दो खंड हो जायँ तभी आता है जब कि वह अपने किसी ऐसे भाव का दमन करता है जो उसकी साधारण चेतना को बहुत ही अप्रिय है।

जो कुछ नाइट्रोजन इस मे घुलता है उस का आयतन नाइट्रोजन गैस के दबाव के अनुपात मे होता है । इसी प्रकार आक्सिजन की विलेयता भी कम हो जाती है और इसका विलीन आयतन भी इसके दबाव के अनुपात मे होता है। इस नियम को 'डाल्टन के आंशिक दबाव का नियम' कहते है। इस प्रकार जब मिश्रित गैसें जल वा अन्य किसी द्रव मे घुलती है तब किसी विशेष गैस की विलेयता (१) उस गैस की अपनी विलेयता पर और (२) उस गैस के अपने दबाव पर निर्भर करती है।

जल की कठोरता। ऐसा देखा जाता है कि किसी जल में साबुन से फेन शीघ्र उत्पन्न हो जाता है और किसी मे देर से। जिस जल से फेन देर मे उत्पन्न होता है उस जल के ऊपर तैरती हुई मैलें देख पडती है। जिस जल से फेन शीघ्र उत्पन्न होता है उसे 'हलका वा मृदु जल' और जिस जल से फेन देर मे बनता है उसे 'कठोर जल' कहते हैं। जल की यह मृदुता और कठोरता उस मे घुले हुये पदार्थों के अनुसार होती है। जल की कठोरता विशेषतः कालसियम के बाइ-कार्बनेट और सल्फेट, मैगनीसियम के बाइ-कार्बनेट, सल्फ़ेट और क्लोराइड और सोडियम क्लोराइड के रहने से होती है।

साबुन सोडियम वा पोटासियम और एक विशेष प्रकार के कार्बनिक अम्लो का लवण है। ये लवण जल मे विलेय होते है। साबुन का विलयन जब जल में डाला जाता है तब कालसियम और मैगनीसियम के लवणों और साबुन के बीच क्रिया होती है। जिस से कालसियम वा मैगनीसियम और कार्बनिक अम्लो का अविलेय लवण मैल के रूप मे निकल जाता है। इस रासायनिक क्रिया के कारण ही तब तक फेन नहीं बनता जब तक कालसियम वा मैगनीसियम के धुले हुये लवण जल से कार्बनिक अम्लों के अविलेय लवण बन कर निकल नहीं जाते। सोडियम क्लोराइड से जो कठोरता होती है वह दूसरे प्रकार की होती है। थोडी मात्रा मे सोडियम क्लोराइड से जल की कठोरता नही होती क्योकि सोडियम और कार्बनिक अम्लो के लवण विलेय होते हैं किन्तु अधिक मात्रा मे सोडियम क्लोराइड के रहने से ऐसे जल मे साबुन कम घुलता है। साबुन की विलेयता अधिक सोडियम क्लोराइड के कारण घट

निकल गया। वह लड़का कुछ न बोला न वहाँ से हिला डुला। जब विद्यार्थी आगे निकल गया तो उसने फिर पीछे लौटकर उस लड़के की ओर देखा। अब वह लड़का हाथ में लाठी लिये उसका पीछा कर रहा था। वह थोड़ी दूर पर पीछे पीछे चलता रहा। इधर विद्यार्थी भी तिरछी निगाह उसकी ओर देख लेता था। उसके मन में डर था कि कहीं वह लड़का उसको लाठी न मार दे।

इसी बीच विद्यार्थी को पिसाब लगी। वह रास्ते के एक किनारे पेशाब के लिए बैठ गया। वह लड़का भी कुछ आगे आकर नागफनी के पेड़ों के ऊपर लेट गया। इस दृश्य को देखकर और भी घबराहट विद्यार्थी के मन में हुई। पर वह कुछ पाठ करता था अतएव एकदम नहीं डर गया। इसके बाद नदी आई। नदी के इस पार तक वह लड़का पीछा ही करता गया। कुछ दूर चलने पर गाँव का एक आदमी मिला। अभी गाँव एक मील और था। वह विद्यार्थी की जान पहचान का व्यक्ति था। उससे विद्यार्थी ने कहा कि एक विचित्र सा लड़का उसके पीछे पीछे एक मील से चला आ रहा है। उस व्यक्ति ने पूछा कि वह कहाँ है तो उस विद्यार्थी ने अंगुली से उस लड़के की ओर इशारा किया। पर उस व्यक्ति को वह लड़का नहीं दिखा। तब वह समझ गया कि कोई धोखा यहाँ पर है। गाँव के आदमी ने विद्यार्थी के साथ जाने को कहा पर विद्यार्थी ने अकेले गाँव तक जाना ठीक समझा इसके थोड़ी ही देर बाद वह लड़का एक इमली के पेड़ के पास जाकर लोप हो गया। इसी समय इमली के पेड़ पर भारी हलचल मची मानो एक आँधी उसे उखाड़े डालती है। यह इमली गाँव में भुतैली इमली के नाम से प्रसिद्ध है। यह दिन बड़ा ही मानसिक उथल पुथल में विद्यार्थी का बीता। पर वह बीमार नहीं हुआ।

इस घटना का मनो विश्वलेषण करने से पता चलता है कि उक्त लड़के का दृश्य कल्पित था। गाँव के आदमी को वह दृश्य नहीं दिखाई दिया। यह दृश्य व्यक्ति के समालिंगी प्रेम के दमन का परिचायक है। जब किसी मनुष्य के मन प्रबल कामवासना रहती है पर उसकी

आत्म-स्वीकृति वह अपनी आत्म प्रतिष्ठा की भावना अथवा नैतिक भावना के कारण नहीं करता तो वह अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है। दबी हुई कामवासना ही किशोर बालक के रूप में प्रकाशित हो जाती है। जिस प्रकार उक्त बालक की कामवासना उससे क्रुद्ध थी इसी प्रकार वह बालक भी उससे क्रुद्ध था। जिस प्रकार वह काटों पर अपने आपको डाल देता था इसी प्रकार उक्त विद्यार्थी की कामवासना भी कंटकों में पड़ी थी। जो व्यक्ति अपनी कामवासना का एकाएक दमन कर डालते हैं और उसकी शक्ति का मार्गान्तरी करण अथवा शोध नहीं करते उन्हें अनेक प्रकार की मानसिक अशान्ति हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में भूतों के दृश्य दिखने लगते हैं।

भूत बाधा का उपचार

भूत बाधा से पीड़ित व्यक्तियों को इस बाधा से मुक्त करने के लिये वही मार्ग है जो प्रत्येक मानसिक रोग से व्यक्ति को मुक्त करने का मार्ग है। इसके लिये मनुष्य के बाहरी और भीतरी मन में एकता स्थापित करना आवश्यक है। इसके स्थापित करने के लिये साधारणतः निर्देश के उपाय को काम में लाया जाता है। जिन लोगों को भूत ने पकड़ लिया है उन्हें सामान्य अवस्था में विचित्र प्रकार की बेचैनी, चिन्ता, भय इत्यादि उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति कोई भी काम मन लगा कर नहीं कर पाते। ऐसे लोगों को पहले सम्मोहन की अवस्था में लाया जाता है। फिर उनको कहा जाता है कि वे पुराने अनुभव को स्मरण करें। किसी व्यक्ति को अचेतनावस्था में लाने के लिये एक विशेष प्रकार की लालटेन का प्रयोग किया जाता है। यह लालटेन लाल रंग की होती है और इसकी ओर देखने से चित्त को जल्दी से थकावट हो जाती है। इसी प्रकार ओझा लोग दिया की ज्योति की ओर रोगी का ध्यान आकर्षित करके उसकी साधारण चेतना को अलग कर देते हैं और असाधारण चेतना को बाहर आने का अवसर देते हैं। यह असाधारण चेतना एक नये व्यक्तित्व के रूप

विचारों के बदलने की चेष्टा

भत बाधा से पीड़ित व्यक्ति के मन में अपने ही विचारों के प्रति घृणा और भय का भाव रहता है। ये विचार किसी चिन्तन के विषय अवश्य होते हैं। रोगी मनुष्य इस विषय के बारे में चिन्तन करना नहीं चाहता। विचार और विचार का विषय वास्तव में एक ही वस्तु के दो तथ्य हैं। जब मनुष्य अपने अप्रिय विचारों का दमन करता है अथवा उनसे बचने की चेष्टा करता है तो ये विचार बाहरी पदार्थों का रूप धारण करके मनुष्य के सामने आते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने आपको स्वीकार करना ही पड़ता है। यदि भूत बाधा से पीड़ित व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन कर दिया जाय तो उसकी भूत बाधा का शीघ्र ही अन्त हो जाय।

मानसिक रोग तथा भूत बाधा से पीड़ित व्यक्ति के मन में यह विचार बैठा रहता है कि उसे आस पास के लोग प्रेम नहीं करते वे स्वार्थवश ही उसके मित्र बने हुए हैं। यदि ऐसे व्यक्ति के प्रति सच्ची मैत्री दिखाई जाय तो उसकी मानसिक ग्रन्थि भी नष्ट हो जाय। जब मनुष्य अपने भीतरी मन को इतना बुरा नहीं समझता जितना कि वह मानसिक विच्छेद की अवस्था में वह समझता है तो वह अपने आपको स्वीकार करने में हिचकता नहीं। ऐसी अवस्था में उसके मन में एकता स्थापित हो जाती है। जो व्यक्ति अपनी त्रुटियों के बारे में ही बार बार सोचते हैं वे उसी प्रकार दुःखी रहते है जिस प्रकार अपनी त्रुटियों को भुला देने वाले व्यक्ति दुःखी रहते हैं। जब मनुष्य सोचने लगता कि न तो वह दूसरों से विशेष अच्छा है और न उनसे अधिक बुरा तो वह अपना मानसिक साम्य प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था में उसके आन्तरिक मन और बाहरी मन में एकता स्थापित हो जाती है।

मैत्री भावना का अभ्यास

बुद्ध भगवान ने भूत बाधा को शान्त करने का एक उपाय उनके प्रति मैत्री भावना का अभ्यास बताया है। जो व्यक्ति भूतों के प्रति द्वेष

परिच्छेद १३

जल का संगठन।

जल का सगठन दो विधियों से मालूम किया जा सकता है । एक तौल सम्बन्धी विधि से दूसरी आयतन सम्बन्धी विधि से । तौल सम्बन्धी विधि मे कितनी तौल हाइड्रोजन की कितनी तौल आक्सिजन से सयुक्त है इस का ज्ञान प्राप्त होता है। आयतन सम्बन्धी विधि मे कितना आयतन हाइड्रोजन का कितने आयतन आक्सिजन से संयुक्त है इसका ज्ञान होता है। इस अन्तिम विधि के फिर दो अन्तर्विभाग है । एक को संश्लेषण विधि और दूसरे को विश्लेषण विधि कहते है। विश्लेषण विधि मे जल को विच्छेदित कर के हाइड्रोजन और आक्सिजन के आयतन का ज्ञान प्राप्त करते हैं । सश्लेषण विधि मे हाइड्रोजन और आक्सिजन को सयुक्त कर जल बनाकर उनके आयतन का ज्ञान प्राप्त करते है।

आयतन सम्बन्धी संश्लेषण विधि। कवेन्डिश ने पहले-पहल जल के संगठन का ज्ञान प्राप्त किया था। उन की विधि बहुत साधारण थी। उन्होंने हाइड्रोजन के दो आयतन को आक्सिजन के एक आयतन के साथ मिलाकर, इस मिश्रण को एक पात्र मे रखकर विद्युत् स्फुलिंग के द्वारा उन्हे संयुक्त किया था। इस प्रकार उन्होंने प्रमाणित किया कि हाइड्रोजन का दो आयतन आक्सिजन के एक आयतन के साथ संयुक्त हो जल बनता है।

चित्र ३०
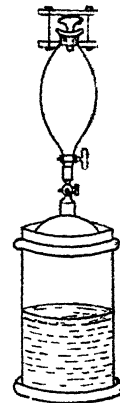
आजकल जिस विधि का प्रयोग होता है वह सिद्धान्त मे कवेन्डिश की विधि के समान ही है किन्तु इससे अधिक यथार्थ फल प्राप्त होता है और यह संशोधित विधि अन्य यौगिकों के संगठन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी प्रयुक्त

आन्तरिक मन को विश्वास हो जाता है कि वह अब पवित्र हो गया। इस विश्वास के भीतरी मन में जाते ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विच्छेद नष्ट हो जाता है। संत महात्मा के बचनों, प्रार्थना अथवा पूजा आदि का विशेष अर्थ मनुष्य के अचेतन मन से होता है इस सम्बन्ध में बौद्धिक व्यापार और युक्तियां काम नहीं देतीं। अचेतन मन की भाषा चेतन मन की भाषा से भिन्न होती है। साधु महात्माओं का का झाड़ना फूकना गंगा जल छिड़कना, दीपक के सामने बिठालना कुछ विशेष प्रकार के हाथ के द्वारा और अंगुलियों से संकेत करना लाभ कारी होता है। झाड़ना, फूकना, गंगा जल छिड़कना आदि सभी पवित्रता के सूचक हैं। जब भूत बाधा से पीड़ित व्यक्ति के सामने बार बार झाड़ू लाया जाता है तो उसका अचेतन मन उसका विशेष अर्थ समझता है। एक विशेष प्रकार की मुद्रा में और विशेष स्थान पर झाड़ने का काम करने से अचेतन मन अपने आप को पवित्र होते हुए अनुभव करता है। अर्थात् मनुष्य के भीतर विच्छेद के रूप में पड़ा हुआ मन अब इस योग्य हो जाता है कि वह नैतिक मन से अपनी एकता स्थापित करले। इस लिये झाड़फूँक कभी कभी लाभ दायक होती है।

लेखक को कुछ दिन पूर्व एक युवती की मानसिक चिकित्सा करनी पड़ी। जब इसे एक देवी के पंडे को दिखाया गया तो उसने ब्रह्म द्वारा पकड़ी हुई बताया। यह युवती सदा कुछ न कुछ बड़बड़ाती रहती थी। जब वह पहले पहल लेखक से मिली तो उसकी हालत बहुत ही बुरी थी। उसने अपने कपड़े भी फाड़ डाले थे। वह पांच मिनट तक ही लेखक के पास ठहरी। इसी बीच दूसरे लोग आ गये। लेखक ने उस के सामने झाड़ने का हाथ का इशारा किया। इसे देख कर वह युवती एकाएक कह उठी पंडित जी यह सब मत कीजिये। वास्तव में इस समय उसका दूसरा व्यक्तित्व ही बोल रहा था। पीछे यह स्त्री बनारस लाई गई और उसकी चेतना इतनी अच्छी हो गई कि वह शहर में जाकर अनेक प्रकार की वस्तुयें अपने लिये खरीद ले सकती थी।

उक्त युवती के पहले के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसकी

प्रेम की इच्छाओं का दमन हुआ था। उसे घर में काफी यंत्रणा मिली थी। उसका पति उसे प्यार न कर एक दूसरी स्त्री को प्यार करता था। वह उसको गुप्त रूप से रखेली थी। इस बात का ज्ञान उस महिला को था। फिर उससे बात बात में सास और ननद नाराज रहती है। वह भी उनसे खूब लड़ती थी। पर इसके लिये वह पति के द्वारा पीटी भी जाया करती थी। यह स्त्री बनारस में रहते समय बहुत कुछ स्वास्थ लाभ कर सकी, पर जब वह अपने देहात के घर पर फिर से पहुँची तो उसका स्वास्थ्य फिर से बिगड़ गया।

लेखक ने हाल ही में सिन्ध से आये एक धनी घर के शरणार्थी की भी चिकित्सा की। इस चिकित्सा को सफल इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि रोगी को उससे संतोष हुआ। उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी कुछ सुधर गया। यह व्यक्ति एक हाइकोर्ट का एडवोकेट था। उसके मन में बैठ गया था कि किसी दुरात्मा ने उसे पकड़ लिया है। वह उसे खाने, पीने, पढ़ने, लिखने नहीं देती। वह दूसरों बात चीत करते समय मानो अपने आप से भी बात करते रहता था। इस व्यक्ति को सात दिन तक झाड़ा फूका गया। उसके मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ थी पर वह उन्हें खोलना नहीं चाहता था। यदि किसी रोगी को यह विश्वास करा दिया जाय कि उसकी अपवित्र अवस्था में ही भूत उसे प्रेम करते थे, अब वह पवित्र हो गया है इसलिये उसे भूत तंग नहीं करेंगे तो उसकी भूत बाधा नष्ट हो जाय। भूत के प्रति दुश्मनी का भाव मिट जाना यही नितांत आवश्यक है।

दलित भावना का रेचन

भूत बाधा से उत्पन्न वेसुध हो जाने के रोग की कुछ दिन पूर्व लेखक के एक मित्र ने अनायास चिकित्सा कर डाली। यह उसी नाई की भूत बाधा की बात है जिसकी चर्चा हम पहले कर आये। नाई के रोग के विषय में लेखक के मित्र को ज्ञान हो ही चुका था। वह जानता था कि कि नाई डर गया है और इस डर का दौरान उसे बार बार सुप्तावस्था में हो जाता है। यदि इसकी जाग्रतावस्था में ही डर

अतः १ घ मम आक्सिजन २ घ सम हाइड्रोजनके साथ मिलकर जल बनता है।

वा एक आयतन आक्सिजन दो आयतन हाइड्रोजन के साथ मिलकर जल बनता है।

इस प्रयोग मे रासायनिक सयोग से बने हुये जल का भाप के रूप मे क्या आयतन है इसका ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये निम्न रीति से प्रयोग करने की आवश्यकता है।

जलभाप का आयतन सम्बन्धी विश्लेषण। ऊपरोक्त प्रयोगमें देख चुके हैं कि हाइड्रोजन और आक्सिजनके मिश्रण मे विद्युत स्फुलिग से जल बनता है। यदि इस जल को भाप मे ही रखे तो हाइड्रोजन, आक्सिजन, और भाप के आयतन के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। निम्न रीति से हाइड्रोजन और आक्सिजन से बने जल को भाप के रूप मे रख सकते है।

इसके लिय जिस उपकरण की आवश्यकता होती है उसका चित्र यहां दिया हुआ है। यह एक यू-नली है जिसकी एक भुजा बन्द और अशाङ्कित है और जिस मे प्लाटिनम के दो तार गलाकर जोड़े हुये है। इस भुजामें पारा भरा हुआ है। यह बन्द भुजा एक दूसरी चौड़ी नली से घिरी हुई है जिस मे ऐसे द्रव का भाप आता है जिसका क्वाथनांक जल के क्वाथनांक के ऊपर है। साधारणतः ऐमिल अलकोहल का, जिस का क्वाथनांक १३०° श है, इसके लिये व्यवहार होता
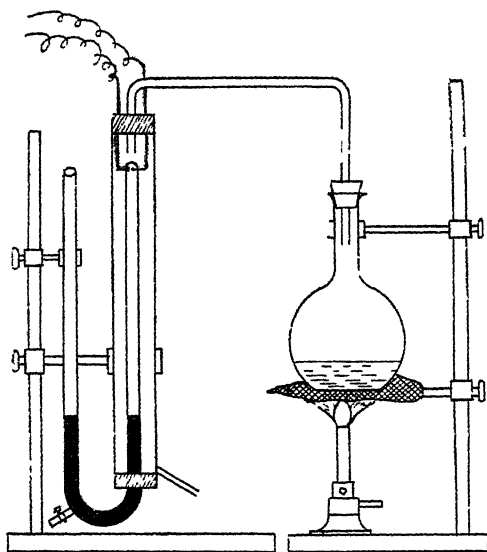
चित्र ३२

होने में सहायता अवश्य मिलती है पर एकता का स्थापित करना एक नया काम ही है । इसके लिये अपने सभी प्रकार के कृत्यों और विचारों के प्रति मनुष्य को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ता है । हमें अप्रिय में भी भलाई की खोज करनी पड़ती है । जब तक मनुष्य अपने अप्रिय भावों की भी आत्म-स्वीकृति नहीं करता और उन्हें सदुपयोग में लगाने का उपाय नहीं सोच लेता तब तक उसे पूर्ण स्वास्थ्य लाभ नहीं होता ।

शिव भावना का अभ्यास

अनेक प्रकार की भूत बाधायें शिव भावना के अभ्यास से नष्ट हो जाती हैं । शिव एक मानसिक कल्पना भी है और तथ्य भी है । जैसा हम पुराणों में और समाज में प्रचलित कथा कहानियों में शिव को पाते हैं वह आत्मा रूपी शिव भाव का आरोपण मात्र है । आत्मा के आस पास अपवित्र भाव भी है । ये भाव भूत प्रेत, डाकनी, सोचनी, सर्प बिच्छू आदि है ये शिव भाव के अभाव में मनुष्य को त्रास देते है । जब मनुष्य शिव भाव की शरण लेता है तो इनकी चेष्टा दुःखद नहीं होती वैयक्तिक पूर्णता प्राप्त करने की इच्छा के उक्त भाव बाधक है । जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को शिव भाव में लीन करने के लिए उतारु हो जाता है, अर्थात् जो शिवोपासक बन जाता है उसे किसी प्रकार के बुरे विचार अथवा भाव किसी प्रकार का त्रास नहीं देते है । भूत पिशाच आदि उसकी हानि न कर उसका कल्याण ही करते हैं । शिवजी का सांप भी आभूषण है । सर्प कामवासना का प्रतीक है जब हम कामवासना को व्यक्तिगत रूप से देखते हैं तो उसे अभद्र पाते हैं, जब हम उसे समष्टि भाव के रूप में देखते हैं तो उसे समष्टि का आभूषण पाते हैं । काम भाव के कारण ही संसार में पदार्थ शृंगार युक्त दिखाई देते है । यदि काम भाव प्रकृति में न हो तो प्रकृति की आकृष्टता भी नष्ट हो जाय । फिर फलने के पहले प्रकृति को फूलों से सुसज्जित होने की आवश्यकता ही न बच रहे ! अतएव समष्टि भाव में काम को देखने पर वह शिव के आभूषण के रूप में प्रतीत होता है ।

तौल सम्बन्धी विधि । अनेक आक्साइडो को हाइड्रोजन की धारा मे गरम करने से उन का आक्सिजन हाइड्रोजन के द्वारा खींच लिया जाता है और वह आक्साइड धातु में लघ्वीकृत हो जाता है। ताम्र के आक्साइड को हाइड्रोजन की धारा मे गरम करने से ताम्र के आक्साइड का आक्सिजन हाइड्रोजन के साथ मिलकर निम्न समीकरण के अनुसार जल बनता है।

$$CuO + H_2 = Cu + H_2O$$
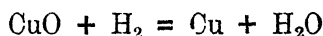
यहां यदि आक्साइड से कितना आक्सिजन निकलता है और उस से कितना जल बनता है इसका ज्ञान हो जाय तो जल से आक्सिजन की तौल निकाल डालने से हाइड्रोजन की तौल का ज्ञान हो जाता है। इस प्रयोग के लिये शुद्ध और बिलकुल शुष्क हाइड्रोजन चाहिये। ताम्र के आक्साइड की तौल और इससे जो जल बनता है उसे इकट्ठा कर तौलने का प्रबन्ध होना चाहिये। डूमा ने पहले-पहल निम्न रीति से यह प्रयोग किया था। यशद पर गन्धकाम्ल की क्रिया से हाइड्रोजन तैयार किया था। ऐसा हाइड्रोजन शुद्ध नही होता। अतः इस हाइड्रोजन को ८ यू-नलियो के द्वारा ले जाकर शुद्ध किया था। पहली यू-नली मे लेड नाइट्रेट $PbNO_3$ के विलयन से कांच के टुकडे को भिगो कर रखा था। इस से हाइड्रोजन सल्फ़ाइड दूर हो जाता है। दूसरी यू-नली मे सिल्वर सल्फेट रखा था इस से आर्सैनिक हाइड्राइड और फास्फ़रस हाइड्राइड दूर हो जाते है। तीसरी नली मे पोटासियम हाइड्राक्साइड से भिगोया हुआ कांचका टुकड़ा और चौथी और पांचवी नलियों मे घन पोटासियम हाइड्राक्साइड रखा था। इसके द्वारा सल्फर डाइ-आक्साइड और कार्बन डाइ-आक्साइड पूर्ण रूप से शोषित होजाते है। जल का कुछ अंश भी निकल जाता है। छठी और सातवी नलियो मे फ़ास्फरस पेन्टाक्साइड रखा था। इस से जल पूर्ण रूप से शोषित हो निकल जाता है। आठवीं नली में भी फ़ास्फरस पेन्टाक्साइड रखा था। इस नली को प्रयोग के पहले और पीछे तौल कर देखते है कि जो हाइड्रोजन प्रयुक्त हुआ है वह बिलकुल सूखा था वा नहीं। यदि हाइड्रोजन बिलकुल सूखा होता है तो इस नली की तौल मे कोई

बारहवाँ प्रकरण

आत्म यन्त्रणा और अपमानित होने की भावना

प्रत्येक मनुष्य अपने आप को अपनी ही इच्छा से सुखी और दुःखी बनाता है। उसका स्वार्थ और आरोग्य अपनी ही आन्तरिक इच्छा पर निर्भर करता है। जिस मनुष्य का आन्तरिक मन सुखी रहता है वह बाहर से भी प्रसन्न चित्त और स्वस्थ रहता है और जिस का भीतरी मन दुःखी रहता वह अपने आप को बाहरी ढंग से दुःखी बनाने के लिये अनेक उपाय रच लेता है। किसी प्रकार के रोग की उपस्थिति अपने आप को यन्त्रणा देने का एक मार्ग है। आत्म यन्त्रणा की भावना जब एक बार उत्पन्न हो जाती है तो वह किसी न किसी प्रकार के मानसिक अथवा शारीरिक क्लेश का रूप धारण कर लेती है। इन क्लेशों को प्राकृतिक रूप देने के लिये मनुष्य का मन ऐसा वातावरण उत्पन्न कर लेता है जिस से वह उन क्लेशों के वास्तविक कारण को न पहचान सके, वह उनकी जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर किसी बाहरी पदार्थ अथवा घटना के ऊपर डाल सके। इस प्रकार की मनोवृत्ति को आरोपण की मनोवृत्ति कहा जाता है। इस से मनुष्य को एक विशेष प्रकार का संतोष होता है।

मनुष्य को जब भारी मानसिक संताप होता है तो वह इस संताप को भुलाने के लिये शारीरिक रोग का आवाहन करता है। देखा गया है कि जब मनुष्य का शारीरिक रोग बढ़ा रहता है तो उसकी मानसिक बे चैनी कम रहती है और जब उसे शारीरिक रोग की कमी होती है तो मानसिक बे चैनी बढ़ जाती है। एक्जिमा से परेशान रहने वाले लोगों के विषय में देखा गया है कि यदि उन के एक्जिमा को कम कर दिया जाय तो उन्हें अनेक प्रकार की मानसिक बेचैनी

अन्तर नहीं होता । यदि बिलकुल सूखा नही होता तो इसकी तौल बढ जाती है। इस दशा मे इस प्रयोग को फिर दुहराते है।

बल्ब मे ताम्र के आक्साइड को रखकर तौलते है । इसे एक ओर ऊपरोक्त यू-नलियों से और दूसरी ओर एक दूसरे बल्ब से जोड़ देते है। इस दूसरे बल्ब को भी प्रयोग के पहले और बाद मे तौलते है । इस बल्ब के साथ चार और यू-नलियां (९, १०, ११, १२) जोड़ी रहती है। नवीं यू-नली मे पोटासियम हाइड्राक्साइड रहता है । १०वी, ११वी, और १२वीं नलियो मे फ़ास्फरस पेन्टाक्साइड रहता है। आखिरी यू-नली को यह जानने के लिये रखते है कि सारा जल ९वी, १०वी, और ११वी नलियो मे शोषित हो गया वा नही। यदि इस नली की तौल मे अन्तर हाता है तो इस प्रयोग को फिर दुहराते है।

प्रयोग आरम्भ करने के पहले ताम्र के आक्साइड को गरम करते है। जब यह गरम हो जाता है तब ऊपरोक्त रीति से शोधित हाइड्रोजन को इस पर ले आते है। इस से ताम्र के आक्साइड के आक्सिजन के साथ हाइड्रोजन जल बनकर अधिकांश बल्ब मे द्रवीभूत हो जाता है और जो कुछ बच जाता है वह पोटाश और फ़ास्फरस वाली नलियो में शोषित हो जाता है। प्रयोग के अन्त मे बल्बो और ९, १०, ११ यू-नलियो को तौलते है। पहले बल्ब की तौल मे जो कमी होती है उस से आक्सिजन की तौल का ज्ञान होता है। दूसरे बल्ब और ९, १०, और ११ यू-नलियो की तौल में जो बृद्धि होती है उससे जल की तौल का ज्ञान होता है।

इस प्रकार १९ प्रयोग करके डूमा ने यह निकाला कि ९४५ ४३७ ग्राम जल बनने मे ८४० १६१ ग्राम आक्सिजन लगता है अर्थात् १०० ग्राम जल बनने मे ८८ ८६४ ग्राम आक्सिजन और ११·१३६ ग्राम हाइड्रोजन लगता है वा २ ग्राम हाइड्रोजन १५ ९६ ग्राम आक्सिजन से संयुक्त हो जल बनता है।

ऊपरोक्त प्रयोग आजकल अधिक सावधानी से किये गये है । इस से मालूम होता है कि डूमा के अङ्क बिलकुल ठीक नहीं है । इन प्रयोगो से पता लगता है कि वस्तुत २ ग्राम हाइड्रोजन १५ ८८ ग्राम आक्सिजन के

साथ मिलकर १७'८८ ग्राम जल बनता है वा १०० ग्राम जल मे ८८'८१४ ग्राम आक्सिजन का और ११ १८६ ग्राम हाइड्रोजन का विद्यमान है।

अभ्यासार्थ प्रश्न।

१. कैसे प्रमाणित करोगे कि जल में हाइड्रोजन और आक्सिजन विद्यमान हैं? इस के लिये जो प्रयोग करोगे उस का सविस्तर वर्णन करो और जिस उपकरण का इसके लिये उपयोग करोगे उसका चित्र खींचो।

(कलकत्ता, १९१०)

२ किसी ऐसे प्रयोग का वर्णन करो जिस से मालूम हो कि हाइड्रोजन का २ आयतन आक्सिजन के १ आयतन के साथ मिलकर जल-वाष्प का २ आयतन बनता है।

(कलकत्ता, १९०९)

३. उस प्रयोग को पूर्ण रूप से वर्णन करो जिस से जल के तौल सम्बन्धी संगठन को निर्धारित कर सकते हो। यथार्थ फल की प्राप्ति के लिये जिस विशेष यत्न की आवश्यकता होती है उसे भी वर्णन करो। इस की आवश्यक गणनायें भी दो।

(कलकत्ता, १९२२)

परिच्छेद १४

ओज़ोन।

इतिहास। जहां बिजली की मशीने कार्य्य करती है उस के आस पास एक विचित्र और विशेष प्रकार की गन्ध पाई जाती है। जिस स्थान पर बिजली गिरती है उस के आस पास भी ऐसी ही गन्ध पाई जाती है। १७८५ ई० मे वान मारूम ने देखा कि विद्युत स्फुलिंग से आक्सिजन मे भी यह गन्ध आ जाती है। १८४० ई० मे शोनबाइन ने जल के विद्युत विच्छेदन से जो आक्सिजन तैयार किया उस मे भी यह विशेष गन्ध पाई। इन्होंने इस विचित्र गन्धवाले पदार्थ का नाम ओज़ोन रखा। ओज़ोन शब्द का अर्थ गन्धवाला है। शोनबाइन ने इस का अध्ययन बड़ी सावधानी से किया और अन्य विधियो से इसे प्राप्त किया। अण्ड्रूज़, सोरेट और ब्राडी ने इस सम्बन्ध मे जो अन्वेषण किये उससे ओजोन का ज्ञान बहुत कुछ विस्तृत हो गया।

उपस्थिति। ओज़ोन बहुत थोडी मात्रा मे वायुमण्डल मे पाया जाता है। बसन्त ऋतु मे इसकी मात्रा सब काल से अधिक और शीतकाल में सब कालो से कम हो जाती है। पहाडो और समुद्रो की वायुओ मे इसकी मात्रा कुछ अधिक होती है।

ओज़ोन तैयार करना। जल के विद्युत-विच्छेदन से जो आक्सिजन प्राप्त होता है उस में बहुत थोडा अंश ओज़ोन का अवश्य रहता है। पदार्थों विशेषतः फ़ास्फ़रस के मन्द आक्सीकरण से भी कुछ ओज़ोन बनता है। आक्सिजन को नील-लोहितोत्तर किरण मे रखने से भी ओज़ोन पाया जाता है।

पोटासियम डाइ-क्रोमेट और पोटासियम परमैंगनेट पर गन्धकाम्ल की क्रिया से जो आक्सिजन प्राप्त होता है उस मे भी कुछ ओज़ोन वर्तमान रहता है किन्तु अधिक सुविधा से सूखे आक्सिजन मे नि:शब्द विद्युत् विसर्ग के द्वारा

कियों का विवाह अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं तो वे उन के जीवन को क्लेशमय बनाते हैं। जात पांत की रूढ़ि वैयक्तिक स्वतंत्रता की विनाशक है। अतएव यदि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वृद्धि होती है और स्त्रियों को अपने जीवन के विषय में स्वतन्त्र निर्णय का हम अधिकार देते हैं तो हमें जात पांत का अन्त करना ही होगा और जो व्यक्ति इस काम में अगुआ बनता है वह नैतिक दृष्टि से उच्चकोटि का व्यक्ति है। समाज यदि किसी अनैतिक रूढ़ि में फँसा है तो उसे उस रूढ़ि से मुक्त करना प्रत्येक युवक का कर्त्तव्य है।

लेखक के उक्त विचार को सुन कर उस विद्यार्थी के मन में साहस आया और उसने निश्चय किया कि वह अपने प्रेम के आश्वासन का पत्र अपनी प्रेयसी को लिखे। इन दोनों व्यक्तियों की उमर २० वर्ष के लगभग है और नैतिक दृष्टि से दोनों को अपने स्वतन्त्र निर्णय का अधिकार है। इस पत्र के लिखने के बाद से उस की मानसिक बेचैनी कम हो गई। दूसरे दिन से उस का घाव की जलन भी कम होने लगी। अब उसका घाव धीरे धीरे भर रहा है। वास्तव में अब उस घाव के रहने की भी आवश्यकता नही है।

जिन लोगों की अपनी स्त्री से नहीं पटती है उन्हें अनेक प्रकार के वास्तविक अथवा कल्पित रोग उत्पन्न हो जाते हैं लेखक के एक मित्र के भाई को पागलपन का रोग है। जब उसकी स्त्री से उस का झगड़ा होता है तो वह अपनी स्त्री को चिन्ता में डालने के लिये पहले तो पागलपन का अभिनय करता है फिर पीछे उसे वास्तव में ही पागलपन आ जाता है। जिन लोगों को अपनी धर्मपत्नी चरित्र के विष्य में संदेह रहता है अथवा जो अपने आप में नपुंसकता की अनुभूति करते हैं उन्हें अनिद्रा का रोग उत्पन्न हो जाता है। अपनी स्त्री से संतुष्ट न रहने वाले लोगों को अनेक प्रकार के कल्पित रोग होते हैं। इस प्रकार के रोगों को हाइपोकेन्ड्रिया कहा जाता है। लेखक के अनुभव में कई ऐसे रोगी आये जिन्हें वास्तव में कोई रोग नहीं है परन्तु वे अपने आप में अनेक प्रकार के रोग की कल्पना करते रहते

ओज़ोन की मात्रा प्रतिशत १० से अधिक नहीं होती किन्तु विशेष यत्न से ओज़ोन और आक्सिजन के मिश्रण मे प्रतिशत ८० भाग तक ओज़ोन का प्राप्त किया जा सकता है। ओजोन मिश्रित आक्सिजन को ऐसी नलो के भीतर से ले जाने से जो द्रव आक्सिजन से घिरी हुई है ओज़ोन द्रवीभूत होकर नीले द्रव मे परिणत हो जाता है। यह द्रव $-110°$ श पर उबलता है और इस से नीली विस्फोटक गैस बनती है जिस गैस मे प्रतिशत ८० भाग तक ओज़ोन के होने का अनुमान किया गया है।

थोडी मात्रा मे भी ओज़ोन की गन्ध तीव्र और अरुचिकर होती है। इस के सूंघने से सिर मे वेदना उत्पन्न होती है। श्लेष्मिक कला को यह आक्रान्त करता है। यह जल मे कुछ कुछ घुलता है। इस विलयन की भी ओज़ोन सी ही गन्ध होती है।

ओजोन बहुत प्रबल आक्सीकारक है। यह सेन्द्रिय पदार्थों को आक्रान्त कर शीघ्र ही नष्ट कर देता है। इसी से रबड के काग इसमे प्रयुक्त नही होते। वानस्पतिक रंगो को भी यह शीघ्र ही नष्ट कर देता है। तैल सदृश वानस्पतिक पदार्थों के रंगो के दूर करने के लिये यह उपयुक्त होता है। अनेक धातुओं को भी यह आक्रान्त करता है। पारा सदृश धातु भी जिन पर साधारणतः आक्सिजन की कोई क्रिया नहीं होती इससे आक्रान्त होती है। ओज़ोन के संसर्ग मे पारा शीघ्रही अपनी चञ्चलता को खो देता है और कांच के पात्रो की तहो पर चिपक जाता है। लेड सल्फ़ाइड PbS इस से लेड सल्फ़ेट $PbSO_4$ मे परिणत हो जाता है। पोटासियम आयोडाइड से आयोडीन मुक्त होता है।

$$PbS + 4O_3 = PbSO_4 + 4O_2$$
$$KI + O_3 + H_2O = 2KOH + I_2 + O_2$$
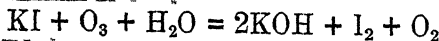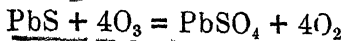
यह मुक्त आयोडीन स्टार्च के काग़ज़ को नीला कर देता है। साधारणतः यह क्रिया ओज़ोन के आस्तित्व के जानने मे प्रयुक्त होती चली आई है, किन्तु अब ज्ञात हुआ है कि यह विधि विश्वसनीय नही है क्योंकि ओज़ोन के सिवा अन्य पदार्थ भी (हाइड्रोजन पेराक्साइड और नाइट्रोजन पेराक्साइड) इसी प्रकार स्टार्च पोटासियम आयोडाइड के काग़ज़ को नीला कर देते है।

यह रोग मनुष्य को तभी उत्पन्न होता है जब वह अपने अनैतिक आचरण को भुलाने में समर्थ होता है। अपने नजदीक के सम्बन्धी से व्यभिचार करने से प्रबल नैतिक बुद्धि वाले व्यक्ति को कभी-कभी कोढ़ हो जाता है। वेश्यागमन से नपुंसकता आ जाती है और ईर्ष्या से आंख की ज्योति कम हो जाती है अथवा आंख में फूली पड़ जाती है और चोरी करने से अकारण भय उत्पन्न होते हैं तथा मृत्यु की भावना बार बार मन में आने लगती है। जब तक मनुष्य अपने रोग के वास्तविक कारण को नहीं पहचानता उस का रोग बढ़ता ही जाता है। पर रोग उसकी आन्तरिक कमी के प्रतीक रूप होते हैं। किसी घृणित काम को करने से कभी-कभी गन्दे पदार्थ से छू जाने की झक सी बन जाती है। ऐसा व्यक्ति कोई उसे छू न जाय अथवा कोई गन्दी वस्तु वह स्वयं न उठा ले इस से डरने लगता है। किसी प्रकार के गन्दे कार्य की भावना कभी कभी दूसरो के द्वारा तिरस्कृत होने की भावना में प्रकाशित होती है। एक व्यक्ति को इसी तरह यह भावना त्रास देती थी कि सभी लोग उसकी ओर देख कर थूकते हैं। इस प्रकार की भावना का कारण अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल आचरण था। वह कार्य ऐसा था जिस की ओर दूसरे लोग थूकें।

मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक प्रकार के तत्त्वों का बना हुआ है। मनुष्य तभी अपने भीतर शान्ति का अनुभति करता है जब वह अपने आप में सभी प्रकार की पूर्ति देखता है। मान, प्रेम और नैतिक भाव ये सभी वस्तुएं मनुष्य के लिये आवश्यक है। जब किसी प्रकार की कमी मनुष्य अपने आप में देखने लगता है तो वह अपने आप को को सने लगता है। यह आत्म-संताप पीछे बाहरी रोग में व्यक्त होता है। यह रोग आन्तरिक संताप को कम करते हैं परन्तु जब इन के द्वारा मनुष्य के मन को पूरी शान्ति नहीं मिलती तो उसका शरीर रोगी हो जाता है। इन कमियों के कारण वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। परन्तु यह आवाहन उसके अचेतन मन का होता है अतएव वह साधारणतया इच्छा के रूप में प्रकाशित न हो कर भय के रूप में

प्रकाशित होता है। कोई कोई व्यक्ति मानसिक परेशानी की अवस्था में पूरे मन से मृत्यु की इच्छा भी करते हैं और ऐसी अवस्था में उनकी मृत्यु किसी न किसी कारणवश हो जाती है। दृढ़ इच्छा शक्ति के व्यक्ति तभी मरते हैं जब वे मरने की इच्छा करते हैं और निर्बल इच्छा शक्ति के व्यक्ति अपनी चेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल भय के कारण मरते हैं। आन्तरिक अशान्ति और जीवन से आन्तरिक परेशानी दोनों प्रकार के लोगों की मृत्यु का कारण होती है।

जब कोई मनुष्य उचित विचार के द्वारा अपने आन्तरिक संताप को हटा देता है तो उस के बाहरी क्लेश का भी अन्त हो जाता है। सभी प्रकार के संताप का कारण अविचार रहता है। इस अविचार का अन्त सद्विचार से होता है। जो व्यक्ति जितना ही नित्य प्रति आध्यात्मिक चिन्तन करता है वह उतना ही अपने आप को अस्थायी मान प्रेम और नैतिक बड़प्पन की इच्छा से मुक्त कर लेता है। और देश, काल तथा उपाधियों के परे सच्ची महानता में अपने आप को लीन कर देता है। अपने अहंभाव को जितना ही हम व्यापक तत्त्व में लीन कर देते हैं उतना ही हम अपने आप को पूर्ण बनाते हैं और मानसिक संताप से विमुक्त होते हैं। ऐसी अवस्था में आत्म यन्त्रणा की आवश्यकता ही नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को न मानसिक रोग होते हैं और न कल्पित शारीरिक रोग। यदि कोई शारीरिक रोग हुआ तो उसका अन्त शीघ्र ही हो जाता है वह अपने शरीर को दुःख उठा कर नहीं वरन सहज भाव से छोड़ देता है।

अपमानित होने की भावना

हम हर समय ऐसे व्यक्तियों से मिला करते हैं जिन्हें छोटी-छोटी सी घटनाएँ दुःखी बना देती हैं। यदि उनके साथी मित्र अथवा संरक्षक उन की किसी प्रकार से अवहेलना करें अथवा उन को कुछ साधारण सी बात कह दें तो भी वे अनुभव करते हैं कि उन्हें अपमानित करने के लिए ही ऐसा किया जा रहा है। थोड़ी सी ही उन के प्रति उदासीनता दिखाने से अथवा उनकी इच्छा के प्रतिकूल

कुछ काम करने से वे अपमान का अनुभव करते हैं। अभी दो दिन के बीच लेखक को तीन ऐसे व्यक्ति मिले जिन्होंने अपने आप के अनमानित होने की और उसके कारण मानसिक शक्ति खोने की अनुभूति का वर्णन लेखक के समक्ष किया। इनमें से एक २० वर्ष का युवक है और दूसरा उसी आयु की युवती है। ये दोनों ही अविवाहित हैं तीसरा व्यक्ति ७० साल का बनारस के एक प्रतिष्ठित परिवार का व्यक्ति है। युवक और युवती लेखक के छात्र हैं और वृद्ध महाशय लेखक के मित्र हैं। लेखक की मनोवैज्ञानिक बातों में ये रुचि रखते हैं अतएव वे अपनी मानसिक अशान्ति को हटाने के लिये कभी-कभी लेखक के समक्ष अपने आप को खोल देते हैं।

युवक लेखक के पास ही रहता है यह हाल ही में यहाँ से ५०० मील दूरी से अपना घर छोड़ कर आया है। उसकी लेखक के प्रति विशेष श्रद्धा है और उसने जिस शिक्षालय में वह पढ़ता था उसको भी छोड़कर लेखक के पास रहने के लिये काशी विद्यापीठ में अपना नाम लिखाया है लेखक के पास लेखक का एक भतीजा रहता है जिसकी उमर १७ वर्ष की है। यह एक कालेज का विद्यार्थी है अपने साथियों में इसका सन्मान का स्थान है। एक दिन इस लड़के ने उक्त छात्र से कहा कि तुम रहने के ~~कमरे~~ को झाड़ लेना यह बात उसे बहुत बुरी लगी। इस प्रकार के हुक्म प्राप्त होने में अपने आप का अपमान का अनुभव किया परन्तु वह बोला कुछ नहीं। दूसरे दिन भतीजे ने इस छात्र को कहा कि तुम मेरे बदले में जिन लड़कों को मैं पढ़ाता हूँ उन को पढ़ा आना। यह बात भी उक्त छात्र को अपमान दिखाई दी। पीछे जब उद्विग्न मन था तो उस ने लेखक से अपने मन को खोला और उससे उसने पूछा कि उसे क्यों ऐसी छोटी छोटी बातों से अपमानित होने का अनुभव होता है।

जिस प्रकार का प्रश्न युवक ने लेखक से पूछा ठीक उसी प्रकार का प्रश्न एक छात्रा ने भी लेखक से पूछा। यह छात्रा ट्रेनिंग

में बुरा लग जाता है। यदि मेरी कोई साथी लड़कियाँ कहीं घूमने जाती हैं और मुझ से नहीं पूछती तो मुझे आन्तरिक दुःख की अनुभूति होती है। इसी प्रकार यदि वे किसी प्रकार से मेरी अवहेलना करें तो मुझे बुरी मानसिक वेदना होती है मैं उनसे कुछ कहती तो नहीं हूँ परन्तु मुझे दुःख बहुत अधिक होता है। मैं अपने आप को ऐसे दुःख से कैसे बचाऊँ

वृद्ध महाशय ने भी इसी प्रकार का प्रश्न लेखक से पूछा। जब उन्होंने लेखक को बुलाया था उस समय उन्हें दो दिन से नींद नहीं आ रही थी। वृद्ध महाशय निस्सन्तान है परन्तु घर में सबसे ज्येष्ठ रहने के कारण सभी लोग उनकी बात मानते हैं। अभी हाल में उनके भतीजे के विवाह की बातचीत चल रही है। वे भतीजे का वहीं विवाह करना चाहते हैं जहाँ पर भतीजे के पिता पहले ही वचन दे चुके थे परन्तु भतीजा वहाँ स्वयं विवाह नहीं करना चाहता। अतएव उसने उनकी बात का विरोध किया। भतीजे के विरोध से उन्हें भारी क्लेश हुआ परन्तु उन्हें इस बात से आत्मभर्त्सना होने लगी कि वे भतीजे के विवाह के विषय में पड़े ही क्यों। यह बात उनके लिये निरी मूर्खता है। इस आत्मभर्त्सना की भावना ने उन्हें और भी दुःखी बनाया और वे इसके कारण सो नहीं सकते थे।

इन घटनाओं पर विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य अपने आप को कैसे जहाँ तहाँ दुःखी बना लेता है। जिस मनुष्य के मन में किसी विशेष प्रकार की झंझट है उसे वातावरण भी ऐसा ही मिल जाता है जिससे उसे दुःख की उत्पत्ति हो। मनुष्य प्रायः अपने दुःख का कारण वातावरण में खोजने की चेष्टा करता है परन्तु वास्तव में कारण उसी के भीतर होता है। इन तीन व्यक्तियों के मानसिक जीवन के अध्ययन से उन की सरलता से अपमानित हो जाने की भावना के कारण का पता चलता है। लेखक ने जब इन लोगों के जीवन की अधिक जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की तो पता चला कि उन के इस प्रकार अपमानित होने की भावना का

वा फ़ास्फरिक अम्ल प्रयुक्त हो सकता है। साधारणत कार्बनिक अम्ल वा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के द्वारा यह तैयार होता है। गन्धकाम्ल के प्रयोग से हाइड्रोजन पेराक्साइड की मात्रा कम प्राप्त होती है किन्तु इसका प्रयोग अधिक सुविधा जनक होता है। क्योंकि बेरियम पेराक्साइड पर गन्धकाम्ल की क्रिया से अविलेय बेरियम सल्फेट बनता है जो हाइड्रोजन पेराक्साइड के जलीय विलयन से सरलता से अलग हो जाता है।

प्रयोग २०—तनु गन्धकाम्ल को बीकर में रखकर हिमीकरण मिश्रण में ठढा करो। अब बेरियम पेराक्साइड और जल की लेई बनाकर उस को भी हिमीकरण मिश्रण मे ठंढा करो। जब यह पर्याप्त ठढा हो जाय तब तनु गन्धकाम्ल को धीरे धीरे उस पर डालो और बार बार हिलाते जाओ। इस प्रकार बेरियम सल्फेट और हाइड्रोजन पेराक्साइड बनता है।

$$BaO_2 + H_2SO_4 = BaSO_4 + H_2O_2$$
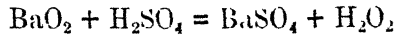
यह बेरियम सल्फेट अविलेय होने के कारण शीघ्र ही द्रव से अलग हो जाता है। यहां बेरियम पेराक्साइड की मात्रा अधिक नहीं रहनी चाहिये नहीं तो इस से हाइड्रोजन पेराक्साइड विच्छेदन हो जाता है। अच्छा तो यह होता है कि अम्ल के संयोजन तुल्य मात्रा बेरियम पेराक्साइड की हो और अम्ल के शेष अंश को बेरियम कार्बनेट डालकर दूर करें। बेरियम सल्फ़ेट और बेरियम कार्बनेट को नि स्यन्दन द्वारा अलग कर लेते है और जलीय विलयन के जल को जल-उष्मक पर गरम करके उड़ा देते हैं। यहां जल-उष्मक का तापक्रम ७५° श से ऊपर नहीं होना चाहिये। जल के अवशिष्ट भाग को कम दबाव पर—प्राय: १० मम दबाव पर—निकाल डालते है और तब स्वयं हाइड्रोजन पेराक्साइड को स्रवित करते हैं। जल का अन्तिम लेश शून्य मे गन्धकाम्ल पर सुखाने से निकल जाता है। इस प्रकार प्राय: शुद्ध हाइड्रोजन पेराक्साइड प्राप्त किया जा सकता है।

गुण। शुद्ध हाइड्रोजन पेराक्साइड गाढा, मान्द्र द्रव होता है। पतले स्तरों मे इस मे कोई रंग नहीं होता किन्तु मोटे स्तरों मे यह आस्मानी रंग का

आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। फिर वह दूसरे लोगों की सीख से लाभ न उठाकर उससे चिढ़ने लगता है। यह महिला प्रेम की भूखी है परन्तु अभी तक उसे उसकी प्राप्ति नहीं हुई। यही कारण है कि जब कभी कोई उसको किसी बात की अवहेलना कर देता है तो उसे भारी दुःख होता है।

वृद्ध महाशय का जीवन भी एक तरह से प्रेमहीन जीवन रहा। जिस मनुष्य को सन्तान नहीं होती उसका मन दुःखी रहता है। जब भतीजे ऐसे व्यक्ति की बात की अवहेलना करते हैं तो वह उनकी अवहेलना को बहुत ही दुःखदायी मानता है। यदि स्वयं उसके कोई सन्तान होती तो उसे इस प्रकार की अवहेलना न सुननी पड़ती। उसे ऐसा विचार बार-बार आने लगता है। बुढ़ापा दूसरा बचपन है। इस समय मनुष्य का मन वैसा ही आवेगों के वश में आ जाता है जैसा वह किशोरावस्था में आवेगों के वश में रहता है। अतएव छोटी-छोटी सी घटना भी मनुष्य को इस काल में उद्विग्न कर देती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रेम की कमी, आत्मविश्वास की कमी तथा आत्महीनता की भावना मनुष्य के मन में सहज में अपमानित होने की भावना ले आते हैं। जिन लोगों को दूसरों द्वारा अनादर होने की अनुभूति होती है वे इस प्रकार के अनादर के अभाव में भी दुःखी ही रहते हैं। वे अकारण आत्मभर्त्सना का ही बाहर कोई कारण ढूँढ लेते हैं जिसके ऊपर वे अपने दुःखी होने की मनोवृत्ति को लाद सकें। सरलता से दूसरों से अपमानित होने की भावना को मन में लानेवाले व्यक्ति अपने आप को किसी न किसी प्रकार भाग्यहीन समझते हैं। उनका यह भाव किसी प्रकार की वास्तविक अथवा कल्पित कमी के कारण उत्पन्न होता है। हम सचमुच में दूसरों के द्वारा अपमानित नहीं होते अपने आप द्वारा ही अपमानित होते हैं। जिस व्यक्ति को अपनी योग्यता में पूर्ण विश्वास है वह दूसरों के द्वारा अपमानित होने पर भी अपने आप को अपमानित नहीं मानता।

अपमानित होने की भावना स्वयं मानसिक क्लेश नहीं है वह मानसिक क्लेश का लक्षणमात्र है। ऊपर कहा जा चुका है कि अपमानित होने की भावना अपने आप को कोसने की भावना का व्यक्तिकरण है। इससे अपने आप को कोसने की भावना की कमी होती है और इसके दमन से आत्मभर्त्सना की भावना बढ़ जाती है। वास्तव में मनुष्य की आत्मभर्त्सना की भावना का प्रारम्भ इसी प्रकार होता है। जब बालक को अपनी इच्छा के प्रतिकूल कोई काम करना पड़ता है अथवा उसे किसी काम के लिये झिड़क दिया जाता है तो वह अपने भीतर भारी क्रोध की अनुभूति करता है। जो बालक अपने बड़ों के प्रति अपने क्रोध का किसी न किसी प्रकार प्रकाशन कर देता है उसे आत्मभर्त्सना की भावना त्रास नहीं देती परन्तु जो शीलवश अपने क्रोध का दमन कर देता है उसे ही आत्मभर्त्सना की भावना उत्पन्न हो जाती है। दूसरों के प्रति किया गया क्रोध जब अपने प्रकाशन का मार्ग नही देखता तो वह मानसिक ग्रन्थि का रूप ले लेता है जो मनुष्य के मन को सदा अशान्त बनाये रहती है। कभी-कभी यही ग्रन्थि दूसरों के द्वारा अपमानित होने की भावना में व्यक्त होती है।

अपमानित होने की भावना प्रबल होने पर मनुष्य अपने वातावरण में अनेक शत्रु पैदा कर लेता है। उसका दूसरों के साथ व्यवहार कपट व्यवहार हो जाता है। वह हृदय से दूसरों का शत्रु होते हुए भी ऊपर से मित्रता का प्रदर्शन करता। जिस प्रकार वह दूसरों से अपमानित होने की भावना की अनुभूति करता है इसी तरह वह दूसरों का अपमान करने की चेष्टा करता है। इससे वह सभी का अप्रिय बन जाता है।

अपमान की भावना का विनाश अपना आत्मविश्वास बढ़ाने से और मैत्री भावना का अभ्यास करने से होता है। अपना आत्मविश्वास हम अनेक प्रकार के रचनात्मक काम करके बढ़ा सकते हैं। जो व्यक्ति अपने आप का आदर करता है उसका

संसार के सभी लोग आदर करते हैं और जो अपने आप का आदर नहीं करता वह संसार के दूसरे लोगों को भी उसका अनादर करते हुये पाता है। हमारी आत्मा बड़ी ही काम का लेखा लेने वाली है वह किसी व्यक्ति को तबतक आत्मप्रसाद नहीं देती जबतक वह उसकी मर्जी को पूरा नहीं करता। जो व्यक्ति जितना ही अधिक रचनात्मक कार्य करता है वह उतना ही आत्म-प्रसाद को पाता है। उसे विश्वास रहता है कि वह अपमानित होने योग्य नहीं है। यदि कोई उसका अपमान कर रहा है तो वह मूर्ख है। वह उसकी दया का पात्र है न कि उसके क्रोध का। ऐसे व्यक्ति को अपमान की परवाह ही करने का क्या आवश्यकता? दूसरे लोग हम को वहीं तक दुःखी बना सकते हैं जहाँ तक हम उन्हें हमें दुःखी बनाने की शक्तिप्रदान करते हैं। यदि हम अपने निश्चय पर दृढ़ रहें और सतत योग्य कार्य में लगे रहें तो हमें दूसरे लोग हमारे बारे में क्या सोचते हैं इसे सोचने की फुर्सत ही न मिले। जो व्यक्ति अपने आप के विषय में दूसरे के विचारों की जितनी अधिक चिन्ता करता है वह एक ओर उतना ही अधिक निर्बल मन का होता है और दूसरी ओर वह अपने आप को उतना ही अधिक निर्बल मन का और बना लेता है। परन्तु दूसरे के विचारों से प्रभावित न होने की शक्ति उसी में होती है जो सच्चा तपस्वी और योगी है। रचनात्मक कार्य में लगे हुए व्यक्ति का मन अपने वश में रहता है। कोई बाहरी विचारों के झकोरे उसको अपने आप से डिगा नहीं सकते।

अपमान की भावना के विनाश का दूसरा उपाय प्रेम का प्रसार है। जो व्यक्ति अपने मित्रों को सच्चे हृदय से प्यार करता है उसके मन में यह भाव आते ही नहीं कि वे उसे कभी भी अपमानित कर सकते हैं। जो शिक्षक अपने विद्यार्थियों को पूरे हृदय से प्यार करता है उसके मन में यह भावना नहीं आती कि वे उसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। जो राष्ट्र का नेता अपने देशवासियों को सच्चे

मन से प्यार करता है वे जब उसके ऊपर जूते भी फेंकते हैं तब भी वह उनसे क्रुद्ध नहीं होता। वह जानता है कि यह उनकी नादानी है। दूसरों कीसेवा करने की भावना मन में लाने से दूसरों से अपमानित होने की भावना का अन्त हो जाता है। जब हम दूसरे व्यक्तियों को याद करते हैं तो उनसे उनके प्रति हमारे संदेह और भय के भाव मिट जाते हैं। ऐसी अवस्था में वे भी हमें प्यार करने लगते हैं और फिर उनके द्वारा हमारा अपमानित होना असंभव हो जाता है। उदार विचार के मनुष्य को कोई भी व्यक्ति उस का निरादर करते हुए नहीं दिखाई देता। यदि कोई वास्तव में भी उसका निरादर करे तो इससे उसका मन उद्विग्न नहीं होता। अपने मन के अउद्विग्न रहने के कारण वह उसका अनादर-करने वाले व्यक्ति के मन में परिवर्तन करने में समर्थक होता है।

अपने मन में प्रेम के विचार लाने से मनुष्य की आत्मभर्त्सना की भावना और चिन्तायें भी नष्ट हो जाती हैं। जो व्यक्ति दूसरों को प्रेम करता है उसे दूसरे प्रेम करते हैं। ऐसे व्यक्ति का आत्मा उस व्यक्ति की भर्त्सना न कर उस के हृदय में आत्मप्रसाद को उत्पन्न करती है। दूसरों के सुसी बनाने से हम सहज में ही अपने आप में सुखी हो जाते हैं।

दूसरों से अपमानित होने की भावना और उस की पूरक आत्म-भर्त्सना को भावना दोनों ही मानसिक कमजोरी की अवस्था को दर्शाती हे। जब तक मनुष्य में मानसिक दुर्बलता रहती है अर्थात् जब तक उस की इच्छा शक्ति का उसके आवेगों के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण नहीं रहता तब तक कोई भी अप्रिय विचार एक बार मन में आ जाने से उसे दीर्घ काल तक त्रास देते रहता है। इस प्रकार के विचारों से मुक्त होने का एक उपाय अपनी इच्छा शक्ति को दृढ़ बनाना है। इच्छाशक्ति की दृढ़ता आत्मसंयम के अभ्यास से आती है। इसके लिये प्रत्येक बात में अपने आप को रोकने का सहज प्रयत्न करते रहना आवश्यक है। आत्मसंयम प्राप्त करने का सब से सुयोग्य उपाय जीवन के ऊपर

नियन्त्रण प्राप्त करना है और इसके लिये नियमित उपवास की आवश्यकता होती है। उपवास मानसिक दृढ़ता प्राप्त करने की एक सुयोग्य कुंजी है। रूस देश के प्रसिद्ध विद्वान टालस्टाय ने इसे आत्मनियन्त्रण प्राप्त करने की पहली सीढ़ी बताया है। जो मनुष्य अपनी अन्य प्रकार की कमजोरियों से मुक्त होना चाहता है उसे अपनी जीभ को वश में करना चाहिये।

आधुनिक मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों का यह निष्कर्ष है कि बिना सच्ची धार्मिकता के उदय हुऐ मनुष्य में मानसिक दृढ़ता नहीं आती। सच्ची धार्मिकता से मनुष्य के अहंभाव का विनाश होता है उस की संसार के प्रति ममता छूटती है और वह अनित्य, सुख और मान से विमुख हो कर नित्य सुख और आत्मभोग प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जो व्यक्ति स्थायी शान्ति का इच्छुक है उसे अपने आप के प्रति उदासीन होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति का मान का भाव जितना अधिक बढ़ा रहता है उसको मानसिक अशान्ति पहुंचाने वाले कारण भी उतने ही अधिक रहते हैं। मनुष्य की बहिर्मुखता उस में दूसरों से सम्मान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न करती है। जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है, तब वह दूसरों के मान अपमान के प्रति सहज भाव से उदासीन हो जाता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति संसार के महान से महान तत्व को अपने अन्दर ही देखता है जिसे इस तत्व की कृपा प्राप्त है उसे दूसरा और क्या चाहिये। अस्तु निरन्तर आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्य के सभी प्रकार के मानसिक क्लेशों के अपहरण करने की अचूक कुंजी है।

मानसिक बल की वृद्धि मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के मिटाने से होती है। इस अन्तर्द्वन्द्व का अन्त अपने आप को समय समय पर प्रकृति के प्रवाह में बहादेने से भी होता है। इस प्रवाह को फिर साक्षी रूप से देखना चाहिये। मानसिक शैथिलकरण का अभ्यास अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों का रेचन करता है। इसके अभ्यास में मनुष्य अपने आप को प्रकृति की गोद में पड़े हुऐ बालक के समान मान लेता है।

वह अपनी महानता को भुला कर एक बालक के समान बन जाता है। इस प्रकार अपने आप को बालक के रूप में मान लेने से सभी प्रकार के मानसिक खिचाव का अन्त हो जाता है। जब यह खिचाव चला जाता है तो मनुष्य में आत्म नियन्त्रण की शक्ति अपने आप आ जाती है और उसमें सहजबुद्धि का उदय हो जाता है। फिर अपमान की भावना का रहना असंभव हो जाता है।

दूसरे लोगों के विचारों का भय

आज से एक महीना पूर्व लेखक के पास एक नव युवक आया। इसका शरीर स्वस्थ, उमर २० वर्ष और बोलचाल में प्रवीण था। यह बी० ए० की आखिरी कक्षा में पढ़ता था। इसने पहले लेखक की मानसिक चिकित्सा नामक पुस्तक पढ़ी थी। वह स्वयं इसे पढ़ने की बात कहता था। संभव है कि उसने पुस्तक को देखी मात्र हो। यह व्यक्ति प्रतिभाशाली दिखाई देता था। उसने पहली कक्षायें प्रथम श्रेणी में ही पास की थी। यह अविवाहित है और आकर्षक है। युवतियों से बातचीत करने में झिझक होती है। उसके कथनानुसार युवतियां उससे बातचीत करना चाहती है, पर वह उनसे बातचीत नहीं कर पाता। न वह उनकी ओर देख सकता है। उसका विचार अभी तीन चार साल तक विवाह नहीं करने का है।

रोगी के कथनानुसार उसका रोग चित्त एकाग्रता की कमी और अशान्ति का होना है। जिस दिन वह आया था उस दिन उसके आते समय १२ बजे थे। उसका कथन था कि मैं सवेरे से पढ़ने बैठा हूँ, पर अभी तक एक पृष्ठ भी अपनी पुस्तक का नहीं पढ़ सका। अधिक तक मेरे मन में विचार आता है कि जो विषय मैने बी० ए में पढ़ने के लिए चुना है वह ठीक नहीं है। पर अब दो साल बीत चुके मैं उसे छोड़ भी नहीं सकता। उसके पढ़ने में मेरा मन नहीं लगता।

उसने आगे चलकर बताया कि मैं बहुत ही भावुक हूं। यदि कोई कुछ बात कहदे तो मुझे भारी आत्म-भर्त्सना होने लगती है। अभी

मैं एक दार्शनिक के पास गया था। उनसे मैंने अपनी अशान्ति की बातचीत की। मैं उनसे जब बातचीत करता था तो बीच बीच में अशान्ति की बात कह बैठता था। दो तीन बार अशान्ति शब्द सुनकर उन्होंने मुझे झिड़क दिया। उन्होंने कहा—' क्या बार बार अशान्ति अशान्ति कहा करते हो"। मैं इससे और भी उद्विग्न मन हो गया हूँ। मुझे आत्म-भर्त्सना होती है कि मैं कितना नालायक हूँ कि इस महान व्यक्ति ने मुझे झिड़का।

इस व्यक्ति से बातचीत करने तथा दूसरे लोगों से बातचीत करने से पता चला कि वह विद्यार्थी समाज का नेता है। उसने विद्यार्थियों की कांग्रेस सरकार के विरुद्ध हड़ताल में भाग लिया, पर पीछे अपने पद को छोड़कर हड़ताल के विरुद्ध प्रचार करने लगा। इसके कारण विद्यार्थी लोग उससे असन्तुष्ट हो गये थे और उसे "अवसरवादी" कहने लगे थे।

आगे और खोज से पता चला कि इसकी अपने एक घनिष्ट मित्र से लड़ाई हो गई। यह मित्र उसके कमरे के पीछे ही रहता है। कमरे में एक दूसरे के पास आने जाने का रास्ता है। दूसरा व्यक्ति इस बहुत ही प्यार करता है, पर उसे इसके कुमार्ग पर चलने का भय है। मित्र के द्वारा ज्ञात हुआ कि इसे शराब पीने की आदत लग गई थी। शराब पीने की आदत की आत्म स्वीकृति दूसरे बार आने पर स्वयं रोगी ने भी की। एक साल पूर्व वह प्रति दिन शराब पिया करता था। शराब पीकर ही यह पढ़ने बैठता था। मित्र जो उससे उमर में दो साल बड़ा है इससे दुःखी होता था। उसने एक बार इसकी शराब की भरी बोतल भी तोड़ डाली और इसकी शराबखोरी की आदत का पता इसके पिता को भी दे दिया। इससे दोनों व्यक्तियों में बड़ा मनोमालिन्य हुआ। रोगी ने अपने मित्र को पीटा भी। पर तिसपर भी मित्रता नहीं छूटी। उसका मित्र उसके साथ बड़े भाई जैसा व्यवहार करता रहा। मित्र को रोगी की पढ़ाई लिखाई के विषय में चिन्ता रहती थी। वह चाहता था कि

रोगी इधर उधर न घूमें। मित्र स्वयं कम लोगों की संगत करता था। मित्र इसकी भारी सेवा करता रहता था। रोगी का कथन था कि जिस प्रकार उसकी माँ उसके खाने-पीने, सोने, आने जाने की परवाह करती थी उसी प्रकार उसका मित्र भी उसकी परवाह करता था।

रोगी जिस समय पहले दिन अपनी गाथा कह रहा था उसी समय एक पुराना इसका रोगी जो उक्त विद्वान दार्शनिक का नाती था आया। रोगी के समक्ष उससे कुछ बातचीत हुई। बात बात में इसने कह दिया कि मैं दूसरे लोगों की मेरे विषय में धारणा की परवाह नहीं करता। लेखक को रोगी से यह कहने का अवसर मिला कि दार्शनिक अपने विषय का विशेषज्ञ होता है, वह मानसिक रोग का विशेषज्ञ नहीं होता। वह मानसिक कारणों से उत्पन्न अशान्ति को दूर नहीं कर सकता। यदि उसमें इस कार्य की क्षमता होती तो वह अपने घर के लोगों को ही पहले ठीक कर लेता। अतएव उसकी झिड़क तुम्हारे किये महत्वहीन है।

रोगी को सब लोगों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने का आदेश दिया। अपने आस-पास के लोगों की कुछ सेवा करने का तथा उनसे प्रेमपूर्वक बातचीत करने का आदेश दिया गया। उसने कहा कि लोग मेरे कामों का गलत अर्थ अवश्य लगावेंगे। मैंने उससे कहा कि इसकी परवाह मत करो, जो व्यक्ति दूसरों की भलाई सदा करते रहते हैं, उसका आदर एक न एक दिन होता ही है। उसके विषय में भ्रम दूर हो जाता है। हमें अपने कामों के नजदीक के परिणामों को नहीं वरन् दूर के परिणामों को देखना चाहिये।

यह रोगी तीन चार बार लेखक से मिला। इसी बीच उसका मित्र भी लेखक से मिला। रोगी को भय हो गया कि उसके मित्र ने सभी गुप्त बातें लेखक को बता दी होंगी। अतएव अब वह लेखक का वैसा प्रेमपात्र नहीं बना रहेगा जैसा पहले था। इसके

कारण उसने अपने मित्र को बहुत कुछ कहा सुना। पर मित्र ने उसकी कोई बुराई नहीं की थी। मित्र अपनी ही बीमारी लेकर आया था। उसका मन पढ़ने में नहीं लगता था। उसे भी दूसरे लोगों की उसके विषय में राय की परवाह होने लगी थी। दूसरे वह अपने मित्र के आचरण के विषय में भी व्यग्र था लेखक ने पहले रोगी से अपने मित्र के प्रेम को चर्चा की। इससे रोगी के पुराने संस्कार जाग्रत हो गये और उसने मित्र की भारी तारीफ की। उसने इसी समय अपनी अनेक कमजोरियाँ स्वीकार कीं। इससे उसके मन का भार उतर गया।

लेखक ने पहले दिन रोगी को कुछ फल खिलाये। दूसरे दिन वह स्वयं उसके कमरे में गया और उनके साथ भोजन किया। तीसरे बार उसको उसके मित्र के हाथ फल भेजे। चौथे बार उसके कमरे तक फिर गया। इस समय वह सो रहा था। फिर उसे अपनी एक पुस्तक-समाज विकास उपहार रूप भेजी। वह जब आया उससे प्रेमपूर्वक दो एक घण्टे बातचीत की। उसके मित्र की तारीफ की।

रोगी से एक आसन पर बैठकर सभी प्रकार के विचारों को मन में लाने का अभ्यास करने को कहा गया। उससे बताया गया कि जिस विचार को हम दबाते हैं वह बार बार आता है। दबाने से विचार प्रबल हो जाता है। कभी कभी एकान्त में बैठ कर अपने विचारों को चेतना पर आकर प्रकाशित होने का अवसर देना चाहिये। उसे शराब खोरी छोड़ने का भी आदेश दिया। उससे कहा गया कि इससे मानसिक कमजोरी आ जाती है। उसे यदि काम वासना अधिक सताती है तो उसे विवाह कर डालना चाहिये।

उक्त उपचार के परिणाम स्वरूप रोगी का मन पढ़ने में लगने लगा। उसकी दूसरों के विचारों के बारे में परेशानी जाती रही। उसका अपने मित्र के प्रति वास्तविक प्रेम बढ़गया। उसने दूसरों के दोषों को क्षमा करना सीखा। यहाँतक एक व्यक्ति ने जब उसके प्रति

कटु भाषण किया तो उसने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इससे उसके मन में प्रसन्नता आ गई।

रोगी की शराब खोरी की आदत और उसका अभिमान उसकी बीमारी का कारण था। उसकी अन्तरात्मा उसे अपने दोषों के लिये कोसा करती थी। वह अपनी अन्तरात्मा को सन्तुष्ट करने के बदले दूसरे लोगों को अपने आचरण से सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता था। पर उसका मन अशान्त रहता था। इसके कारण वह एक ओर समाज की ओर आकर्षित होता था और दूसरी ओर समाज के लोगों को अपने आचरण से संतुष्ट भी नहीं करता था। वह अपने आचरण में अनायास ऐसी भूल कर बैठता था जिससे दूसरे लोग उसकी निंदा करें। पर वास्तव में यह अपने आप को धोखा देने की मनोवृत्ति और उसके कारण अन्तरात्मा के असंतोष का परिणाम मात्र था। दूसरे के विचारों की चिन्ता आरोपण मात्र है। जब हमारा भीतरी मन हमारे आचरण से संतुष्ट नहीं रहता तो हम दूसरे लोगों की आलोचना से परेशान होते हैं, जब हमारा भीतरी मन आचरण से संतुष्ट हो जाता है तो हम या तो सभी लोगों को अपने प्रति अनुकूल काम करते हुए पाते हैं अथवा हमें उनकी राय की परवाह नहीं होती।

रोगी पहले अपने आप को लेखक के समक्ष खोलना नहीं चाहता था। जब तक उसने अपने कुछ दोषों को स्वीकार नहीं किया उसे शान्ति नहीं आई। जब उसने अपनी शराब खोरी की आदत के विषय में और काम वासना के प्रबल होने के विषय में चर्चा की तो उसकी आत्म यंत्रणा कम हो गई।

अपने मित्र की तारीफ सुनने और अपने मुँह से उसकी तारीफ करने से उसके आन्तरिक मन में परिवर्तन हो गया। लेखक से मिलने के पश्चात् दोनों मित्रों में सद्भाव बढ़ गया। उस के मित्र को भी परेशानी थी कि रोगी उसके प्रति दुर्भाव रखता है। इसके कारण अन्तर रोज बढ़ता जाता था। जब मित्र के विचार बदले गये तो इससे रोगी को भी लाभ हुआ। वातावरण का प्रभाव मानसिक रोग को बढ़ा-

ने और घटाने में भारी काम करता है। यदि किसी रोगी के आस पास का वातावरण अनुकूल बना दिया जाय तो रोगी को अवश्य लाभ होता है। इस रोगी के मानसिक रोग की छूत उसके मित्र को भी लग गई थी। उसका मन भी पढ़ाई से हटने लगा था और वह भी दूसरे लोगों के उसके सम्बन्ध में विचार के बारे में परेशान था। पर उसे किसी प्रकार की कुटेव नहीं थी। उसे साधना करने का पूर्वाभ्यास था। उसे अपने मित्र के विषय में अनेक प्रकार का भ्रम हो गया था। जब उसका भ्रम दूर कर दिया गया और उसे अपने काम में लगाने का प्रयत्न किया गया तथा उससे मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया तो इसके परिणाम स्वरूप पहले रोगी के मन में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया।

रोगी के प्रति चिकित्सक का मैत्री भावना का प्रदर्शन करना रोग से उसे मुक्त करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये ही इस रोगी को पर्याप्त समय दिया गया और समय समय पर उसे फल, पुस्तक आदि वस्तुयें भेजी गई। उसके रहने के कमरे तक भी अपने आप ही लेखक इस लिये गया जिसे उसे विश्वास हो गया कि यदि उसे कुछ व्यक्ति बुरा समझते हैं तो कुछ भला भी समझते हैं। रोगी का नैतिक बातों के विषय में आत्म-विश्वास कम हो जाता है। उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन करके हम उसके आत्म-विश्वास को बढ़ाते है। रोगी अपने मन की बाते एका एक खुलकर नहीं बताता। इसके लिये उससे कई बार मिलना पड़ता है। उसे प्रोत्साहन दिया जाता है कि उसका रोग एक सधारण रोग है। ऐसे रोग दूसरे लोगों को भी होते हैं। कुछ ऐसे रोगियों की भी चर्चा करनी पड़ती है जो बड़े बड़े भयानक रोगों से ही सरलता से मुक्त हो गये हैं। पहले दिन जब रोगी आया था उस दिन ही एक पुराना रोगी जो इस समय स्वस्थ था आया, उसके वृतांत को सुनने से भी इसका आत्म-विश्वास बढ़ा।

रोगी के समक्ष ऐसी कोई चर्चा न करना चाहिये जिससे उसका आत्म-विश्वास घटे। अन्त में रोगी को चिकित्सक आरोग्य प्रदान

नहीं करता, उसका आत्मा ही उसे आरोग्य प्रदान करता है। आत्म-विश्वास की वृद्धि से और आत्म-प्रसाद के उत्पन्न होने से ही मनुष्य आरोग्य लाभ करता है।

रोगी को आरोग्य-प्रदान करने के लिये उसके विषय में शुभ चिन्तन करना और समय समय पर उसे शुभ निर्देश भेजना आवश्यक है। शुभ चिन्तन से रोगी के मन में सद्विचार उत्पन्न होने लगते हैं। जैसा दूसरे लोग हमारे विषय में सोचते हैं वैसा हम भी अपने विषय में सोचने लगते हैं। हमारा मन समष्टि मन का एक अंगमात्र है। दूसर के प्रतिकूल आचरण करके और उनको अपने आप से रुष्ट करने से मनुष्य आध्यात्मिक शान्ति खो देता है। जब दूसरे लोग उसके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रगट करते हैं तब वह इस खोई शान्ति को प्राप्ति करता है। स्वस्थ मनुष्य का सम्पर्क और उसके विचार इस शान्ति की प्राप्ति में लाभदायक होते हैं। यदि हम रोगी के प्रति और कुछ न कर सकें और उसे आरोग्य के विचार ही भेजें तो उसे पर्याप्त लाभ हो।

तेरहवाँ प्रकरण

भाग्यवादिता

भाग्यवादिता भी एक प्रकार का मानसिक रोग है। यह रोग अनेक प्रकार के दूसरे रोगों की उत्पत्ति करता है। जिस व्यक्ति को हाथ दिखाने अथवा देखने में, कुंडलियों को दिखाने अथवा देखने में अधिक विश्वास होता है उस में अपने आपको कोसने की मनोवृत्ति पायी जाती है। यह आत्म भर्त्सना की मनोवृत्ति भाग्य को कोसने में प्रकाशित होती है। ऐसे लोग अपने रोग का दूसरे लोगों में भी प्रचार करते रहते हैं। वे दूसरे लोगों को अपने भाग्य के विषय में अनेक बातें बिना उनके पूछे ही बताते रहते हैं। उनका विश्वास रहता है कि वे जो कुछ कहते हैं वह सब ठीक ही है।

हाल में ही लेखक को एक व्यक्ति मिला। वह उसके मित्र के घर बैठा था। यह मित्र एक उदार मनोवृतिका व्यक्ति है। उससे लेखक ने कहा कि जीवन में तुम्हारी सफलता और धन प्राप्त करने-की कारण तुम्हारी स्त्री है। इस मित्र ने अपने सिद्धन्तों के अनुसार एक विधवा से विवाह किया था। इसके कारण उसके प्रति उसके सम्बन्धियों के मन में भली धारणा हो गयी। एक लखपती सम्बन्धी ने उसे बहुत सा धन दिया और अब वह सफल व्यापरी बन गया है। इस मित्रके मन में अपनी स्त्री के प्रति सद्भावना बढ़ाने के लिए ही लेखक ने उससे उक्त बात कही। परन्तु उस व्यक्ति को, जो वहां बैठा था, अच्छा न लगा क किसीकी तारीफ की जाय अथवा दूसरे व्यक्ति के प्रति कुछ श्रद्धा का भाव किसी के मन में आये। उसने लेखक के बिना कहे ही उसका भाग्य बताना प्रारम्भ कर दिया। उससे कोई भाग्य की बात पूछ भी नहीं रहा था, पर अपनी धाक जमाने के भावने उसे बाध्य

किया कि वह जबरदस्ती लेखक के भाग्य के बारे में कहे। ऐसे लोग स्वयं पण्डित बने रहते हैं। वे दूसरों को बात सुनते ही नहीं, अपनी ही चर्चा करते रहते हैं और दूसरों को अपना शिष्य बना डालने की चेष्टा करते रहते हैं। इस समय उसकी उमर चालीस सालकी है पर अभी तक शादी नहीं की है इस समय उसका भाग्यवाद उसे परेशान नहीं करता, पर किसी समय भी वह उसका शत्रु बन जा सकता है। उसकी नैतिक धारणाएं बहुत बढ़ी चढ़ी हैं और उदारता के विचारों का अभाव पाया जाता है।

भविष्यवाणी का दुष्परिणाम

भाग्यवादी लोग दूसरे लोगों का कितना अहित कर डालते हैं यह यह एक नवयुवक के कथन से लेखक- को हाल में ही ज्ञात हुआ। इस युवक के पिता को ज्योतिषी लोगों ने कह दिया कि उसकी मृत्यु छब्बीस वर्षकी अवस्था में हो जाने की सम्भावना है। इस समय इस युवक की आयु बाइस वर्ष की ही है। मृत्यु हो जाने के भय के कारण इस युवक- का विवाह नहीं किया गया। लेखक ने कहा कि यह मृत्यु का विचार ही आत्म निर्देश बनकर उसकी मृत्युका कारण बन जायगा। जब घर के लोगों में विश्वास हो जाता है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु किसी विशेष समय हो जायगी तो वे उसके विषय में चिन्ता करने लगते हैं। फिर यह वातावरण और ये विचार अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी निर्देश पाने वाले व्यक्ति को प्रभावित करते हैं और जिस बात से वह बचना चाहता है वही उसके जीवन में घटित हो जाती है। इस प्रकार बहुत से ज्योतिषी कितने ही नवयुवकों को समय के पूर्व ही मार डालते हैं।

जब मनुष्य के मन में ज्योतिष के विषय में श्रद्धा हो जाय तो समझना चाहिये कि अब उसमें निकम्मा पन आ रहा है। मनकी कमजोर अवस्था में ही मनुष्य अपने आप पर विश्वास न कर किसी बाहरी सत्ताकी कृपा में विश्वास करने लगता है। यह विश्वास और भी मानसिक कमजोरी ले आता है। कमजोर मन के लोगों को बुरे

विचार सरलता से पकड़ लेते हैं। उन्हें जितना भविष्य में अपना भला होने पर विश्वास नहीं होता उतना अपने अकल्याण में विश्वास होता है। यदि दस बात ज्योतिषी भली कहे तो वे उसके मन को इतना प्रभावित नहीं करेंगी जितना कि एक ही अशुभ-सूचक बात प्रभावित करेगी। ज्योतिषी अपना बुरा प्रभाव अपना भाग्य दिखाने वाले व्यक्ति के मन में डाल देते हैं।

कितने ही लोगों का भविष्य ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के कारण कुछ का कुछ हो जाता है। पृष्ठ १०२ पर दी हुई गृह त्यागी युवक को आत्मकथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब वह व्यक्ति किशोरावस्था में आया तभी उसके पिता को उसके विवाह के विषय में चिन्ता हो गयी। इसी बीच इस व्यक्ति को कोई आत्मग्लानि जनक काम चेष्टा का अनुभव हुआ। इस के कारण उसकी कामवासना का सामयिक दमन हो गया। इधर पिता को लड़के के विवाह की चिन्ता लगी हुई थी। इस समय यह व्यक्ति सभी प्रकार की काम-चेष्टाओं और प्रेम व्यवहार को घृणा की दृष्टि से देखने लगा था। लड़के को चिन्तित अवस्था में देखकर पिता ने उसका मन प्रेम सम्बन्ध की ओर मोड़ने के लिए एक सुन्दर कन्या को अपने घर पर ही रख लिया; पर इस कन्या के प्रति उस व्यक्ति का कोई प्रेम न हुआ। पिता का प्रेम का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न प्रति निर्देश बन कर विपरीत भावना को प्रबल करने लगा। फिर जब विवाह का समय आया तो उसने विवाह से भी बचने की चेष्टा की और जब उसकी इच्छा प्रतिकूल ही उस व्यक्ति का विवाह कर दिया गया तो वह थोड़े ही काल में विवाहित जीवन से घबड़ा कर घर त्याग कर संन्यासी हो गया; पर उसको काम-वासना दलित अवस्था में रह जाने के कारण अब उसे परेशान कर रही है।

भगवान् बुद्ध के जीवन में भी यही घटना घटित हुई। जब एक वर्ष की अवस्था के ही भगवान् बुद्ध थे तभी एक साधु ने कहा कि यह बालक गृह त्यागी बन जायगा। इसके कारण उनके पिता चिन्तित

रहने लगे। जब बालक किशोरावस्था का हुआ तो पिता ने चेष्टा की कि किसी प्रकार बालक के मन में संसार के प्रति वैराग्य के भाव उत्पन्न न हो जायं। अतएव उसे सभी प्रकार की दुःख की स्थिति से दूर रखा और सब प्रकार के भोगों को उपस्थित करने की चेष्टा की। पर यही चेष्टाएं बालक के मन में प्रति निर्देश बन गयीं और जिस प्रकार की घटना का भय पिता के मन में था उसी प्रकार की घटना उसके जीवन में घटित हो गयी। कोई भी प्रबल विचार जब वातावरण का विचार बन जाता है तो वह मनुष्य को अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही किसी विशेष दिशा में ले जाता है। भय के विचार आशा के विचारों से अधिक प्रबल होते हैं अतएव भय जनक घटनाएं अधिक निश्चित रूप से घटित होती हैं। संसार के साधारण लोगों के मन निर्बल रहते हैं अतएव उन्हें अपने कल्याण में इतना विश्वास नहीं रहता जितना अकल्याण में विश्वास हो जाता है। इस मानसिक दशा का प्रवेश दूसरे लोगों के मन में संक्रामक रोग की तरह हो जाता है, फिर जिस व्यक्ति के विषय में यह विचार होता है उसके मन को वह किसी विशेष ओर उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही मोड़ देता है।

लेखक ने एक दूसरे मानसिक रोगी के रोग की चर्चा सुनी। उसे सिरका दर्द है। वह भाग्यवादी है और अपने आप को बड़ा अभागा मानता है। उसको विश्वास हो गया था कि वह जिस व्यक्ति को प्यार करेगा वह मर जायगा। उसका प्रेम एक महिला से हो गया था वह मर गयीं। फिर एक दो जगह और हुआ वे भी मर गयीं। उसे हस्त रेखा देखने का शौक है। वह अपने आप को इस में बड़ा कुशल मानता है। उसका कथन है कि कितने ही लोगों के विषय में उसने भविष्यवाणी की और उनकी मृत्यु भी हो गयी। इस प्रकार वह अपनी दूषित भावनाओं का प्रचार करता रहता है। उसका स्वभाव हठीला है। उसको अपने विचारों से मोड़ना संभव नहीं। उसका मानसिक रोग और सिरका दर्द ही उसके मानसिक विकार को निकालने का सर्वोत्तम उपाय है। ऐसे लोगों में दूसरों की सलाह ग्रहण करने की

मनोवृत्ति ही नहीं रहती। वे अपने आप में किसी विशेष प्रकार की सूझको पाते हैं और सोचते हैं कि दूसरे लोगों को यह सूझ प्राप्त नहीं है अतएव वे उनके विचारों का औचित्य नहीं समझ सकते। जब किसी मनुष्य को अपने विचारों को इस प्रकार गर्व हो जाता है तो उसका किसी प्रकार का उपचार होना सम्भव नहीं। उसको मानसिक व्यथाका उचित उपचार रोग ही है। यह प्राकृतिक दण्ड मनुष्य को अपने मिथ्या दृष्टिकोण के कारण मिलता है। जब उसका दृष्टिकोण बदल जाता है तो उसके प्राकृतिक दण्ड अथवा रोग का भी अन्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने और दूसरों के प्रति उदार हो जाता है। सिर दर्द पर आगे के प्रकरण में विस्तार पूर्वक विचार किया जायगा।

जिस व्यक्ति को शकुन-अपशकुन का विचार, हस्तरेखा, कुण्डली दिखाने का विचार प्रबल होता है उसका किसी प्रकार का कल्याण होना कठिन होता है। इस प्रकार के विचार मनुष्य के आत्म-विश्वास को नष्ट कर देते हैं। वे उसमें स्वावलम्बन-का भाव न लाकर परावलम्बनका भाव ले आते हैं। यह परावलम्बन मनुष्य को विनाश की ओर ले जाता है। भाग्यवादिता मनुष्यके स्वार्थीपन का परिणाम है। यह अपने ही विषय में चिन्तित बनाती है। जो मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता है उसके मन में अपने विषय में उतनी ही अधिक चिन्ता रहती है। यह चिन्ता ही उसके मन में निराशावादी विचारों की वृद्धि कर देती है और फिर मनुष्य भाग्यवादी बन जाता है। ऐसा मनुष्य न अपनी स्थिति सुधारने का पूरे मन से प्रयत्न करता है और न दूसरे की स्थिति सुधार ने में उसका विश्वास होता है। वह दूसरों का कल्याण कर सकने के विषय में वैसा ही निराशावादी होता है जैसा वह अपना कल्याण कर सकने के विषय में होता है। मानसिक और और शारीरिक रोगों का होना और संसार में अनेक प्रकार के कष्ट पाना इस प्रकार की मनोवृत्तिका सहज परिणाम है।

भाग्यवादी व्यक्ति से बहस करना व्यर्थ है। वह युक्तियों पर निर्भर नहीं होता अतएव यहां तार्किक विचार व्यर्थ होता है। उससे जितनी

ही अधिक बहस की जाती है उसके भाग्वादी विचार उतने ही प्रबल हो जाते हैं। मनुष्य को किसी प्रकार का कष्ट उसके विचारों के कारण ही होता है। ये विचार उसके पुराने अभ्यास के परिणाम-स्वरूप होते हैं। जब तक किसी मनुष्य की मानसिक ग्रन्थि नष्ट नहीं होती उसकी भाग्यवादिता भी नहीं जाती। यह ग्रन्थि प्रायः कामवासना के दमनके साथ साथ पायी जाती है। जो व्यक्ति अपनी रचनात्मक शक्ति का दमन करता रहता है और उसका सदुपयोग न करके उसे शत्रु के रूप में मानता है उसको अनेक प्रकार का कष्ट सहना स्वाभाविक है। अतएव भाग्यवादी व्यक्ति से बातचीत करते समय उसके विचारों को बिना विरोध किये और उन पर बिना श्रद्धा दिखाये प्रकाशित होने देना चाहिये। सम्भव है, इससे उस के मानसिक विकार का रेचन हो और फिर उसकी स्थिति में कुछ सुधार हो। पर सच्चा सुधार तो भीतरी और बाहरी मनमें एकत्व स्थापन से ही होता है। यह तभी होता है जब व्यक्ति अपने अभिमान को कम करता है अर्थात् जब रोगों के परिणाम स्वरूप वह अपनी भूल को स्वीकार करने के लिये तैयार हो जाता है।

भाग्यवादिता भारतवर्ष का व्यापक रोग है। जब तक इस देशको भाग्यवादिता के विचारों से मुक्त नहीं किया जाता इसकी उन्नति होना सम्भव नहीं। कलियुग के विचार भाग्यवादिता के परिणाम हैं। जब राष्ट्र में एक बार विलासिता बढ़ जाती है और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आत्मभर्त्सना के भावकी उत्पत्ति और भोगवासना का दमन होता है तो राष्ट्र में भाग्यवादिता आ जाती है। यह मनुष्य को अपने कर्तव्य से विमुख करती और कर्तव्य हीनता से उत्पन्न होने वाली आत्म यन्त्रणा को भुला देती है। इस प्रकार भाग्यवादिता से मनुष्य मिथ्या आत्मसन्तोष प्राप्त करता है। इसका अन्त अनेक प्रकार के कष्टों से ही होता है। गलत दृष्टिकोण को परिवर्तित करने का प्राकृतिक उपाय दण्ड है और आध्यात्मिक उपाय सत्संग।

चौदहवाँ प्रकरण

सिर की पीड़ा

सिर की पीड़ा के अनेक शारीरिक और मानसिक कारण होते हैं। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है । जब मनुष्य को लगातार सिर का दर्द हो तो इसे किसी मानसिक विकार की उपस्थिति का सूचक जानना चहिए। सिर का दर्द मस्तितष्क में उपस्थित गलत विचारों का प्रतीक है। मास्तिष्क उन विचारों को निकाल कर फेंक देना चाहता है। मस्तिष्क रोग से पीड़ित व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण गलत होता है । जब तक वह इस दृष्टि कोण को परिवर्तित नहीं करता तब तक उसकी मस्तिष्क की पीड़ा नहीं जाती । मस्तिष्क का रोग मानो उसे बाधा बना कर उसकी दूषित धारणाओं को मष्तिष्क से निकालना चाहता है ।

मानसिक विकार किसी प्रबल इच्छा के दमन से उत्पन्न होता है। जब मनुष्य अपने जीवन में किसी प्रकार का अतिक्रम कर देता है तो उसे उस अतिक्रम के परिणाम स्वरूप आत्म-भर्त्सना होने लगती है इस समय उसको नैतिक धारणा प्रबल हो जाती है और उसे खूब कोसने लगती है। जब तक भोग-वासना में बल रहता है तबतक नैतिकता का नियंत्रण कठिन नहीं होता। ऐसी अवस्था में भोगवासना इसकी अवहेलना करके तृप्त होने की चेष्टा करती है। पर जब वह एक बार अपनी तृप्ति में अतिक्रम करती है तो उसका बल कम हो जाता है। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य को नैतिक बुद्धि उसे भर्त्सना करने लगती है। विषय-भोग के अतिक्रम के पश्चात् प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति को भर्त्सना होती है । वह उसकी व्यर्थता देखता है । यदि यह भोग अनैतिक हुआ तो उसकी मानसिक वेदना और भी अधिक हो जाती

जब काम वासना का दमन होता है तो मनुष्य के विचार विशेष प्रकार के हो जाते हैं। काम वासना का दमन मनुष्य के मन में नकारात्मक विचारों की वृद्धि करता है उसके मन में सदा ऐसे विचार आते हैं जिससे वह किसी रचनात्मक काम में न लगे। किसी रचनात्मक काम में लगना मानसिक शक्ति का शोध है पर यह शोध उसकी दमन की अवस्था में नहीं होता। इसके लिये मानसिक ग्रन्थि का निराकरण करना और शक्ति को उसकी दबी अवस्था से मुक्त करना आवश्यक है इसके लिये अपने आपको पहचानना और अपनी भोगेच्छा को स्वीकार करना भी आवश्यक होता है। जब मनुष्य की भोगेच्छा उसके प्रकाशन का उचित मार्ग नहीं पाती तो वह प्रोगामी न बनकर प्रतिगामी बन जाती है। प्रतिगामी भोगेच्छा के व्यक्ति के ही विचार काले और निकम्मापन बढ़ाने वाले होते हैं। ऐसे ही लोग ज्योतिष, सगुन-असगुन हस्तरेखा के अर्थ आदि किसी युक्ति-असंगत वस्तु में विश्वास करने लगते हैं। उनका इस प्रकार का विश्वास उनके समस्त जीवन में विवेक के अभाव का प्रतीक होता है ऐसे लोगों की किसी भी प्रकार की धारणा को बदलना कठिन होता है।

मनुष्य के चेतन मन के विचारों का स्रोत उसके अचेतन मन में रहता है। जबतक किसी मनुष्य के मन में किसी विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि है उसके विचार सदा एकाङ्गी ही रहेंगे। उसके विचारों को सुधारने के लिये उससे बहस करना अपनी मूर्खता प्रदर्शित करता है। इससे रोगी को क्षति ही होती है और अपनी शक्ति का भी अपव्यय होता है। जब तक मनुष्य के मन में विशेष प्रकार का मानसिक विचार है, तब तक उसके चेतन मन के विचारों को स्वस्थ बनाना संभव नहीं। उसके विचार अविवेक पूर्ण रहना ही स्वाभाविक है। जो व्यक्ति उससे इन विचारों के विरुद्ध बात कहता है, वह उसे मूर्ख समझता है। यदि सामान्य युक्तियों से वह उनकी उचितता को सिद्ध नहीं कर सकता तो वह सोचता है कि मनुष्य की बुद्धि

होती है उसका चित्र यहां दिया हुआ है। गरम विलयनावशेष 'ख' नली द्वारा मीनार 'क' मे प्रवेश कराया जाता है। यह मीनार मिट्टी के गेंदो से भरा रहता है। इन गेंदो पर होकर विलयन धीरे धीरे नीचे की ओर गिरता है। मीनार के पेंदे मे पहुचने पर 'ग' नली द्वारा यह 'घ' चहबच्चे मे आता है। वहां ऐसा प्रबन्ध रहता है कि यह विलयन बाण से बताए हुए मार्ग से होकर बहता है। इस चहबच्चे से विलयन के

चित्र ३९
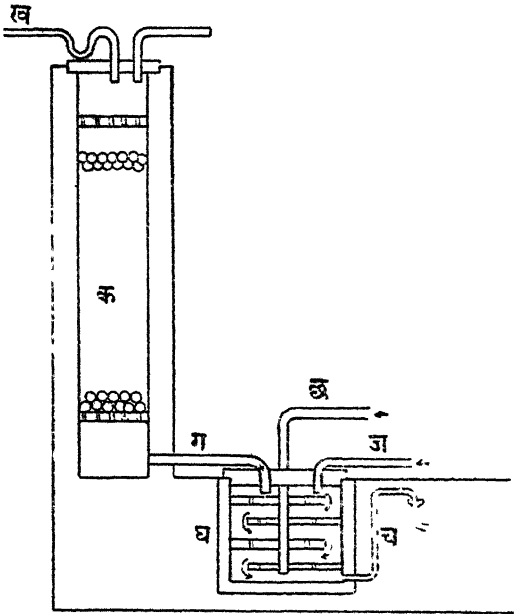
निकलने का मार्ग 'च' इतना ऊंचा होता है कि चहबच्चा बराबर विलयन से भरा ही रहता है। इस चहबच्चे का विलयन वाष्प के द्वारा, 'छ' मार्ग से आकर, प्राय. उसके क्वथनाङ्क पर गरम किया जाता है। एक दूसरी नली 'ज' द्वारा भपके से क्लोरीन को चहबच्चे मे प्रवेश कराया जाता है। यहां से यह 'ग' नली द्वारा मीनार मे प्रवेश करता है और वहां विलयन की प्रतिकूल दिशा मे भ्रमण करता है। ऐसा भ्रमण करते हुए यह विलयन के संसर्ग मे आने से मैगनीसियम ब्रोमाइड को विच्छेदित कर ब्रोमीन मुक्त करता है। ब्रोमीन का यह वाष्प ऊपर की दूसरी नली द्वारा मीनार से निकलकर एक सर्पिल शीतक मे प्रवेश करता है जहां द्रवीभूत होकर द्रव ब्रोमीन मे परिणत हो

कि मनुष्य अपना गलत दृष्टिकोण नहीं सुधारता। पर इसके लिये अपनी दूसरे प्रकार की हठ को भी छोड़ना आवश्यक है। उसे अपनी नैतिक धारणा की एकाङ्गिता को छोड़ना पड़ता है और अवरुद्ध वासना को प्रकाशन के लिये अवसर देना पड़ता है। सिर का दर्द यह सभी कुछ कराता है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता लेखक के अनुभव में आये कुछ सिर के दर्द वाले मानसिक रोगियों के विचारों और व्यवहारों से प्रमाणित होती है। इनमें से उपर्युक्त गृहत्यागी युवक का उदाहरण उल्लेखनीय है। इस समय यह गृहस्थी को छोड़कर सन्यासी हो गया है। उसे ज्योतिष में अब भी बड़ा ही विश्वास हैं। उसने अपने दार्शनिक विचारों को भी ज्योतिष केऊपर ही आधारित कर रखा है। उसने एक बड़े ज्योतिषी से अपने भविष्य के बारे में पूछा और उसके कथन को बहुत कुछ सत्य पाया उसका कथन है कि पंजाब के किसी ज्योतिषी ने हिटलर और चांग कोई शेख के पतन की भी भविष्य वाणी कर दी थी। अतएव वह ज्योतिष को अकाट्य समझता है। वह अपने मानसिक रोग को भी भाग्य द्वारा दी हुई वस्तु मानता है और कब इसका अन्त होगा इसके लिए भी ज्योतिष की खोज कर रहा है। यह व्यक्ति बड़ा विद्वान है। उसने पूर्व और पाश्चात्य दर्शनों का अध्ययन भी किया है और सभी दार्शनिक विचारों को समालोचना की है अतएव इसके लिये किसी व्यक्ति की सलाह को मानकर अपने विचारों में परिवर्तन करना असंभव सा है। यदि उसकी भाग्यवादिता की ग्रन्थि को छुआ जाय तो उसका विरोध तुरंत प्रकट हो जायगा। अतएव इससे सावधानी से से ही पत्र व्यवहार करना पड़ता है। उसके मत से सहमत होने से उसके विश्वास दृढ़ होने की संभावना है। इससे उसका रोग और भी बढ़ेगा और उसके मत का विरोध करने से प्रति—निर्देश की भावना जाग्रत होने की भी संभावना है। इससे वह अपने विचार में पक्का हो जायगा और फिर उसका उपचार करना असंभव हो जायगा।

इस रोगी को दो और रोग हैं जो उसके मानसिक विकार के

प्रतीक है पहले तो उसकी दृष्टि बाध्य होकर सदा स्त्री अथवा पुरुषों के गुप्त अंगों पर जाती है और इससे उसे मुख विवर्णता का रोग हो गया है। उसे अपनी इस चेष्टा का ज्ञान होता रहता है अतएव उसे भारी आत्मभर्त्सना होती है। वह इस प्रसंग में अपने पत्र में निम्नलिखित बातें लिखता है -

"यदि मुझसे मिलने कोई व्यक्ति आ जाय और विशेष रू से यदि वह मेरी प्रशंसा सुनकर आया हो तो मेरे मन में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। सहानुभूति या आत्मीयता की भावना अधिक होने के कारण नेत्र नीचे झुक जाते हैं। अपने अन्दर बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करने की भावना रहने के कारण, जबर्दस्ती वार्तालाप करना पड़ता है, जिससे मुख विवर्ण हो जाता है मेरे अन्दर वार्तालाप की अपने नवीन विचारों द्वारा दूसरे को प्रभावित करने की अथवा यश व प्रतिष्ठा प्राप्त करने की अभिलाषा अवश्य रहती है। नहीं तो इस प्रकार संकुचित नेत्र और विवर्ण मुख को लेकर भी वार्तालाप में मैं प्रवृत्त न होता। परंतु दूसरे देखने वाले को यही प्रतीत होता है कि तीव्र वैराग्य अथवा उदासीनता के कारण ही मुख विवर्ण हो गया है।"

आगे चलकर यह रोगी लिखता है—इस प्रकार ज्यों ज्यों बलपूर्वक वार्तालाप करता रहा त्यों त्यों नेत्र अधिकाधिक चंचल होते रहे। क्रमशः सम्मुख न देखते हुए नासिका या दाँत या ठुड्डी पर दृष्टि स्थिर रखने से विवर्णता तथा कम्पन में कमी आती था। धीरे धीरे वक्ष स्थल पर दृष्टि ठहरने लगी। स्त्रियों के साथ सम्भाषण करते समय यह कठिन अवसर था। क्योंकि स्त्रियाँ इसे सहने के लिये कदापि तैयार नहीं हो सकती। चाहे तीन वर्ष का बालक हो अथवा साठ साल का बुड्ढा, छोटी सी बालिका हो अथवा साठ वर्ष की वृद्धा सबसे बातें करते समय मेरी दृष्टि वक्षस्थल पर टिकने लगी। तरुण स्त्रियाँ तो इसे सहन नहीं कर सकती किन्तु बालक और वृद्ध सहन कर जाते थे। क्रमशः बड़े प्रयत्न के पश्चात् जब मैंने अपना आलम्ब वक्षस्थल पर से हटाया तो दृष्टि पेट पर जा टिकी यहाँ से हटाने पर जंघन और

नितम्बों पर अथवा पैरों पर टिकती थी। पहले तो केवल स्त्रियों को ही संकोच होता था परन्तु अब पुरुषों को भी संकोच होने लग गया। विवर्णता का होना कुछ और बात है परन्तु यह तो अति लज्जा जनक है और सर्वथा अक्षम्य है परन्तु मैं गिरा हूँ, मेरे पास इसका कोई उपाय नहीं। अब तो यहां तक हो गया है कि रेल या मोटर में बैठता हूँ तो लोगों को तरफ दृष्टि खिच जाती है। बहुत प्रयत्न करने पर भी अपने आप में तन्मय नही हो पाता अखबार पढ़ने लगता हूँ फिर भी आधी दृष्टि व्यर्थ ही उधर ही को खिची रहती है। डर रहता है कि कोई बातचीत का प्रसंग छेड़ दे यही तो मेरी दृष्टि उसके जंघन और नितम्बों पर टिक जायगी तो वह व्याकुल हो जायगा। जन समुदाय से बड़ा डर हो गया है। एकान्त ही अब अच्छा लगता है।

रोगी के उपर्युक्त आत्म-विवरण से स्पष्ट है कि उसका रोग काम वासना के दमन का परिणाम है। इसकी नैतिक धारणा प्रबल है अतएव उसकी कामवासना के प्रकाशन का मार्ग अवरुद्ध हो गया है। अब वह प्रतिगामी बन गई है। अतएव वह रोगी के आत्म-प्रकाशन के सभी कामों में बाधा डालती है और उसे एकान्त में निकम्मा रहने के लिए बाध्य कर रही है। दूसरे ओर वह रोग के रूप में प्रकाशित हो रही है। उसकी मुख विवर्णता उसकी दृष्टि का बाध्य होकर दूसरे व्यक्ति के गुप्त स्थानों पर जाना उसके मानसिक विकार का प्रतीक है। उसे अपने प्रशंसकों के समक्ष लज्जा सी आती है। यह भी दबो काम वासना का प्रतीक है। जब कामवासना का दमन होता है और वह प्रतिगामिनी हो जाती हैं तो उक्त प्रकार को झकें उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रसंग में फिशर महाशय का अपना एब नार्मल साइकोलाजी में दिया हुआ एक उदाहरण उल्लेखनीय है—एक व्यक्ति को झक के रूपमें विचार आया कि सभी लोग उसकी ओर देखकर थूकते हैं। वह इसकी प्रमाणिकता जानने के लिए एक दिन एक रईस के घर के दरवाजे पर बाजू में खड़ा हो गया। उसने देखा कि जितने लोग उस घर के भीतर गये या बाहर निकले उन्होंने उसकी ओर देखकर थूका। इस

सल्फ़ाइट के संसर्ग मे लाते हैं । इससे सोडियम आयोडेट विच्छेदित हो आयोडीन पात्र के पेंदे मे बैठ जाता है ।

$$2NaIO_3 + 5NaHSO_3 = 3NaHSO_4 + 2Na_2SO_4 + H_2O + I_2$$
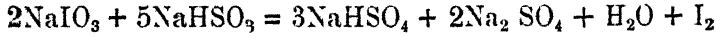
आयोडीन को धोकर तब टिक्कियो मे दबाते है । इस प्रकार जो आयोडीन प्राप्त होता है वह बिलकुल शुद्ध नही होता ।

समुद्र की घासो से आयोडीन इस प्रकार प्राप्त होता है । समुद्र घासो को, विशेषत: गहडे समुद्र घासो को, जिसमे प्रतिशत ०.२७ से ०.४७ भाग तक आयोडीन का रहता है सुखाकर रखते है । बिना सुखाये रखने से आयोडीन की मात्रा कम हो जाती है । इसको सबसे पहले सोडियम कार्बनेट के साथ उबाल कर छान लेते है । इस विलियन मे तब हाइड्रोक्लोरिक अम्ल डालकर फिर छानते हैं । इस छाने हुए विलयन मे दाहक सोडा डालकर उसे उदासीन बना देते है । इस उदासीन विलयन को तब गरम करके सुखा देते है और तब झुलसते है । इस झुलसे हुए पदार्थ मे सारा आयोडीन अन्य पोटाश लवणो के साथ मिला हुआ विद्यमान रहता है । इसके एक टन से प्रायः ३० पाउन्ड तक आयोडीन प्राप्त हो सकता है । इस झुलसे हुए पदार्थ को गरम जल के साथ गरम करते है और इस प्रकार जो विलयन प्राप्त होता है उसे गाढ़ा करते हैं । इस प्रकार गाढ़ा करने से कम विलेय लवण पृथक् हो जाते हैं । विलयनावशेष में तब थोड़ा गन्धकाम्ल डालकर छोड़ देते है । यह गन्धकाम्ल उसमे स्थित (यदि है तब) सल्फाइड और सल्फाइट को विच्छेदित कर देता है और इससे कुछ गन्धक भी निकल आता है । यह धातुओ के ब्रोमाइड और आयोडाइड को भी सल्फ़ेट मे परिणत कर देता है और इससे हाइड्रोब्रोमिक अम्ल और हाइड्रियोडिक अम्ल विलयन मे रह जाते है । यह तब आयोडीन के भपके मे डालकर स्रवित किया जाता है । बीच बीच मे मैगनीज़ डाइ-आक्साइड और गन्धकाम्ल डाल कर स्रवित करते हैं ताकि सारा हाइड्रियोडिक अम्ल इससे आयोडिन मे मुक्त हो जाय ।

$$2HI + MnO_2 + H_2SO_4 = MnSO_4 + 2H_2O + I_2$$
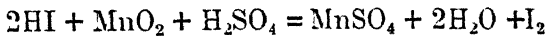
इस प्रकार से प्राप्त आयोडीन भी शुद्ध नही होता ।

थी, परन्तु बहुत कम। बड़े होने पर कलकत्ते में मैं वेश्यागमन करने लग गया था परन्तु वह केवल मित्रों के साथ और उनके आग्रह से। इसके पश्चात् व्यभिचार के प्रसंग भी आये परन्तु केवल उसकी इच्छा की पूर्ति के लिये, स्वतः प्रयत्न पूर्वक नहीं। एक बार तो जिस समवयस्कस्त्री में मेरी अपार श्रद्धा थी, जिसके शुद्ध प्रेम में मैं सर्वदा आनन्दित और प्रफुल्लित रहता था, जब उसके मुँह से अनुचित प्रस्ताव सुना तो मुझे महान खेद हुआ। उसकी बात को स्वभावतः टाल न सकने कारण उसके साथ अनुचित सम्बन्ध हुआ भी। परन्तु सर्वथा निर्जीव शव की तरह—मुझे उसमें कोई आनन्द नहीं आया—यद्यपि वह एक गण्य सुन्दरी थी और उसके स्पर्श को मैं शुद्ध भाव से प्राप्त करने के लिये किसी अंश तक लालयित भी रहता था।

इसका यह अर्थ नहीं कि काम वासना का सर्वथा मेरे में अभाव हो था। मुझे लड़कपन से मनोराज्य में विहार करने का शौक हो गया था। और मैं वहाँ आदर्श सुन्दरियों के बीच में अपनी वासना को तृप्त कर लिया करता था। मेरी कल्पना की सुन्दरियों के सम्मुख मुझे वाह्य जगत की रमणियाँ कदाचित अधिक रुचिकर नहीं प्रतीत होती थी। शुद्ध प्रेम में मुझे आनन्द मिला है कलुषित प्रेम में उसका संताप भी नहीं।

मेरे द्वारा काम सम्बन्धी जितनी चेष्टायें हुई हैं वह सब मेरी डायरी में नोट है। चूंकि ज्ञात कारणों को रोग का कारण नहीं माना जाता इसलिए उन सबका उल्लेख करना मैं व्यर्थ समझता हूँ। इतना अवश्य है कि रोगोत्पत्ति से पूर्व मैं नारी जाति से जितना निर्दोष था अब रोगोत्पत्ति के पश्चात् उतना ही और शीघ्र आकर्षित हो जाया करता हूँ। यद्यपि वाह्य जगत् में मैं उनकी तरफ देखता भी नहीं और बात का अवसर ही नहीं देता। मैं यह पाता हूँ कि अब मैं कुरुप और सुरुप की तरफ ध्यान नहीं देता, किन्तु युवावस्था वाली को देखते ही आकर्षित हो जाया करता हूँ।

रोगी के उपर्युक्त कथन से उसके रोग का कारण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। उसकी वासना प्रकाश में आने से कितनी अपने आपको रोकती है यह उसके पत्र से स्पष्ट होता है। वह अपनी सभी काम चेष्टाओं को प्रकाशित नहीं करना चाहता। यदि उसकी पुरानी अनुभूति को वह उसी रूप में स्मरण करे जिस रूप में वे हुई थी और अपनी नैतिक बुद्धि के द्वारा उन्हें अपने आचरण में उचित समझने लगे तो उसका रोग समाप्त हो जाय।

रोग की अवस्था में युवतियों के ऊपर दृष्टि जाना भी कामवासना के दमन को स्पष्ट करता है। रोग मनुष्य की आन्तरिक गलत धारणा को शिथिल कर देता है। जब आन्तरिक धारणा शिथिल हो जाती है तो नैतिक प्रतिबन्ध भी कम हो जाता है और फिर मनुष्य की कल्पना काम वासना सम्बन्धी चित्रों का निर्माण करने लगती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का मन काम-वासना के प्रतीकों के ऊपर ठहरता है। पर उसका पुराना अभ्यास इसके प्रतिकूल होने के कारण उसका मन एक द्वन्द्व शाला बन जाता है। इसी से शिर दर्द की उत्पत्ति होती है।

जब तक मनुष्य अपने दृष्टिकोण को नहीं सुधारता अर्थात् जबतक उसकी वासना का रेचन अथवा शोध नहीं होता तबतक वह रोग का अथवा किसी प्रकार की झक का रूप धारण करके ही प्रकाशित होती है। यह वासना मनुष्य को कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं करने देती। मनुष्य को निराशावादी बनाये रहती है। यह निराशावादिता एक दर्शन का रूप ले लेती है। फलित ज्योतिष में अत्यधिक श्रद्धा इसी निराशावादी विचार का प्रतीक है। यह मनुष्य में वीरता की मनोवृत्ति का विनाश करती है, उसे साहस के काम करने से रोकती है। इस प्रकार के विचार तबतक परिवर्तित नहीं होते जबतक मनुष्य की अवरुद्ध शक्ति प्रगामी नहीं बन जाती। विचारों का परिवर्तित होना अवरुद्ध शक्ति का प्रोगामी बनने का सूचक है।

हैलोजन।

फ़्लोरीन, क्लोरीन ब्रोमीन, और आयोडीन इन चार तत्वो और उन के यौगिको के भौतिक और रासायनिक गुणो की तुलना से साफ़ मालूम होता है कि ये चारो तत्व किसी एक ही प्राकृतिक समुदाय के अंग है। यह दो रीति से मालूम होता है। एक इन तत्वो और इनके यौगिको के गुणो की समानता से और दूसरे इनके गुणो के एक नियमित क्रम से शनैः शनैः परिवर्तन से। इस समानता के कारण इन तत्वो का एक नाम 'हैलोजन' दिया गया है और इनके लवणो, फ़्लोराइड, क्लोराइड और ब्रोमाइड और आयोडाइड को 'हैलाइड' कहते है। इन के गुणो के अवलोकन से यह समानता स्पष्ट हो जाती है।

इन तत्वों के भौतिक गुण। फ़्लोरीन हलके पीले रंग की गैस है जो – १८७° श पर द्रवीभूत होती है। क्लोरीन का रंग हरा पीला होता है और यह अधिक सरलता से द्रवीभूत हो जाता है। ब्रोमीन गाढ़ा लाल द्रव है जो ५६° श पर उबलता है और – ७° श पर धनीभूत होता है। इसके वाष्प का रंग कपिल-रक्त होता है। आयोडीन काला मणिभीय घन होता है जो १८४° श पर उबलता और सुन्दर बैगनी रंग के वाष्प मे परिणत होता है। गैसीय अवस्था मे ये सब ही तत्व श्लेष्मिक कला को आक्रान्त करते है, फ़्लोरीन सब से अधिक और आयोडीन सब से कम। इन सभी तत्वो मे एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है।

इन तत्वो की जल मे विलेयता किसी नियमित क्रम मे नही है। फ़्लोरीन जल को विच्छेदित कर देता है। एक भाग जल मे दो भाग क्लोरीन का घुलता है। एक भाग जल मे ब्रोमीन का ४ भाग घुलता है। आयोडीन की विलेयता जल मे बहुत थोड़ी है।

द्रव फ़्लोरीन का आपेक्षिक घनत्व १·१४, द्रव क्लोरीन का १·५५, द्रव ब्रोमीन का ३·१९, और घन आयोडीन का ५ होता है। फ़्लोरीन – १८७° श पर, क्लोरीन – ३३·६° श पर ब्रोमीन ५८° से ६३° श पर और आयोडीन

१८४° श पर उबलता है।

सामान्य रासायनिक गुण। सभी हैलोजन हाइड्रोजन के साथ संयुक्त हो गैसीय यौगिक बनते हैं। ये यौगिक सब ही जल में बहुत अधिक विलेय होते हैं और इस प्रकार घुलकर समाहृत आम्लिक विलयन बनते हैं। हाइड्रोजन के साथ संयुक्त होने की तत्परता इन तत्त्वों के परमाणुभार की वृद्धि से कम होती जाती है। हाइड्रोजन और फ्लोरीन अंधेरे में बहुत निम्न तापक्रम पर भी संयुक्त होते हैं। क्लोरीन और हाइड्रोजन अंधेरे में संयुक्त नहीं होते। संयुक्त होने के लिये इन्हें गरम करने वा प्रकाश में रखने की आवश्यकता होती है। ब्रोमीन और हाइड्रोजन कठिनता से संयुक्त होते हैं। आयोडीन और हाइड्रोजन और भी कठिनता से संयुक्त होते हैं। इन यौगिकों HF HCl, HBr, और HI का स्थायित्व क्रमशः घटता जाता है। इन के हाइड्रोजन के स्थान में सोडियम और पोटासियम धातु प्रवेश कर स्थायी लवण बनते हैं जिनके गुण बहुत कुछ समान होते हैं और समुद्र के नमकों के गुणों के सदृश होते हैं इसी से इस समुदाय का नाम हैलोजन पड़ा है। इन तत्त्वों की जल पर जो क्रिया होती है उसमें इनके गुणों के फ्लोरीन से आयोडीन तक, शनैः शनैः परिवर्तन का अच्छा ज्ञान होता है। फ्लोरीन शीघ्र ही जल को विच्छेदित कर देता है। साधारण तापक्रम पर यह क्रिया बड़ी ही तीव्रता से होती है। इस क्रिया से आक्सिजन और ओजोन दोनों बनते हैं। क्लोरीन और ब्रोमीन भी साधारण तापक्रम पर जल को विच्छेदित करते हैं किन्तु सूर्य्य प्रकाश में ही। इनसे केवल आक्सिजन बनता है। ओजोन नहीं बनता। यहां ब्रोमीन की अपेक्षा क्लोरीन की क्रिया अधिक तीव्र होती है। आयोडीन जल को विच्छेदित नहीं करता।

आक्सिजन के साथ हैलोजन की सक्रियता की जब तुलना की जाती है तब कोई नियमित क्रम नहीं मालूम होता। फ्लोरीन आक्सिजन के साथ संयुक्त ही नहीं होता। क्लोरीन परोक्ष रीति से अनेक आक्सी-यौगिक बनता है। इनकी संख्या आयोडीन और ब्रोमीन के आक्सी-यौगिकों से कहीं अधिक है। इससे

पन्द्रहवाँ प्रकरण

उदर रोग

चार प्रकार के उदर रोग

उदर का रोग मानसिक विकार की उपस्थिति का सूचक है। जिस प्रकार का मानसिक विकार होता है उसी प्रकार का रोग होता है। अर्थात् रोग दबी हुई मानसिक ग्रन्थि के प्रतीक होते हैं। पेट के रोग की विशेषता, उसके पैदा होने की परिस्थिति, तथा इस रोग के प्रकार को जानकर हम दबी मानसिक ग्रन्थि का पता चला सकते है। यदि हम पेट के रोग का ठीक उपचार भी करना चाहें तो भी हम इस ग्रन्थि को जानकर ही उसका उचित उपचार कर सकते हैं।

उदर के रोगों को हम चार प्रकार में विभाजित कर सकते हैं—

(१) पेट में मसूस उठना, इसके साथ आँव जाना

(२) पेट में वायु का बढ़ना और इससे मानसिक परेशानी होना

(३) शोच करने में कठिनाई—कोष्ट-बद्धता

( ) बार बार दस्त लगना

लेखक को अधिक तर इन्हीं चार प्रकार के रोगों का उपचार करने का अवसर मिला है। इन सभी प्रकार के रोगों का भौतिक कारण होता है, पर उनका मानसिक कारण भी होता है। किसी विशेष रोगी के रोग में एक प्रकार के कारण की प्रधानता होती है और किसी में दूसरे प्रकार के कारण की प्रधानता होती है इन रोगों का उपचार भी भौतिक और मानसिक दोनों प्रकार का हो सकता है। जब रोग का केवल भौतिक उपचार मात्र होता है तब रोग शीघ्रता से नष्ट नहीं होता। कभी कभी रोग कम न होकर और भी बढ़ जाता है।

पेट के जिस रोग का प्रधानतः मानसिक कारण होता है उसमें भौतिक उपचार करने से पेट का रोग और भी बढ़ जाता है। कभी कभी पेट का रोग कल्पित ही होता है ऐसी अवस्था में किसी प्रकार का भौतिक उपचार पेट के रोग को स्थायी बना देता है रोगी समझने लगता है कि उसे वास्तव में कोई रोग है इससे उसे एक प्रकार का मिथ्या आत्म-संतोष होता है; फिर बार बार के निर्देश म कुछ न कुछ रोग निकल आता है। पेट का रोग जितना ही झूठा अर्थात् कल्पित होता है. रोगी उसे कल्पित राग सुनकर उतना ही चिढ़ता है। उसके चिढ़ने से ही यह सूचित है कि उसका रोग मानसिक है।

मसूस उठने वाला रोग

पहले प्रकार के पेट के राग अर्थात मसूस के पेट के रोग का कारण कोई ऐसी मानसिक ग्रन्थि है जो किसी व्यक्ति के प्रति दुर्भावना के कारण उत्पन्न हुई है। जब हम किसी व्यक्ति से बुरा व्यवहार पाते हैं और उसे किसी कारण वश विशेष कर अपनी नैतिक धारणा के कारण प्रकाशित नहीं कर पाते, तो हमारी भावना मसूस के रोग का रूप धारण कर लेती है। पेट के रोग का मानसिक कारण होन पर जब यह रोग रहता है तो विचार ठीक रहते हैं और जब यह रोग कम हो जाता है तो विचारों में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। द्वेष का भावना के रेचन अथवा निराकरण के बिना यह रोग नष्ट नहीं होता। इस रोग में यदि वही व्यक्ति रोगी की सेवा करे जिसके प्रति दबी द्वेष भावना है तो रोगी का रोग शीघ्रता से नष्ट हो जाय।

वायु के बढ़ने का अनुभव

वायु के बढ़ने का अनुभव कराने वाले पेट के रोग का कारण कामवासना का दमन होता है। इस प्रकार के रोगों का जब कोई शारीरिक कारण न मिले तब और भी अधिक निश्चित होता है कि यह रोग केवल कामवासना के दमन का परिणाम है। इस प्रकार के रोग हेपोकेन्ड्रिया कहे जाते हैं। ऐसे रोगों में रोगी को बार बार भूख लगती

है, पर सभी वस्तुओं के खाने में उसे सन्देह उत्पन्न होता है। लेखक का एक छात्र इस रोग से पीड़ित था; वह फल और कच्चे दूध पर रहता था। रोटी भी आग की सिकी नहीं खाता था। उसे कुछ न खाने से भारी बेचैनी होती थी। वह अनुभव करता था कि वायु उसके पेट से उठकर मस्तिष्क की ओर जा रही है। कुछ खा लेने पर उसका पेट का रोग शान्त हो जाता था।

इसी प्रकार एक दूसरा रोगी हर तीन घंटे खाया करता था। यह एक उच्च सरकारी अफिसर है। उसे सदा मानसिक बेचैनी रहती थी। उसे खाने की अधिक वस्तुओं के प्रति संदेह हो गया था। वह यदि एक चम्मच भी दूध पीले तो वायु पेट से उठकर दिमाग की ओर जाती हुई ज्ञात होती थी। इसके कारण उसे बेचैनी हो जाती थी। इसी प्रकार बादाम का शरबत पीने से भी उसे पेट का भारीपन हो जाता था। वह कोई भी तली वस्तु नहीं खा सकता था। उसकी स्त्री दिन भर रोटी बनाने में परेशान रहती थी।

इस बीमारी का प्रारंभ उसका अपने अफिसर से मन मुटाव होने पर हुआ। पहले तो यह रोग पेट दर्द के और आँव इत्यादि पड़ने के रूप में प्रारंभ हुआ। पीछे उसने हेपोकेन्डया का रूप धारण लिया। उससे किसी डाक्टर ने कहा उनके पेट में कुछ विशेष प्रकार के कीड़े पड़ गये हैं और वही तंग कर रहे हैं। इस निर्देश के पाते ही वह पेट में कीड़ों की उपस्थिति का अनुभव करने लगा। वह समझता था कि कीड़ा इधर जा रहा है उधर जा रहा है। जब किसी डाक्टर ने बताया कि इस प्रकार के कीड़े तो सभी लोगों के पेट में होते हैं तो उसका रोग फिर बे सिर पैर का हो गया। अब वह प्रति क्षण रोग के बारे में सोचने लगा और बार बार डाक्टरों को अपने शरीर की परीक्षा कराने लगा। फिर रोग ज्यों का त्यों बना रहा।

इस रोगी की पुरानी चर्या का पता चलाने से ज्ञात हुआ कि उसे अपने मन के अनुसार स्त्री नहीं मिली थी; वह अधिक सुन्दर न थी। कभी कभी वह अपनी युवावस्था सुन्दरियों के पीछे लगकर अपनी गुप्त

गुण । अनार्द्र हाइड्रोजन फ़्लोराइड रंगहीन गैस है । आर्द्र वायु में यह बहुत धूम देती है । १९° श पर यह द्रवीभूत हो जाती है । इस की गैस बहुत विषैली होती है । अतः इसके साथ बहुत सावधान रहना चाहिये । चमड़े पर लगाने से घाव हो जाता है । अकस्मात् इसके वाष्प के सूंघने से १८६९ ई० मे निक्ले की मृत्यु हो गई थी ।

रूई, रेशम गोद इत्यादि पदार्थ इससे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । कांच को भी यह आक्रान्त करता है और निम्न समीकरण के अनुसार यहां सिलिका विच्छेदित हो जाता है ।

$$SiO_2 + 4HF = SiF_4 + 2H_2O$$
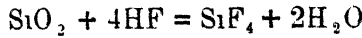
कांच अक्रान्त होने के कारण हीं कांच पर नकाशी करने के लिये इसके विलयन का व्यवहार होता है । इसके द्वारा ही कांच के पात्रों पर अंक लिखे जाते और रेखाएं खींची जाती हैं ।

यह बहुत वाष्पशील होता है । १९.४° श पर उबलता और -१०२.५°श पर जम जाता है । इसके मणिभीय ९२° श पर पिघलते हैं ।

जल मे यह बहुत अधिक विलेय होता है और घुलकर आम्लिक विलयन बनता है । तनु विलयन को समाहृत करने से तब तक समाहृत होता जाता है जब तक इसकी मात्रा प्रतिशत ४३ न पहुंच जाय । ऐसा समाहृत अम्ल ७५० मम. दबाव पर १११° श पर उबलता है । इससे अधिक समाहृत अम्ल को गरम करने से वह तब तक तनु होता जाता है जब तक उसमें हाइड्रोजन फ़्लोराइड की मात्रा प्रतिशत ४३ नहीं पहुच जाती ।

अधिकांश धातुएं इसके विलयन मे घुल जाती है और इस प्रकार घुलकर फ़्लोराइड बनती है । चांदी और ताम्र भी इसमे घुलजाते है । लोहे के साथ क्रिया इस प्रकार होती है ।

$$Fe + 2HF = Fe F_2 + H_2$$
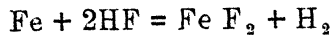
मणिभीय सिलिकन को गैसीय फ्लोराइड मे धीरे धीरे गरम करने से यह जलने लगता है और इस प्रकार जल कर सिलिकन फ़्लोराइड और हाइड्रोजन

स्कूल में नौकरी करती रही, पीछे परिस्थितियों से परेशान होने पर पति के पास भागी आई। वह अब अपने पति को हर प्रकार की बात चीत सुना कर, लड़ झगड़ कर तंग कर रही थी और उनका परिवारिक जीवन जितना दुःखी हो सकता है उसे उतना दुखी करने की चेष्टा करती थी। उसकी सौतियाँ डाह जाग्रत हो गई थी और इसके कारण वह अपने पति को भी चैन नहीं लेने देना चाहती थी। पति अनेक प्रकार की परेशानी में पड़ा था। इसी समय उसे पेट का रोग भी आ गया। यह रोग इस बात का प्रतीक है कि गृहस्थी के झगड़ों के कारण उसका खाया अन्न पेट में नहीं ठहरता।

इन सभी प्रकार के पेट के रोगों का मानसिक उपचार संभव है। मनुष्य अपनी भावनाओं को बदल कर तथा मानसिक चिकित्सक के समक्ष आत्म-स्वीकृति करके और उसके बताये मार्ग पर चल के रोगों का अन्त कर सकता है।

महानता का भाव और उदर रोग

कितने ही लोगों के उदर के रोग का कारण उनके मन में आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि होती है। यह ग्रन्थि पहले विकृत महानता का भाव मनुष्य की चेतना में लाती है और वह अनेक प्रकार के असाधारण आचरण का कारण बन जाती है। यह ग्रन्थि अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों में प्रकाशित होती है। उदर का रोग भी उनमें से एक है।

कुछ दिन पूर्व लेखक के पास एक रोगी लेखक के एक मित्र के द्वारा लाया गया। रोगी को शारीरिक बीमारी थी। भोजन ठीक से नहीं पचता था। वायु बढ़ जाती थी। रोगी को सदा 'काँव काँव" की आवाज सुनाई देती रहती थी। उसे मालूम होता था कि उसके मस्तिष्क में बहुत से कौवे "कांव काँव" कर रहे हैं। उसे ज्ञात होता था कि उसे नपुंसकता भी आगई है। उसे भय था कि कहीं वह पागल न हो जाय। उसे सन्देह हो गया था कि उसे किसी ने विष खिला दिया है, इस लिये ही उसका स्वास्थ बिगड़ गया है।

रोगी की उमर ४५ या ४६ वर्ष की है। उसका स्वास्थ्य ऊपरी दृष्टि से बुरा नहीं है। उसके बाल अवश्य सफेद हो गये है। रोगी अभी तक अविवाहित है। रोगी अपनी आजीविका क्लर्क का काम करके चलाता है और बीच बीच में ट्यूशन करता रहता है। रोगी को योगाभ्यास करने को पहले से ही धुन थी। वह अनेक धर्म संस्थाओं में रह चुका है। पर उनके कुप्रबंध और आडम्बर को देख कर उनसे उसका मन ऊब गया है और उनके विनाश करने की भावना उसके मन में प्रबल हो गई है। इन संस्थाओं के विरुद्ध समाज में प्रचार करना रोगी अपना धार्मिक कर्तव्य समझता है।

रोगी से पूछने पर पता चला कि उसके पेट में एक बार कृमि की बीमारी हो गई थी। इस बीमारी से मुक्त होने के लिये उसने एक दवा खाई दवा खाने से बीमारी तो जाती रही पर उसे अने[illegible] प्रकार की दूसरी शारीरिक और मानसिक व्याधियां उत्पन्न हो गई। उसकी स्मृति भी बिगड़ गई, इस लिये उसे अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी थी। दवा खाने के बाद उसे एक अस्पताल में रखा गया था। रोगी का विचार था कि दवा का विष दूर करने के लिये जो उपचार किया गया उस में ही उसे विष दे दिया गया है। इस विष के परिणाम स्वरूप ही उसकी उक्त परिस्थिति हो गई।

रोगी की बात चीत से पता चला कि उसका विष खाने का विचार भ्रम मात्र है दूसरे, अपने आप के महान होने की उसे झक है। उससे पूछा गया कि उसके मन में योगाभ्यास का विचार क्यों आया। इस प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि उसे आध्यात्मिक शक्ति उपार्जन करने की पहले से ही इच्छा थी। वह वास्तव में आज [illegible]१ से योगाभ्यास कर रहा है। वह श्री अरविन्द के आश्रम तक जा चुका था और वहाँ उसने एक साल से अधिक व्यतीत किया था। उसने जगदयाल जी ग[illegible]यंन[illegible]का के सम्पर्क में रह कर जपयोग का भी अभ्यास किया और वह सभी जगह से असंतुष्ट होकर आया। उसका

विश्वास हो गया था कि इन सभी संस्थाओं में देश के प्रतिभावान लोगों को नपुंसक बनाने के लिये दवाइयाँ खिलाई जाती हैं।

बचपन के संस्कारों के विषय में खोज करने से पता चला कि उसके मां बाप छोटी अवस्था में मर चुके थे और चाचा चाचियों का उसके प्रति दुर्व्यवहार था। इस प्रकार उसके मन में आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न हो गई थी वह जहां गया वहाँ अपने आप को उसने तिरस्कृत ही पाया। उसने कहीं भी उचित सम्मान नहीं पाया। फिर उसके मन में लोकोपकार के हेतु उन संस्थाओं के नष्ट करने की इच्छा उत्पन्न हो गई जिन्होंने उसका तिरस्कार किया। इसके परिणाम स्वरूप वह उनके प्रतिकूल प्रचार करने लगा। अपने आप भी उसने एक नई संस्था स्थापित करने की चेष्टा की। उसने अपने मत का प्रचार करने के लिये उसने अनेक पुस्तकायें लिखीं।

रोगी का विश्वास था कि उसके चारों ओर लोग उसके प्रतिकूल षड्यंत्र रच रहे हैं वे उसे मार डालना चाहते है। जिन संस्थाओं के प्रतिकूल वह प्रचार कर रहा था वे उसके मार डालने के लिए सतत प्रयत्नशील है। वे उसे निकम्मा बना देना चाहती हैं।

इस रोगी से प्रेम पूर्वक दो दिन तक बात चीत की गई। दो घंटे इसे प्रतिदिन दिये गये। घर पर भोजन कराया गया। प्रेम और निर्देश के द्वारा यह विचार डाला गया कि उसका स्वस्थ ठीक है और उसको विष दिये जाने का विचार भ्रम मात्र है। इसके साथ साथ उसे मैत्री भावना, अशुभ भावना, अनित्य भावना और आना पान सतिका अभ्यास कराया गया। जिन लोगों से उसका द्वेष बुद्धि थी विशेष रूप से उनके प्रति मैत्री भावना अथवा उपेक्षा का भावना का अभ्यास कराया गया। इसके परिणाम स्वरूप उसके मस्तिक में आवाज होने का भ्रम जाता रहा। उसकी पाचन शक्ति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया। रोगी को उसे भोजन कराने वाले व्यक्ति के प्रति सदा संदेह रहता था। पर उसने लेखक के घर निस्संदेह रूप से भोजन किया।

इससे प्रमाणित होता है कि उसकी अकारण संदेह करने की मनोवृत्ति में भी पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था।

जिस व्यक्ति को बचपन में अनुकूल वातावरण नहीं मिलता, प्रेम के बदले तिरष्कार मिलता है, उसमें आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप वह अपने आप को एक ओर कोई महान् विलक्षण व्यक्ति समझने लगता है और दूसरी ओर वह ससार के दूसरे लोगों को अपने प्रति षड्यंत्र रचने वाला मानने लगता है। मनुष्य इस प्रकार के आयोजन करने लगता है जिससे लोग उसे संसार का महान् व्यक्ति मानने को बाध्य होवें। जहाँतक वह अपने ऐसे कार्यों में सफल होता है यह वास्तव में कोई लोकोपकार करता है पर उसके काम दिन प्रति दिन असंभवता की ओर बढ़ते जाते हैं। वह संसार के प्रमुख लोगों को अपना शत्रु मान वैठता है। जब वह अपने काम में असफलता आते देखता है तो वह कल्पना करता है कि कोई व्यक्ति उसके प्रति षड्यंत्र कर रहा है। वास्तव में यह षड्यंत्र का भाव अपने ही मनोभावों का आरोपण मात्र होता है। जिस प्रकार वह बचपन में अपने स्वजनों को अपने प्रतिकूल पाता था इसी प्रकार वह अब संसार के प्रमुख लोगों को अपने प्रतिकूल देखता है। उस रोगी ने कहा कि श्री अरविंद के आश्रम में रहने वाली फ्रेन्च महिला को उसने पत्र लिखते समय "माँ" न लिख कर "चाची" के रूप में संबोधित किया था। उसका कथन था कि उसने रोगी के प्रति अपनी चाची जैसा ही व्यवहार किया। उसने नीच से नीच काम रोगी से लिया।

ऐसे लोगों से बातचीत करते समय उनकी सभी बातें सहानुभूत पूर्वक सुनना आवश्यक है। पहले पहल उनकी बातों का विरोध करने से चिकित्सक उनका कोई लाभ नहीं कर सकता। रोगी की धारणा का श्रोत उसके पुराने सस्कारों और मानसिक ग्रन्थियो मे रहता है। वह अपनी धारणाओं का औचित्य सिद्ध करने के लिये जो तर्क देता है वह तर्क का अभास मात्र होता है। उसके तर्क को तर्क

भास जानकर उससे बहस न करना चाहिये। जब तक प्रेम के द्वारा उसके हृदय का परिवर्तन नहीं होता और जबतक उस की मानसिक ग्रन्थियां नहीं खुलती उसको समझाना बुझाना व्यर्थ है। प्रेम के द्वारा ये ग्रन्थियां खुल जाती हैं और मनुष्य अपनी धारणाओं की व्यर्थता जान लेता है। पुराने दमन के संस्कार भी उसे स्मृत हो जाते हैं और उसका मन साम्यावस्था में आ जाता है।

सोलहवाँ प्रकरण

उन्माद

उन्माद की विशेषतायें

उन्माद (हिस्टिरिया) मानव जाति का व्यापक मानसिक रोग है। यह रोग ऊपर से देखने से अकारण ही उत्पन्न होता है और अकारण चला भी जाता है। प्राचीन काल में इस रोग का कारण किसी भूत प्रेत द्वारा सताया जाना माना जाता था और इसके उपचार के लिये पण्डा, पुरोहितों ओझा, फकीर और पादरियों की शरण ली जाती थी। ओझा लोग झाड़ फूँक के द्वारा इसका उपचार करते चले आये हैं। हिस्टीरिया की अवस्था में कभी कभी रोगी के सिर भूत अथवा देवी देवता आते हैं। वह एक विशेष प्रकार के आवेश में आकर कंपकँपी का अनुभव करता और झूमता है। रोगी कुछ ऐसी बातें करता है जिनका उसके सामान्य जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह जो कुछ कहता अथवा करता है उसका उसपर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

उन्माद का रोग स्त्रियों का रोग माना जाता था। परन्तु यह धारणा भ्रामक सिद्ध हुई। उन्माद स्त्री और पुरुष दोनों को होता है।

उन्माद की दो अवस्थायें होती हैं एक सामान्य अवस्था और दूसरी विशेष आवेश की अवस्था। रोग की सामान्य अवस्था में रोगी सदा मानसिक बेचैनी का अनुभव करता है। उसका घर के काम में मन नहीं लगता। वह अपने आस पास के लोगों से उदासीन सा रहता है। उसके मन में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प चला करते हैं। इन में किसी प्रकार की क्रम बद्धता नहीं रहती। उन्माद की इस

अवस्था में नींद कम आती है। कोई कोई रोगी अपने आप ही इस प्रकार बड़ बड़ाते रहते हैं मानों वे किसी से बात चीत कर रहे हो। कितने हो रोगी अपने हाथ पैर मुँह इत्यादि हिलाया करते हैं। कुछ अँगुलियों को ही हिलाया करते हैं अथवा गिना करते हैं। रोगी इस समय जो कुछ करता है उसका उसे साधारणतः ज्ञान नहीं रहता। कभी कभी अपनी चेष्टाओं का ज्ञान तो उसे रहता है परन्तु उनके ऊपर उसका नियंत्रण नहीं रहता। रोगी घर का काम मशीन के समान बिना रुचि के करता रहता है।

उन्माद के रोग की अवस्था में स्त्रियाँ अपने पति के प्रति अथवा बच्चों के प्रति वैसे अनुराग की अनुभूति नहीं करती जिस प्रकार स्वस्थ अवस्था में करती हैं। उनकी स्मृति भी ठीक से काम नहीं करती है। वे बहुत सी बातों को भूल जाती हैं। इसके कारण प्रतिदिन के व्यवहार में अनेक प्रकार की अड़चनें उत्पन्न हो जाती हैं। इन अड़चनों के कारण रोगी की चिन्ता और भी बढ़ जाती है।

रोग की आवेश की अवस्था में रोगी को सामान्य चेतना कार्य नहीं करती। इस समय रोगी को मूर्छा आ जाती है। कभी कभी रोगी अनेक प्रकार की क्रियायें अपनी सधारण इच्छा के विरुद्ध करता रहता है। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में रोगी को अपनी क्रियाओं का ज्ञान ही नहीं रहता। जिस प्रकार सम्मोहित अवस्था के व्यक्ति को अपनी क्रियाओं और कही हुई बातों का कोई ज्ञान रहता उसी प्रकार आवेश की अवस्था के कार्यों का तथा बात चीत का उन्माद के रोगी को ज्ञान नहीं रहता।

उन्माद के रोगी के मन के दो भाव हो जाते हैं—रोगी के मन का एक भाग दूसरे भाग के विरुद्ध कार्य करता रहता है। रोगी की साधारण चेतनावस्था में ये दोनों भाग एक साथ काम करते रहते हैं। रोगी का अचेतन मन इस समय चेतन मन के कार्यों में केवल बाधा डालता रहता है। कभी कभी वह सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में प्रकट भी होता रहता है। रोग की आवेश की अवस्था में व्यक्ति का अचे-

तन मन चेतना के नियंत्रण के बाहर हो जाता है। फिर रोगी का व्यवहार पूरी तरह पागलों जैसा हो जाता है।

रोग का कारण

उन्माद के रोग में रोगी की मानसिक शक्ति प्रतिगामी हो जाती है। रोगी अपने किसी पुराने भावपूर्ण अनुभव का सांकेतिक रूप से अभिनय करता है। प्रत्येक मनुष्य को अनेक प्रकार के भाव-पूर्ण अनुभव होते हैं। इन अनुभवों के संस्कार मनुष्य के मन में संचित रहते हैं। कामवासना के क्षेत्र में ये संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। हिस्टीरिया के रोग का प्रधान कारण कामवासना का दमन होता है। जिस व्यक्ति की कामवासना को समुचित तृप्ति होती है उसे हिस्टीरिया का रोग नहीं होता। इस रोग में व्यक्ति के प्रेम का प्रवाह आगे की ओर न बढ़कर पीछे की ओर मुड़ जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति वर्तमान वातावरण में किसी प्रकार की रुचि न दिखाकर अतीतकाल की किसी घटना के विषय में चिन्ता करता है। इस प्रकार की चिन्ता करना उसकी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल होता है। अतएव यह अतीत की चिन्ता किसी निरर्थक वस्तु की चिन्ता का रूप धारण कर लेती है। वास्तव में जिस वस्तु के सम्बन्ध में रोगी चिन्ता करता है वह वास्तविक चिन्ता के पदार्थ की प्रतीक होती है।

उन्माद का रोग जीवन से निराशा की मानसिक स्थिति को दर्शाता है। यह रोग साधारणतः तब उत्पन्न होता है जब रोगी को वातावरण से भारी संघर्ष करना पड़ता है। बहुत सी स्त्रियों को अपने पति से असन्तोष होने पर सास अथवा ननद से झगड़ा होने पर उन्माद का रोग उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में इस प्रकार के रोग की प्रवृत्ति पहले से ही रोगी में रहती है। यह प्रवृत्ति अप्रिय वातावरण के उपस्थित होने पर प्रबल हो जाती है, और आवेश के रूप में प्रकाशित हो जाती है।

उन्माद के रोगों का दूरस्थ कारण व्यक्ति के बचपन के संस्कार होते हैं। जो लड़कियां बचपन में बड़े लाड़ प्यार में रहती हैं, जिनको इच्छाओं को तृप्त करने की सुविधा दे जाती है उन्हें युवा अवस्था में उन्माद का रोग हो जाने की संभावना रहती है। बाप की लाड़ली बेटी इस प्रकार उन्माद के रोग से अकसर पीड़ित हो जाती है। सास ससुर के यहाँ किसी भी लड़की को उतना सुख नहीं मिलता जितना उसके पिता के घर उसे मिलता है। अतएव ससुराल की कठिन परिस्थितियों में पड़ने पर उन्माद का रोग उत्पन्न हो जाता है।

देर से विवाहित होने वाली लड़कियों को भी उन्माद का रोग हो जाने का भय रहता है। युवावस्था प्राप्त हो जाने पर लड़कियों का प्रेम किसी व्यक्ति के ऊपर केन्द्रित हो जाता है और फिर यदि उसका विवाह किसी दूसरे व्यक्ति से हुआ तो हिस्टीरिया का रोग हो जाने की संभावना रहती है। हमारी वर्तमान जात-पांत की प्रथा भी हिस्टीरिया रोग का कारण बन जाती है। जात के प्रतिबंध के कारण बहुत सी लड़कियों का विवाह उन युवकों के साथ नहीं होता जिन्हें वे प्यार करती हैं, वरन् किसी अनजाने व्यक्ति से होता है। इस प्रकार का विवाह मानसिक संघर्ष और मानसिक रोग का कारण बनता है।

उन्माद का रोग बहुत-सी ऐसी युवतियों को हो जाता है जिनका विवाह देखने में अनाकर्षक अथवा अवस्था में बहुत बड़े व्यक्तियों से हो जाता है। किशोर बालिकाओं का प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ विवाह किया जाना उन्माद रोग का कारण होता है। जब कोई पुरुष दूसरी बार शादी करता है और पहली स्त्री से उसे सन्तान रहती है तो नव वधू को हिस्टीरिया रोग होने की सम्भावना रहती है। यदि पति के घर में अशान्ति का वातावरण रहा तो यह सम्भावना और भी बढ़ जाती है पति के तिरस्कार के कारण भी हिस्टीरिया रोग उत्पन्न हो जाता है।

लेखक के पास कुछ दिन पूर्व एक कालेज के अध्यापक आये। इन्हें लेखक के एक मित्र ने जो पश्चिमी चिकित्सा के विशेषज्ञ हैं भेजा था। इनकी धर्मपत्नी को एकाएक उन्माद का आवेश आ गया

था। इसके कारण वह मूर्छित हो जाती थी और मूर्छा की अवस्था में अनेक प्रकार की निरर्थक क्रियायें करती थी। घर में दुख की परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी।

रोग के इतिहास के अध्ययन करने पर पता चला कि यह रोग कुछ दिनों के बाद बार बार होता रहता है। पहले पहल रोगिणी को यह रोग तब हुआ था जब कि रोगी का पति उसकी इच्छा के प्रतिकूल दस पन्द्रह दिन के लिये बाहर घूमने चला गया था। उसने कुछ बड़े बड़े शहरों की सैर की। जब वहाँ से लौटकर आया तो उसने अपनी स्त्री को बीमार पाया। डाक्टरों ने इसे हिस्टीरिया का रोग बताया। इस रोग का मानसिक कारण महिला के मन में पति के प्रति सन्देह की भावना थी। उसे ज्ञात होता था कि वह पति के द्वारा तिरस्कृत हो रही है। आगे चलकर जब कभी भी पति के द्वारा तिरस्कार की परिस्थित उत्पन्न होती थी उक्त महिला को रोग का दौरा हो जाया करता था। जिस समय यह अध्यापक लेखक के पास आया उस समय भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसके कारण रोगिणी का मन चिन्तित हो गया था। अध्यापक महोदय अपने घर से कुछ दूर पर अर्थात् बनारस में नौकरी करते हैं। यहाँ वे अपनी स्त्री और बच्चों के साथ रहते हैं। इस समय उनके माता पिता गंगास्नान करने और अपने पुत्र से मिलने आये हुए थे। सास ने बहू की कुछ बातों की आलोचना की थी। पतोहु ने सास की बातों को ऐसे तो सुन लिया परन्तु मन ही मन वह बहुत दुखी हुई। ऐसी अवस्था में ही उन्माद के आवेश का दौरा हो गया। अपनी पतोहू की अस्वस्थ अवस्था को जानकर अध्यापक के माता-पिता अपने पुत्र की सहायता के लिये रह गये। इससे पतोहू का रोग घटा नहीं, वरन और बढ़ गया।

रोग के उपचारार्थ लेखक ने उन्हें पहली सलाह यही दी कि अध्यापक महोदय अपने माता पिता को तुरन्त ही अपने देहात के घर भेज दें और अपनी पत्नि की सेवा स्वयं ही करें। दूसरी सलाह

रोगी के प्रति सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करने की थी। इस प्रकार की सलाह अध्यापक महोदय ने मान ली और उसके अनुसार कार्य करने से उनकी स्त्री का रोग उस समय के लिये शान्त हो गया।

उन्माद का रोग संक्रामक होता है। कहा जाता है कि एक स्त्री का भूत दूसरी को लग जाता है। वास्तव में इस प्रकार का भूत का लगना उन्माद के रोग की संक्रामकता को दर्शाता है। यदि किसी बड़े परिवार में एक स्त्री को उन्माद का रोग हो तो दूसरी स्त्रियों को भी छूत की बीमारी की तरह इससे ग्रसित रहने की सम्भावना रहती है। परन्तु उन्माद का इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे पर जाने का कारण हमें रोग की संक्रामकता को ही न मान लेना चाहिये। जिस प्रकार भौतिक रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर तभी जाते हैं जब दोनों व्यक्तियों के साधारण स्वास्थ्य में समानता रहती है, इसी प्रकार कोई भी मानसिक रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर तभी जाता है जब दोनों व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य में समानता रहती है। रोग की सामग्री जब किसी व्यक्ति के मन में पहले से ही उपस्थित रहती है तो साधारण सी कोई घटना एक चिनगारी का काम कर देती है, और फिर रोग बाहरी क्रियाकलापों में प्रकाशित होने लगता है।

उन्माद का रोग कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करने से बचने की मनोवृत्ति को दर्शाता है। इस रोग के आने के पूर्व रोगी किसी कठिन परिस्थिति में पड़ा हुआ रहता है। और उससे वह मुक्त होने की चेष्टा करता है। उसका बाहरी वातावरण अप्रिय होता है। जब मनुष्य का वर्तमान जीवन दुखद रहता है तो वह स्वभावतः अपने अतीत काल के विषय में सोचने लगता है। वह चाहता है कि वह सदा अतीत ही में रहा करे। परन्तु उसका वर्तमान स्वत्व यह नहीं चाहता। उसकी व्यावहारिक और नैतिक बुद्धि उसे अतीत को भुलाने और वर्तमान में रहने के लिये बाध्य करती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति के मन के दो भाग हो जाते हैं एक भाग अतीत में रहने का

इच्छुक होता है और दूसरा वर्तमान काल में रहना उचित समझता है। जब मनुष्य का व्यावहारिक और नैतिक स्वत्व रोगी को अतीत काल में रहने नहीं देता है तो रोगी अतीत के प्रतीकों का अवलम्बन लेता है। इस प्रकार रोगी अनेक ऐसी क्रियायें करने लगता है जिन का अर्थ न तो दूसरे लोग समझ सकते हैं और न स्वयं रोगी समझता है।

रुपान्तरित उन्माद

उन्माद का रोग कभी कभी शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार के रोग को कनवरसन हिस्टीरिया अर्थात् रुपान्तरित उन्माद कहा जाता है। रुपान्तरित उन्माद की अवस्था में शरीर का कोई विशेष अंग कार्य नहीं करता अथवा रोगी के किसी विशेष अंग में अकारण पीड़ा होती है। कभी कभी रोगी की आँख पूर्णतः स्वस्थ रहने पर भी उसे दिखाई नहीं देता कभी किसी विशेष अंग में, जैसे हाथ अथवा पैर में, लकवा हो जाता है। कुछ रोगियों को रुपान्तरित उन्माद की अवस्था में कुपच अथवा वमन का रोग हो जाता है। वे जो कुछ खावें सब कै के रूप में बाहर निकल जाता है। महीनों ठहरनेवाला सिर का दर्द भी रुपान्तरित उन्माद का एक प्रकार है। रुपान्तरित उन्माद की एक विशेषता यह रहती है कि रोगी का कोई भी अंग वास्तव में अस्वस्थ नहीं रहता। अंग में किसी भौतिक खराबी के न होते हुए भी वह अपना काम नहीं करता है। वास्तव में इस प्रकार की स्थिति रोगी के भीतरी मन की उस अंग को काम में न लाने की इच्छा के कारण उत्पन्न होती है। देखा गया है कि साधारण लकवा के रोगी अपने अस्वस्थ अंगों को काम में लाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु रुपान्तरित हिस्टीरिया के रोगी अपने अस्वस्थ अंगों से काम लेने की चेष्टा नहीं करते। यह रुपान्तरित हिस्टीरिया के रोग की विशेषता है। रोगी वास्तव में अपने रोग को छोड़ना नहीं चाहता। रोग उसे किसी अप्रिय परिस्थिति से अथवा

कर्तव्य से बचने का साधन होता है। इस प्रसंग में हालिंगवर्थ महाशय का अपनी 'एबनारमल साइकालाजी' नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक युवती के पिता ने एक ऐसे व्यक्ति से उसका विवाह करना निश्चित किया जो देखने में अनाकर्षक और उससे बहुत बड़ी उमर का था। जब यह व्यक्ति इस युवती के पास उसका प्रेम प्राप्त करने पहली ही बार गया तभी उसे भयानक वमन का रोग प्रारम्भ हो गया। इस व्यक्ति के आने के पूर्व युवती ने उससे विवाह करने का विरोध किया था और इस सम्बन्ध में उसकी उसके माता-पिता से बहुत कुछ कहा सुनी हो गई थी। उक्त घटना के पश्चात् जब कभी वह व्यक्ति आता युवती को उसको देखते ही उसी समय वमन हो जाता था। इसके कारण उस युवती का उक्त व्यक्ति के साथ प्रेम सम्मेलन ही न हो सका और इस रोग के कारण ही व्यक्ति को उस युवती के साथ विवाह करने की इच्छा छोड़ देनी पड़ी।

लेखक के एक मित्र की एक लड़की को इसी प्रकार का वमन का रोग हो गया था। यह रोग इस लड़की के विवाह होने के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। पहले पहल उसे रोग तब हुआ जब वह विवाह के पश्चात् पति के घर पहली बार गई थी रोग के कारण उसे अपने पिता के घर पर ही रहना पड़ा। पति एक स्कूल का प्रधान अध्यापक था, उसे अपनी पहली स्त्री से दो बच्चे थे। उसे अपनी स्त्री की सेवा करने की फुरसत नहीं थी; अतएव रोग की अवस्था में अपनी नववधू को उसके पिता के घर छोड़ देना स्वाभाविक था। जैसे जैसे इस रोग का उपचार होते गया वह रोग बढ़ता ही गया। रोगिणी का वजन ११२ पौन्ड से घट कर ७२ पौन्ड रह गया। भौतिक उपचार से जब रोगिणी को कोई लाभ होते न दिखाई दिया तब मानसोपचार का आश्रय लिया गया। रोग का कारण अध्ययन करने पर पता चला कि रोगिणी का प्रेम किसी दूसरे ही नवयुवक से विवाह के पूर्व हो गया था। वह व्यक्ति रूप में बड़ा सुन्दर, वाणी में मधुर और सभी

प्रकार से आकर्षक था। उसकी अवस्था महिला से दो एक वर्ष अधिक थी। उसका पति ठीक विरुद्ध गुणोंवाला था। उसकी अवस्था महिला से लगभग दूगुनी थी। उसके दो बच्चे थे उसका चेहरा अनाकर्षक और बोली भी कठोर थी। उसने अपनी मूछें लम्बी लम्बी बढ़ा ली थीं। आचार व्यवहार में भी वह कोमल और आकर्षक न होकर रूखा और अनाकर्षक था। प्रत्येक युवती रूप और व्यवहार के सौन्दर्य से आकर्षित होती है। अपने पति में सब प्रकार का रूखापन देखकर उसे किसी न किसी प्रकार का रोग होना स्वाभाविक ही था। वास्तव में युवती रोग के द्वारा पति से जी छुड़ाने का प्रयत्न करती थी। उसका पति बहुत ही उदार हृदय का व्यक्ति है। वह ऊपर से तो अनाकर्षक है, परन्तु हृदय से बड़ा ही कोमल है। उक्त महिला का जीना असंभव हो जाता यदि उसका पति उसके रोग का कारण जानकर उसके साथ निष्ठुरता का व्यवहार करता। पति की सहायता से ही इस महिला का लेखक के द्वारा सफल उपचार हो सका।

उन्माद के रोग का उपचार

फ्रांस के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक इमील कूये महाशय निर्देश विधि के द्वारा विभिन्न प्रकार के उन्मादों का उपचार किया करते थे। उज्जैन के डाक्टर दुर्गाशंकर नागर और लखनऊ के दीपनरायणसिंह जी इस विधि से उपचार करते हैं। भारतवर्ष के सभी स्थानों में गाँव गाँव में ओझा लोग रहते हैं। ये लोग हिस्टीरिया को भूत बाधा समझकर झाड़ फूंक और मनौतियों के द्वारा हिस्टीरिया का उपचार किया करते हैं। डा० दुर्गाशंकर नागर के आश्रम में भी अन्य उपचार के साथ साथ ओझा लोगों के उपचार की विधि को भी काम में लाया जाता है।

डा० फ्रायड ने निर्देश चिकित्सा विधि को दोषयुक्त विधि कहा है। इस विधि से स्थायी लाभ नहीं होता। उन्होंने इस रोग के उपचार के लिए मनोविश्लेषण विधि की खोज की। मनोविश्लेषण विधि में रोग को जानने की चेष्टा की जाती है और रोगी के दलित भावों

का रेचन किया जाता है। इस विधि का पूरा परिचय आगे के एक परिच्छेद में दिया जायगा। इस विधि की सफलता का मूल मंत्र रोगी का चिकित्सक के प्रति सद्भावना उत्पन्न होना, अपने दबे भावों का चिकित्सक के ऊपर आरोपित होना और चिकित्सक के प्रति अपने आप को समर्पित कर देना है। रोगी और चिकित्सक में जितना ही अधिक सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो जाता है उतने ही जल्दी रोगी को लाभ होता है। फिर चिकित्सक अपने निर्देश के द्वारा रोगी की सद्भावना और प्रेम को उचित पात्र की ओर मोड़ देता है। यह कार्य वास्तव में बड़ा ही कठिन है और इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये चिकित्सक को बड़े त्याग और परिश्रम की आवश्यकता होती है। यहाँ पर लेखक के अनुभव में आने वाले दो एक उपचार के दृष्टान्त उल्लेखनीय हैं—

पहला उदाहरण उसी महिला का है जिसका वृतांत वमन रोग का वर्णन करते समय किया गया है। यह महिला अपने एक मित्र की लड़की है अतएव लेखक ने बड़ी ही लगन के साथ सहानुपूर्ण उपचार किया। लेखक कई बार उसके घर, जो कुछ मील दूर पर था, गया। इस प्रकार के व्यवहार के कारण घर के सभी लोगों का स्नेह लेखक के प्रति बढ़ गया। रोगी महिला भी उसे स्नेह की दृष्टि से देखने लगी। उस ने अनेक प्रकार की बातचीत लेखक से की। महिला का पति भी लेखक का शिष्य था। उसे मनोविज्ञान की बातों में पहले से ही रुचि थी। वह इस प्रकार के रोगों का साधारण कारण भी जानता था। पर सहृदय व्यक्ति होने के कारण उसने अपनी स्त्री को स्वस्थ बनाने का निश्चय किया। महिला ने धीरे धीरे अपने मन की सभी बातों को अपने पति से कह सुनाया। यहाँ तक कि उसने अपने पुराने प्रेम-सम्बन्ध को भी पति से कह दिया। इस युवक ने ये सब बातें लेखक से कहीं। जब लेखक को दोनों व्यक्ति का विश्वास प्राप्त हो गया तो रोग का उपचार करना कठिन न रहा। लेखक ने एक दिन उस महिला को उसके पति के प्रति अपने

स्नेह को बताया। उसके सामने उसके पति का अठारह वर्ष की अवस्था का सुन्दर चित्र कल्पना में दर्शाया। यह युवक उस समय बहुत ही आकर्सक था। युवक का युवति के प्रति प्रेम का भी एक सुन्दर चित्र बताया गया। इस सब बातचीत के परिणामस्वरूप दोनों व्यक्तियों में धीरे धीरे स्नेह बढ़ने लगा और अन्त में उस महिला का रोग बिल्कुल नष्ट हो गया। जब दम्पति को एक बच्चा पैदा हो गया तो युवती का रोग सब समय के लिये चला गया। अब दोनों व्यक्ति सानन्द हैं।

हिस्टीरिया के रोग से पीड़ित एक दूसरी महिला के उपचार का वृत्तांत भी यहाँ उल्लेखनीय है। इस महिला का रोग पहली महिला से अधिक जटिल था। इस महिला की आयु ३५ साल की थी। वह हर समय कुछ न कुछ बड़बड़ाती रहती थी। वह एक सम्पन्न व्यक्ति की स्त्री है। परन्तु वह अपनी बेष भूषा को सर्वथा कुरुप बनाने की चेष्टा करती है। लेखक ने जब इस महिला को पहले देखा तो वह एक फटी साड़ी पहने हुई थी। उस के हाथ पैर या गले में कोई आभूषण नहीं था। वह किसी स्थान पर देर तक नहीं ठहर सकती थी। अपने हाथों से वह अनेक प्रकार के निरर्थक संकेत करती थी।

यह महिला घर के सब लोगों से झगड़ती रहती थी और इसके कारण उसका पति उसे बार बार पीटता था। अपनी विक्षिप्तावस्था में वह कभी कभी अपनी सास और नौकरों को पीट देती थी। इस के कारण वह स्वयं भी पति के द्वारा पीटी जाती थी।

रोग का कारण खोजने पर पता चलाकि-उसके रोग का प्रारम्भ उसके एक लड़के के मरने के पश्चात् हुआ। घर में उसके प्रति बड़ा कठोर व्यवहार होता था। उसकी सास और ननद उससे अनेक प्रकार का झगड़ा करती थी और फिर जब वह उनकी किसी खरी खोटी बात का उत्तर देती तो वे उसके पति से उसकी चुगली करती थीं। इस पर उसका पति उसे गाली गलौज करता और कई बार मार

पीट भी देता था। इस तरह उस महिला और उसके पति में द्वेष बुद्धि बढ़ती गई। यह महिला अधिक रुपवतो नहीं हैं। अतएव पति का उस के प्रति विशेष आकर्षण पहले से ही नहीं था परन्तु जब उसने अपनी माँ और बहिन से उसको निन्दा को बातें सुनी तो उसका अपनी स्त्री के प्रति प्रेम और भी कम हो गया। वह छिपे छिपे एक दूसरी युवती से प्रेम करने लगा। रोगिणी को इस प्रेम का पता चल गया था। अतएव उसका रोग और भी भयानक हो गया।

रोगिणी अपने पुत्र के सिवाय दूसरे व्यक्तियों से बात चीत नहीं करती थी। जब तक उसका लड़का उसके साथ रहा-उसका रोग साधारण अवस्था में रहा, परन्तु जब वह घर से दूर जाकर पढ़ने लगा तो उसका रोग बढ़ गया। लेखक ने इस महिला के उपचार में उसके पुत्र से ही सहायता ली। इस महिला का घर का जीवन बड़ा दुखी था अतएव उसे कुछ दिनों के लिये घर से दूर रखा गया। उनके साथ प्रति दिन सहानुभूति पूर्वक बात चीत की जाती थी। यह बात चीत किसी घरेलू बात के बारे में होती थी। यहाँ पर परिस्थिति ऐसी थी कि महिला के प्रारम्भिक प्रेम संस्कारों के विषय में जानकारी बढ़ाना अथवा उन्हें रोगिणी की वर्तमान चेतना के समक्ष लाना असम्भव था। सहानुभूति पूर्ण व्यवहार से इतना अवश्य लाभ हुआ कि यह महिला अब बहुत कुछ साधारण व्यक्ति जैसा आचार व्यवहार करने लगी। वह अपने आप को सुन्दर कपड़े और गहने पहिन कर सजाने की भी चेष्टा करती थी। उसकी अन्य चेष्टाओं से पता चला कि वह प्रेम की भूखी है और उसका जीवन निराशामय है। उस के पति को सलाह दी गई कि वह उस महिला प्रति अपना व्यवहार बदले। जहाँ तक उसने अपना व्यवहार बदला महिला को लाभ हुआ। वह पहले घर के बाहर नहीं निकल सकती थी परन्तु इस उपचार के परिणाम स्वरूप वह बाहर घूमने जाने लगी और घर का काम धन्धा अपने आप करने लगी।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मानसिक रोग न एकाएक

आते हैं और न एकाएक सदा के लिये चले जाते हैं। कई दिनों के उपचार के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य की दबी मनोभावनाओं का रेचन होता है और उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन होता है। यदि उपचार के समय में कोई बाधा उपस्थित हो तो रोग फिर से जैसा का तैसा हो जाता है। इस महिला के विषय में यही हुआ। उसकी मानसिक अवस्था तभी तक सुधरी जब तक वह अपने घर से बाहर रही। जब वह फिर अपने घर वापिस गई और जब पुराना वातावरण उसके सामने फिर से उपस्थित हुआ तो जैसा वह पहले थी वैसी ही हो गई।

सत्रहवाँ प्रकरण

मानसिक रोगों से बचने के सामान्य उपाय

बाल्यकाल और मानसिक रोग

रोग का आगमन रोकना उसकी चिकित्सा से अधिक भला होता है। मानसिक रोगों की जड़ मनुष्य के बाल्यकाल के वातावरण में रहती है। माता-पिता के अज्ञान के कारण बहुत से लोगों का जीवन सदा के लिये दुःखी हो जाता है। मानसिक रोग मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। मातापिता का मनोविज्ञान के ज्ञान का अभाव बच्चों के मानसिक रोग का कारण बन जाता है और यह रोग की प्रवृत्ति प्रौढ़ावस्था में भी जारी रहता है। फिर अपने आप मनोविज्ञान का ज्ञान न रहने के कारण प्रौढ़ व्यक्तियों को रोग होता है।

कुछ लोगों में मानसिक रोग पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में आता है। कभी-कभी विशेष प्रकार की शरीर की रचना और शारीरिक स्वास्थ्य मानसिक रोग के कारण बन जाते हैं। माता अथवा पिता में मानसिक रोग की उपस्थिति होने से संतान में भी मानसिक रोग की ओर प्रवृत्ति होती है। इसका कारण वातावरण में उपस्थित संस्कार ही होते हैं। बालक का सहज आचरण उसी प्रकार का होता है जिस जिस प्रकार का आचरण उसके सम्बन्धियों का होता है। बालक की मानसिक शक्ति का प्रवाह उसी प्रकार का होने लगता है जिस प्रकार माता-पिता की मानसिक शक्ति प्रवाहित होती है।

जब माता अथव पिता का जीवन एकाङ्गी होता है, जब उनमें मानसिक रोग की उपस्थित होती है तो बालक के प्रति अपने व्यवहार

से ही वे मानसिक रोग की उत्पत्ति कर देते हैं। पिता का अति आदर्श वादी होना, उसका बालक को बात बात में शिक्षा देना बालक में मानसिक रोग उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जिन बालकों को अधिक लाड़ से रखा जाता है, उनको प्रत्येक इच्छाओं की तुरंत पूर्ति की जाती है वे भी मानसिक रोग के शिकार बन जाते हैं। लाड़ में पली हुई बालिकाओं को हिस्टीरिया का रोग हो जाता है। बालकों को भावी मानसिक रोग से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें एक ओर समुचित प्यार दिया जाय और उनकी इच्छाओं की समुचित तृप्ति की जाय, परन्तु इसके लिये बालकों में आत्म संयम की आदत डालना और परिश्रम करने का अभ्यास डालना भी नितांत आवश्यक है। जिस बालक को प्रारम्भ से ही कठिन परिस्थितियों का सामना करने का अभ्यास रहता है और अपनी कठिनाइयों को पार करने का जिसे अभ्यास कराया जाता है वह आगे चल कर मानसिक रोग का शिकार नहीं होता।

कितने ही धनी घर के बालकों में मानसिक रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण बालकों को किसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने के अभ्यास की कमी होती है। धनी घर के बालकों का जीवन बड़ा सुगम होता है। उन्हें दुलरवा बना कर रखा जाता है। ऐसे बालकों की मानसिक शक्ति उर्ध्वगामी नहीं होती; वह अधोगामी ही बनी रहती है। धनी घर के बालकों में इन्द्रिय सुख की प्रवृत्ति प्रबल होती है। बारबार इन्द्रिय सुख के मिलने के कारण उन्हें उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव नहीं हो पाता और इसके कारण उनकी उस ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती। अधिक कोमल जीवन के बालक इस दृष्टि से अभागे होते हैं। बहुत से धनी घरों में दाइयों और नौकर बालकों का लालन पालन करते हैं। ये नौकर बालकों में अनेक प्रकार के कुसंस्कार डाल देते हैं। ये मानसिक रोग का कारण बन जाते हैं। कितनी ही दाइयों की मानसिक प्रवृत्तियाँ निम्न कोटि की होती हैं; वे इन प्रवृत्तियों को बालक में भी डाल देती हैं।

कितने ही धनीश्वर के नौकर शिशु की जननेन्द्रिय से किलोल करते हैं; बालक को प्रसन्न करने के लिये उसके बारे में अनेक प्रश्न करते और उसे उत्तेजित करते हैं। बालक की जननेन्द्रिय को इस प्रकार उत्तेजित करने से बालक की भारी क्षति होती है। उसमें समय के पूर्व कामुकता की प्रवृत्ति बढ़ जाती है जो आगे चल कर मानसिक रोग का कारण बन जाता है। जिन बालकों की शैशवावस्था में जननेन्द्रिय उत्तेजित की जाती है उन्हें किशोरावस्था में हस्तमैथुन की आदत सरलता से लग जाती है और फिर यह आदत प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटती। इसके कारण बालक के मन में अनेक प्रकार के मानसिक संघर्ष होते हैं और मानसिक रोगों की स्थिति उत्पन्न हो हो जाती है।

मानसिक रोग बालक को समय के पूर्व नैतिक शिक्षा देने के कारण भी उत्पन्न हो जाते हैं। नैतिक शिक्षा के परिणाम स्वरूप बालक में भले बुरे कामों का विचार तो आ जाता है, पर उन्हें करने की शक्ति नहीं रहती। जिन बालकों को पहले लाड़ के वातावरण में रखा जाता है और पीछे कठोर नैतिक नियमों की शिक्षा दी जाती है उनमें मानसिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। समय के पूर्व नैतिक शिक्षा के परिणाम स्वरूप बालक अपने आप से केवल घृणा करना सीख लेता है। वह अपनी काम-वासना को एक घृणित तत्व मानने लगता है और काम कृत्यों के लिये वह अपनी भर्त्सना मन ही मन करता रहता है। इस प्रकार काम-वासना का दमन हो जाता और वह प्रतिगामिनी हो जाती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का भावात्मक जीवन विकसित नहीं हो पाता। वह अपने आप में आत्मविश्वास की कमी की अनुभूति करने लगता है। कामवासना के प्रति घृणा की भावना वातावरण की वस्तुओं के प्रति घृणा की भावना में प्रकाशित होती है। सफाई की अत्यधिक झक भी ऐसे लोगों में लग जाती है। अपने आस पास गंदगी ही गंदगी देखना, सदा सफाई के लिये

अत्याधिक सावधान रहना मन में बैठी गंदगी की भावना का प्रतीक है। यह गंदगी की भावना समय के पूर्व अधिक नैतिक शिक्षा देने के कारण उत्पन्न होती है।

बालक में जो नैतिकता का विकास धीरे धीरे होता है वह स्थायी रहता है। इस प्रकार की नैतिकता से बालक की मानसिक शक्ति प्रतिगामी न बनकर रोगामी बनती है। स्थायी नैतिक भावना के लिये बालक को अनेक प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता होती है। प्रयत्न और भूल के पश्चात् बालक में जो नैतिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह अपने अनुभव की दृढ़ भूमि पर स्थित रहता है। ऐसा ज्ञान ही बालक के जीवन को उच्चकोटि का बनता है। जो ज्ञान दूसरे लोगों द्वारा बालक पर बरबस लाद दिया जाता है वह मानसिक संघर्ष और मानसिक रोग का कारण हो जाता है।

जब तक बालक में अपने आपको सम्हालने की शक्ति नहीं आई तबतक माता पिता उसके मानसिक रोग अथवा स्वास्थ के लिए जिम्मेदार रहते हैं। जब बालक में अपने आपको सम्हालने की शक्ति आ जाती है तो वह स्वयं ही अपने मानसिक रोगों का जिम्मेदार रहता है। मनुष्य के बहुत से मानसिक रोगों के लिए वह स्वयं ही जिम्मेदार होता है मनुष्य के व्यक्तित्व की बनावट प्रारंभ से चाहे जैसी हो वह स्वयं अपने प्रयत्न से उसमें परिवर्तन कर सकता है। अंग्रेजी में कहावत है कि शरीर माता पिता की देन होती है पर चरित्र अपने आप अर्जित किया जाता है। मनुष्य को अपने चरित्र को अपने आप बनाना पड़ता है।

योग्य चरित्र के निर्माण के लिए मनुष्य को अपने आपको समझना पड़ता है और अपने स्वत्व के भावात्मक और विवेकात्मक तत्वों में समन्वय स्थापित करना होता है। योग्य चरित्र एकाङ्गी नहीं होता। उसमें क्रिया और ज्ञान, भाव और विवेक को समुचित स्थान रहता है। इस प्रकार के चरित्र के उपार्जन के लिए मनुष्य को अपनी सभी वृत्तियों का अध्ययन करना पड़ता और उनको समझ कर मानसिक शक्ति

के सदुपयोग का मार्ग निकालना पड़ता है। जो व्यक्ति अपनी कमजोरी के विषय में सतर्क है और जो अपना सुधार करना चाहता है वह मानसिक संघर्ष की अनुभूति भले ही करे मानसिक रोगी नहीं बनता। मानसिक संघर्ष की अनुभूति मानसिक विकास के लिए अर्थात् मानसिक शक्ति के ऊर्ध्वगामी होने के लिए आवश्यक है। जब यह संघर्ष चेतन मन में चलता है और इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य अपनी अधोगामी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है तो उसके व्यक्तित्व के लिए लाभ होता है। परन्तु व्यक्ति जब इस संघर्ष को भुलाने की चेष्टा करता है; किसी आत्मग्लानि जनक घटना के कारण वह अपनी निम्नकोटि की वासना को स्वीकार ही नहीं करता तो यह संघर्ष मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये हानिकारक हो जाता है। सफल मानसिक नियंत्रण अर्थात् आत्मसंयम मानसिक रोग का निरोध करता है और असफल मानसिक नियंत्रण अर्थात् मानसिक संघर्ष से भागने की मनोवृत्ति मानसिक रोग को उत्पन्न करती है।

मानसिक रोग की स्थिति निम्नकोटि की वासनाओं के बार बार उत्तेजित न होने और फिर उनके एकाएक रुकवट हो जाने से उत्पन्न होती है। अतएव जो व्यक्ति मानसिक रोग में नहीं पड़ना चाहते उन्हें पहले से ही उन प्रवृत्तियों को अधिक उत्तेजित न करना चाहिए जिनका पीछे नियत्रण करना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसरों से मनुष्य को अपने आपको बचाते रहना चाहिये जिनमें उसकी काम वासना बार बार उत्तेजित होती है। जो व्यक्ति कामवासना को बार बार उत्तेजित होने देता है वह अपनी शक्ति को व्यर्थ ही खर्च कर डालता है। उसके व्यक्तित्व का कोई विकास नहीं होता। वह पाशविकता की अवस्था में ही पड़ा रहता है। परन्तु जो कामवासना का आत्मग्लानि पूर्वक एकाएक दमन करने की चेष्टा करता है वह मानसिक रोगी बन जाता है। अतएव मानसिक रोग के रोकने के लिए यह आवश्यक है कि पहले से ही मनुष्य उन बातों के प्रति सावधान रहे जो उसकी वासना को उत्तेजित करती है।

व्यक्ति की किशोरावस्था में ही कामवासना की अधिक उत्तेजना होती है। इसी समय से बालकों में आत्म-नियंत्रण का अभ्यास डालना चाहिये। भद्दी काम-उत्तेजक बातचीत करना, अश्लील गाने गाना, काम उत्तेजक कहानियां और उपन्यास पढ़ना, सिनेमा बार बार जाना आदि सभी बातें हानिकारक होती हैं। बालकों को कड़े विस्तर पर सोने का, सबेरे ठंडे पानी में स्नान करने का, प्रतिदिन स्वच्छ वायु में घूमने का और व्यायाम करने का अभ्यास कराना चाहिये। इससे काम वासना की उत्तेजना कम होती है। फिर इस तरह की आदत अपने आप में सदा के लिए डाल लेना चाहिये।

मानसिक रोगों से बचने के लिये नियमित रूप से उपवास करना भी आवश्यक है। उपवास करने से मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवती होती है। जिस व्यक्ति की इच्छा शक्ति बलवती है वह मानसिक रोगों का शिकार नहीं होता। देखा गया है कि मानसिक रोगियों में उपवास करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। वे दिन भर खाने के लिए उतावले रहते हैं। जिन लोगों को कल्पित शारीरिक रोग और विशेष कर पेट से रोग होते हैं उनमें अपने आप पर खाने के विषय में नियंत्रण करने की शक्ति बहुत ही कम होती है। यदि प्रारंभ से ही कोई व्यक्ति अपने आप में उपवास करने की आदत डाले तो उसके अनेक प्रकार के मानसिक रोग सहज में नष्ट हो जायँ।

मानसिक रोगों का प्रधान कारण काम वासना का असफल नियंत्रण होता है। काम वासना के सफल नियंत्रण के लिये उसका आत्म-ग्लानि पूर्वक दमन करना उचित नहीं उसके प्रति उचित दृष्टिकोण रखना आवश्यक होता है। काम शक्ति जीवन दायिनी शक्ति है; इसके सदुपयोग से मनुष्य का जीवन प्रस्फुरित होता है और उसके दुरुपयोग से अथवा दमन से मनुष्य के व्यक्तित्व का ह्रास होता है। काम वासना का सफल नियंत्रण दूसरी प्रकार की बातों में सफल नियंत्रण से होता है। यहाँ रूस के प्रसिद्ध लेखक टालस्टाय महाशय का उपदेश उपादेय है।

टाल्सटाय महाशय का कथन है कि जो व्यक्ति आत्म-नियंत्रण प्राप्त करना चाहता है उसे सूक्ष्म बातों से प्रारम्भ न करके स्थूल बातों से प्रारम्भ करना चाहिये। जो व्यक्ति अपनी काम-वासना का नियंत्रण करना चाहता है उसे आलस्य और प्रमाद के ऊपर नियंत्रण करना आवश्यक है और आलस्य के ऊपर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये अहार पर नियंत्रण करना आवश्यक है। अतएव नियमित समय पर भोजन करना समय समय पर उपवास करते रहना, सादे भोजन का अभ्यास डालना, अधिक मीठे और तीते पदार्थों को न खाना अहार पर नियंत्रण प्राप्ति के उपाय हैं। जब मनुष्य का अहार पर नियंत्रण हो जाता है तब उसका शरीर उसके काबू में रहता है। वह उसे जिस काम में लगाना चाहता है वह उसमें उसे लगाने से समर्थ होता है। उसमें अलस्य की कमी हो जाती है और उसका मन व्यर्थ मनोराज्य में विचरण नहीं करता। ऐसा व्यक्ति ही अपनी काम-वासना को अपने नियंत्रण में रखने में समर्थ होता है कामवासना के नियंत्रण में मनुष्य को आत्म-नियंत्रण का नित्य प्रति का अभ्यास भी काम में आता है।

काम वासना के नियंत्रण के लिये और मानसिक रोगों का आगमन रोकने के लिये मानसिक शक्ति का केवल अवरोध मात्र करना उचित नहीं। अवरुद्ध शक्ति का जबतक सदुपयोग नहीं होता वह मानसिक रोगों को उत्पन्न करती है। अतएव सदा किसी महत्व के कार्य में दत्त चित्त रहने से मानसिक रोगों का आगमन रुका रहता है। यह रोगों के निराकरण का भी सर्वोत्तम उपाय है। जो शक्ति हानिकारक क्रियाओं में प्रकट होती है उसी शक्ति से मनुष्य अपना और दूसरों का अनेक प्रकार का उपकार कर सकता है। जिस व्यक्ति का मन पूरी तरह से किसी बड़े काम में लगा है वह मानसिक रोग का भागी नहीं होता।

शक्ति के प्रत्येक प्रकार के प्रकाशन से आनन्द की अनुभूति होती है। शक्ति का प्रकाशन निम्नकोटि की क्रियाओं में हो सकता है

अथवा उच्च कोटि की रचनात्मक क्रियाओं में जिस व्यक्ति को उच्चकोटि की रचनात्मक क्रियाओं के आनन्द का अनुभूति हो चुकी है वह निम्नकोटि के आनन्द का लालायित नहीं रहता। मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य आनन्द की अनुभूति से ही स्थिर रहता है। काम वासना का आनन्द इस स्वास्थ की रक्षा कुछ दूर तक करता है, परन्तु इससे भी अधिक रचनात्मक कार्यों का आनन्द रक्षा करता है। अतएव किसी रचनात्मक कार्य में अपने आप को लगाये रखना मानसिक रोगों को दूर रखने का सर्वोत्तम उपाय है। मानसिक रोग उसी व्यक्ति को होते हैं जिसका मन किसी रचनात्मक कार्य में पूरी तरह से नहीं लगा रहता। जो व्यक्ति पूरे मन से अपने काम में लगा हुआ है वह मानसिक रोग का भागी कदापि नहीं होता। सदा किसी न किसी लोकोपकारी काम में लगे रहना चाहे दूसरे प्रकार का कोई पुरुष्कार लावें अथवा नहीं, इससे इतना तो काम अवश्य होता है कि मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास होता है और व्यक्ति को रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। इसके कारण उसे मानसिक रोग नहीं होते। भगवान् कृष्ण ने निष्काम कर्म का सबसे बड़ा पुरुष्कार यही बताया है कि इससे मानसिक शुद्धि होती है। इस मानसिक शुद्धि से मानसिक रोगों का आगमन नहीं होता। अतएव अपने आप को सदा किसी रचनात्मक कार्य में लगाये रखना मानसिक रोगों के निराकरण का सर्वोत्तम उपाय है।

मानसिक रोग अपने आपको बार बार उद्विग्न अवस्था में लाने से होता है। जिस व्यक्ति को मानसिक साम्य रखने का अभ्यास है, उसे मानसिक रोग नहीं होते। मानसिक साम्य बनाये रखने के लिये धार्मिक ग्रन्थों का पढ़ना, दार्शनिक विचारों में मन को लगाना और शैथलीकरण का अभ्यास करना भी आवश्यक है। इस प्रकार का प्रति दिन का अभ्यास आपत्ति काल के समय काम में आता है। जिस प्रकार किसी शहर की टंकी का पानी शहर के किसी स्थान में आग लग जाने पर काम में आ जाता है, इसी प्रकार प्रतिदिन का

शैथिली करण का अभ्यास मनुष्य की मानसिक उद्विग्नता की स्थिति में काम में आता है। जिन लोगों के धार्मिक अथवा दार्शनिक विचार दृढ़ होते हैं जो उन विचारों पर नित्य प्रति चिन्तन करते हैं और उनके अनुसार अपना आचरण बनाते हैं, उन्हें मानसिक रोग त्रास नहीं देते। संसार में मानसिक रोगों की वृद्धि तभी से हो गई जब से मनुष्य में बाहरी जीवन के लिये अधिक लगन हो गई। जो लोग अपने जीवन को इन्द्रिय सुख के लिये ही खर्च कर रहे हैं उन्हें मानसिक रोग का होना स्वाभाविक है। इन रोगों के द्वारा मनुष्य अपनी बाहरी पदार्थों के प्रति आसक्ति को कम करता है और अन्तर्दर्शी बनने की चेष्टा करता है। मानसिक रोग की अवस्था में सभी विषय-सुख अप्रिय हो जाते हैं यदि उनके प्रति वैराग्य का भाव मनुष्य पहले से ही रखे तो उसे मानसिक रोगों की स्थिति में ही न आना पड़। शारीरिक रोगों के समान मानसिक रोग मनुष्य को सतपथ की शिक्षा देने आते हैं।

जो लोग मानसिक रोगों का आगमन रोकना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे प्रतिदिन धन, ऐश्वर्य कीर्ति आदि उपार्जन के कार्यों से अलग होकर कुछ आध्यात्मिक चिन्तन करें और मनको साम्यावस्था में लाने का अभ्यास करें। अपने जीवन को धार्मिक और नैतिक बनाना भी इस के लिये नितांत आवश्यक है। काम क्रोध और लोभ जनित सभी प्रकार के मानसिक विकार मन को उद्विग्न करते हैं। इनसे मनुष्य का मानसिक साम्य बिगड़ जाता है। जिस व्यक्ति का मानसिक साम्य बार बार बिगड़ता है वह मानसिक रोग का भागी हो जाता है। प्रति दिन का सद्विचार ही मनके उक्त विकारों को नष्ट करने में समर्थ होता है।

संसार के धर्म-प्रवर्तक मनुष्यों को मानसिक शान्ति देने की चेष्टा ही करते थे। भगवान बुद्ध ने तो मन को वश में करने के लिये वैज्ञानिक विधि ही निकाल दी है और उनका बताया मार्ग मानसिक साम्य रखने का सर्वोत्तम उपाय है। जो कोई व्यक्ति अपनी इच्छाओं के ऊपर

नियंत्रण रखता है और जो अपनी मानसिक शक्ति को सदा लोक-कल्याण में लगाये रखता है, जो सदा मैत्री भावना का अभ्यास करता है, जो सभी प्रकार की घटनाओं को शुभ मानता है उसे मानसिक रोग का होना असंभव है।

मनुष्य के प्रतिदिन के विचार और मानसिक आरोग्य

मनुष्य का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य उसके विचारों पर निर्भर करता है। प्रत्येक विचार अपना संस्कार मनुष्य के मस्तिष्क पर छोड़ जाता है इसी तरह किसी प्रकार की भावात्मक अनुभूति अपना संस्कार मनुष्य के मन पर छोड़ जाती है। जिस विचार के साथ जितनी ही अधिक भावात्मक अनुभूति होती है वह उतना ही गहरा प्रभाव मनुष्य के मन पर छोड़ता है। कभी कभी ये अनुभूतियां इतनी अप्रिय होती हैं कि मनुष्य उनका स्मरण नहीं करना चाहता। पुरानी अप्रिय स्मृतियों को भुलाने के परिणाम स्वरूप वे चेतना के समक्ष पुराने रूप में नहीं आती, परन्तु वे निरर्थक बाध्य-विचार का रूप धारण कर लेती हैं। अर्थात् वे रूपान्तरित होकर अब मनुष्य के मन के सामने आती हैं।

प्रत्येक प्रकार का विचार एक शक्ति है। इस शक्ति का स्वभाव ही अपने आप प्रकाशित होना है। जब किसी विचार को सीधे रूप से प्रकाशित होने का मार्ग नहीं मिलता तो वह टेढ़े मेढ़े मार्ग से प्रकाशित होता है। मानसिक और शारीरिक रोग पुराने अप्रिय विचारों के संस्कार के परिणाम रूप हैं। ये उनके प्रकाशन के मार्ग है। स्वप्न, सांकेतिक चेष्टायें तथा मानसिक और शारीरिक रोग पुराने अभद्र विचारों के परिणाम रूप होते हैं। इनके द्वारा पुराने अवांछनीय संस्कार नष्ट होते हैं। जिस प्रकार फोटोग्राफ लेने वाली फिल्म पर ऐसी किसी भी वस्तु का चित्र खिंच जाता है जो उसके सामने आती है इसी प्रकार प्रत्येक बाह्य घटना अथवा विचार जिस पर हमारा ध्यान जाता है अपना संस्कार मन के ऊपर छोड़जाता है। प्रत्येक संस्कार का

स्वभाव क्रिया में प्रकाशित होना होता है। जब वह क्रियात्मक रूप में प्रकाशित नहीं होने दिया जाता तभी मानसिक और शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है।

मानसिक रोगों से बचने के लिये यह आवश्यक है किसी भी अभद्र विचार को देर तक मन में न ठहरने दिया जाय। अपने सभी विचारों को सुन्दर बनाना मानसिक रोग के आगमन को रोकना है। जब मनुष्य अपने विचारों को सुन्दर बनाता है तो उसकी कल्पनायें भी सुन्दर होती हैं। जो व्यक्ति क्रोध, द्वेष ईर्षा लोभ, कामुकता आदि के विचारों का मन में प्रवेश नहीं होने देता वही मनुष्य सब प्रकार से सुखी रहता है मनुष्य का विचार ही सब कुछ करता है। गन्दे विचार दुःख की सृष्टि करते हैं और भले विचार सुख की। संसार में सभी प्रकार की भली और बुरी घटनायें होती हैं इसी प्रकार भले और बुरे दोनों प्रकार के लोग संसार में रहते हैं। भली घटनाओं के विषय में चिन्तन करने से उत्साह की वृद्धि होती है और बुरी घटनाओं के विषय में चिन्तन करने से अनुत्साह की वृद्धि होती है। भले मनुष्यों का विचार हम में भलाई लाता है और बुरे मनष्यों का विचार बुराई। प्रत्येक मनष्य में भलाई और बुराई दोनों होती हैं। मनुष्य के गुणों का चिन्तन करने से उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और हम में दूसरों का कल्याण करने का भाव बढ़ता है तथा अवगुणों पर विचार करने से वे अवगुण स्वयँ अपने आप में ही चले आते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक घटना का बुरा और भला पहलू होता है। जब भले पहलू पर विचार केन्द्रित होता है तो मन में उत्साह और आनन्द का भाव आता है। इस तरह विचारों का नियंत्रण ही मनुष्य के सुख और दुःख का कारण है। यहां धम्मपद के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनो मया
मनसा से पदुट्ठेन भासति वा करोति वा
ततो नं दुक्ख मन्वेति चक्कं व वह तो पदं।
मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनों मया।

मनसा चे पसण्ने भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपाविनी

सभी प्रकार के धर्म मन से ही उत्पन्न होते हैं. मन से पुष्ट होते हैं और मन में ही रहते हैं। यदि कोई मनुष्य अपवित्र मन से बोलता अथवा काम करता है तो उसका पीछा दुःख इसी प्रकार करता है जिस प्रकार गाड़ी के पहिये गाड़ी में जुते बैलों के खुरों का पीछा करते हैं।

सभी प्रकार के धर्म मन से उत्पन्न होते हैं, मन से पुष्ट होते हैं और मन में ही रहते हैं। यदि कोई मनुष्य पवित्र मन से बोलता अथवा काम करता है तो सुख उसका इसी प्रकार पीछा करता है जिस प्रकार गाड़ी के पहिये गाड़ी में जुते बैलों का पीछा करते हैं।*

मन की पवित्रता रहने पर मनुष्य आरोग्यवान रहता है जब मन अपवित्र होता है तो मन में स्वभावतः रोग उत्पन्न हो जाता है। लेखक के एक मित्र को सात आठ वर्ष तक पेट का रोग रहा। वे पेट के रोग के कारण इतने परेशान थे कि उनका जीना भी उन्हें भार रूप हो गया था। कई दिनों की चिकित्सा से उनका पेट का रोग बहुत कुछ जाता रहा, परन्तु अब उन्हें अपने विचारों पर नियन्त्रण न रहा। उनका मन सदा इधर उधर भागा करता था। किसी रोजगार पर उनका ध्यान नहीं जमता था।

---

* श्री राल्फ वालदो ट्राइन महाशय ने अपने ही शब्दों में इसी तथ्य को निम्नलिखित कविता में कहा है—

So let all thy thoughts be fair,
They have a vital part and share
In shaping words and moulding fate,
God's system is so intricate.

अपने सभी विचारों को पवित्र बनाइये। इनका बड़ा भारी प्रभाव मनुष्य की वाणी; क्रिया और उसके भाग्य निर्माण पर पड़ता है। ईश्वर की सृष्टि ऐसी ही है।

इस रोग का मानसिक कारण लेखक को हाल में ही ज्ञात हुआ। इस मित्र के एक सौतेली मां थी। उसने इसकी बचपन से देख रेख की थी। मित्र का पिता उसकी छोटी अवस्था में ही मर गया था. अतएव छुटपन से ही मित्र को सौतेली मां ने पाला। बड़े होने पर मित्र और उसकी सौतेली मां में अनबन हो गई। मित्र के पिता अपनी स्त्री के नाम कुछ रुपया पहले से ही वसीहत नामे के रूप में दे गये थे। ये मित्र इस रुपये को मां को नहीं देना चाहते थे। इससे दोनों में खूब मुकदमाबाजी हुई। मुकदमें में मित्र हार गये और उन्हें अपनी मां को रुपया देना पड़ा। पीछे वे एक दूसरे से नहीं मिलते थे। परन्तु दोनों को इस प्रकार जुदा होने से आन्तरिक आत्मग्लानि थी। यह महिला पेट के रोग से कई दिन तक बीमार रह कर मरी। पीछे यही रोग उक्त मित्र को भी हो गया। वे कई दिनों तक इस रोग से परेशान रहे। मां के मर जाने के बाद उनके द्वेष के विचार अपने एक दूसरे सम्बन्धी पर आरोपित हो गये। वे इन विचारों को अपने नियंत्रण में नहीं रख पाते थे।

जब मनुष्य प्रबल आवेगों के कारण एकबार अपने विचारों पर नियंत्रण खो देता है तो फिर विचारों पर नियंत्रण प्राप्त करना बड़ा कठिन हो जाता है। विचारों के प्रवाह में बहने की आदत पड़ जाने से मनुष्य को इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है। जब मनुष्य की इच्छा शक्ति इस प्रकार निर्बल हो जाती है तो उसके मन में अनेक प्रकार के विचार अनायास प्रवेश कर डालते हैं और वह उन विचारों का आगमन नहीं रोक पाता। मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य को अपनी इच्छा के प्रतिकूल अभद्र बातों का चिन्तन करना पड़ता है। पर इस प्रकार को मानसिक परिस्थिति पुराने विचारों के संस्कार के कारण ही आती है। इन संस्कार के विनाश लिये निम्न लिखित उपाय अमेरिका के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक श्री लिंड लहार महाशय ने बताये हैं—

(१) वातावरण का परिवर्तन
(२) अपने किसी मित्र से नित्य प्रति विचार विमर्श

(३) सद्विचारों का स्वागत
(४) अपने आपको अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति अर्पित करना।

जब किसी व्यक्ति का बाध्य विचार अत्यन्त तंग करने लगे तो उसे अपने पुराने वातावरण को कुछ काल के लिये छोड़ देना चाहिये। जब मनुष्य नये वातावरण में आता है तो उसके मन में नई उत्तेजनायें उत्पन्न होती है। वह नये दृश्यों को देखता. नये लोगों से मिलता और इसके कारण अपने आप में नई स्फूर्ति की अनुभूति करता है। जहाँ पुराने लोग पुराने भावों को स्मरण कराते हैं नये लोग नये भावों को स्मरण कराते हैं। इससे मनुष्य के विचारों में मौलिक परिवर्तन हो जाता है और उसमें नये जीवन का संचार हो जाता है। इस प्रसंग में लिडलाहर महाशय के अपनी नेचुरल थ्यारापयूटिक्स नामक पुस्तक में दिये हुए निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—

बाध्य विचार अथवा अकेलेपन के उन्माद की उचित चिकित्सा घर पर नहीं हो सकती। पुराना वातावरण, सम्बन्धी, मित्र तथा प्रतिदिन के दृश्य मस्तिष्क में अंकित पुराने संस्कारों को उत्तेजित करते हैं और फिर हमारा मस्तिष्क ग्रामोफोन के समान दुःख के गाने गाने लगता है। पुराने संस्कारों को मिटाने के लिए और नये संस्कार मस्तिष्क में उत्पन्न करने के लिये वातावरण का परिवर्तन नितांत आवश्यक है। वातावरण के परिवर्तन के साथ साथ नये बिचारों को और नये आदर्शों को मस्तिष्क में डालकर तथा नये बिश्वास और आशा को पुरानी संशय और निराशा के स्थान पर उत्पन्न करके रोगी के जीवन में परिवर्तन करना आवश्यक होता है। इसके लिये रोगी को रोग का प्राकृतिक कारण समझाना होता है। जिस बात को रोगी अकेले में कहने से नहीं मानता उसी बात को जब उसे सार्वजनिक व्याख्यान में कहा जाता है तो वह उसे मान लेता है। उसका विरोध का भाव फिर नष्ट हो जाता है। *

* "These forms of fixed ideas or monomania cannot be successfully treated at home, Old surroundings

वातावरण में परिवर्तन के साथ साथ अपने मन को किसी मित्र के समक्ष खोलना भी नितांत आवश्यक होता है। रोगी को ऐसे व्यक्ति के समक्ष अपने सन्देह कहने चाहिये जो उसकी खिल्ली न उड़ावे, जिससे उसको किसी प्रकार का भय न हो। ऐसे व्यक्ति के साथ प्रति दिन विचार विमर्श करने से कभी कभी तुरंत कुछ भी लाभ होते नहीं दिखाई देता, परन्तु कुछ काल के बाद अपने आप ही उचित मानसिक परिवर्तन हो जाता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिन बातों के प्रति रोगी का सन्देह अथवा भय का भाव होता है वे वास्तविक सन्देह और भय की बातों के प्रतीक मात्र होते हैं। यदि रोगी को उसके भय की वस्तु का समझा दिया जा सके तो अति उत्तम हो, परन्तु जहाँ यह संभव नहीं है, वहाँ पर भी रोगी से उसके रोग के विषय में चर्चा करना लाभदायक होता है। चिकित्सक के स्वास्थ्य के विचार इस प्रकार रोगी के मन में बैठ जाते हैं। जब हम किसी व्यक्ति से बहस करते हैं तो हमारी उपस्थिति में वह अनेक प्रकार की विपरीत युक्तियों को सोचता है, पर जब हम उसके सामने नहीं रहते तो उसका मन ही एक प्रतिवादी को अपने सामने खड़ा कर लेता है फिर कभी तो वादी की विजय होती है और कभी प्रतिवादी की इस प्रसंग में लिंडलहार महाशय

---

relatives, friends and accustomed scenes and objects constantly call up the old brain records and cause them to play their dismal tunes. Change of environment new people, new sights, new ideas is absolutely necessary to create new brain records and to throw the old ones into disuse and oblivion. We endeavour to hasten the mental regeneration by arousing interest in new ideas and higher ideals, by instilling new faith and the will to be well in place of the old doubt and despair thoughts.

Natural Therapeutics, p. 291.

का मानसिक रोग से परेशान एक महिला की चिकित्सा का निम्न लिखित वृतांत उल्लेखनीय है।

लिंड लहार महाशय के पास एक बार एक ऐसी महिला आई जिसे किसी महान पाप करने का विचार परेशान करता था। वास्तव में वह बड़े ही पवित्र आचरण की थी। संभवतः वह किसी अवरुद्ध भाव के कारण इस प्रकार दुखी हो रही थी। उसे जितना ही समझाने का प्रयत्न किया जाता था वह उतना ही अपने आप को पापी सिद्ध करने में वकील के समान युक्तियों में कुशलता दिखाती थी। अंत में वह लिंड लहार महाशय के पास से किसी प्रकार का ऊपरी लाभ प्राप्त किये बिना चली गई। पर उसने वहाँ से जाने के दो महीने बाद लिखा कि "मुझे आप के यहाँ ठहरने के समय के अन्त होने के पूर्व यह ज्ञान होने लगा था कि आप का कथन ठीक है और मैं भूल कर रही हूँ। परन्तु बहुत दिन की हठ की आदत के कारण मैं अपना दोष स्वीकार करने में असमर्थ थी। जब मैं घर पर पहुँची और फिर मैंने धैर्य से आप की कही सभी बातों पर विचार किया तो मुझे पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि मैं किस प्रकार अपने लिये नर्क की तैयारी कर रही हूँ। मैंने अब अपने स्वत्व को फिर से प्राप्त कर लिया है और जो भ्रम मुझे अब तक परेशान कर रहा था वह एक भयानक स्वप्न के समान जाता रहा"

मानसिक स्वास्थ्य लाभ करने का तीसरा उपाय अपने आप को संसार के महान पुरुषों के मस्तिष्क से मिलता है लिंडलहार महाशय का कथन है कि मनुष्य का मस्तिष्क और उसमें रहनेवाली चेतना एक बे तार के तार भेजने वाली मशीन के समान है। यह मशीन एक ओर अप्रकाशित विचारों को भेजती है और दूसरी ओर उन्हें ग्रहण करती है। हम सभी विचारों भावों और भौतिक स्पन्दनों के समुद्र में रहते हैं। हम में से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अनेक स्पन्दन अपने पास से भेजता और ग्रहण करता है। बहुत से विचार और भाव जिन्हें हम अपने ही भाव और विचार समझते हैं वास्तव

में हमें बाहर से मिलते हैं। जन समूह के विचारों में यह और भी स्पष्ट हो जाता है। हमारी मस्तिष्क की बेतार की मशीन हमें नीचे से नीचे और ऊंचे से ऊँचे जगत् से और वहाँ के रहने वालों से सम्बन्धित कर देती है। हम इसी प्रकार के स्पन्दन को बाहर से पाते हैं, जिस प्रकार का स्पंदन हमारे मस्तिष्क में होता रहता है। चाहे यह स्पन्दन प्रसन्नता वर्धक हो अथवा निराशा वर्धक, उपकारी हो अथवा हानिकारक, रचनात्मक हो अथवा विनाशक।

इस प्रकार जो मस्तिष्क निराशा, भय और विषाद के स्पन्दन ग्रहण करने के लिये अभ्यस्त रहता है उसमें सभी विचार निराशा, पश्चात्ताप और अन्धकार से आते हैं। इसी प्रकार अपने आप में लोभ, इर्ष्या प्रतिशोध, और निर्दयता के विचार ऐसे ही लोगों के विचारों को अपनी ओर आकर्षित करेंगे जो स्वयं पतित और निर्दयी हों। इस से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति विनाशकारी विचार अथवा भाव मन में लाते हैं वे अपने दुःख और पतन की अवस्था को बढ़ा लेते हैं।

परन्तु भाग्यवश आध्यात्मिक आकर्षण और विकर्षण के नियम उसी प्रकार रचनात्मक रूप से काम करते हैं जिस प्रकार वे ध्वंशात्मक रूप से काम करते हैं। जिस प्रकार हम अपने मानसिक और आध्यात्मिक वायरलैस मशीन को बुरे से बुरे नरक के साथ सम्बन्धित कर सकते हैं इसी प्रकार हम ऊंचे स्वर्गीय भूमि और उस के निवासियों के साथ अर्थात महात्माओं और संतों देवताओं, के साथ अपने आप को मिला सकते हैं, और जिस प्रकार अपने वायरलैस सेट के नीचे स्तर के भावों और विचारों को ग्रहण करने वाले दरवाजे को खोल देने से मनुष्य के मन में दुःख पश्चात्ताप और निराशा के विचार भर जाते हैं इसी प्रकार ऊँचे स्तर के विचार ग्रहण करने वाले दरवाजे को खोल देने पर मनुष्य के मन में प्रेम, आनन्द और अनूठी शान्ति के भाव आ जाते हैं।※

※Every human brain and conssiousness atback of i is a wireless telegraph with its sending and receiving

मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ करने का सर्वोच्च साधन अपने आप को उस सर्वात्मा के प्रति खोलना है जो सभी प्राणियों के जीवन को

---

apparatus. We live in a great sea of mental, emotional, spritual and physical vibrations. All of us are constantly sending forth our own vibrations and receiving those of other minds, Much of that which appears to us as our own thinking and feeling is thus inspired and forced upon us from without. This becomes particularly apparent in what has been called mob psychology. Our mental and psychical wireless connects us with all the planes and spheres of arth and heaven, of hell and purgatory and with their inhabitants. The nature of the vibrations which we receive, whether they be cheerful or of a depressing nature, helpful or harmful, constructive or destrustive depends upon the quality of our own vibrations.

Thus the brain habitually attuned to the vibrations of hopelessness, fear, despair and melancholy will receive and register like vibrations from the earth plane and the lower and lowest spritual spheres which are the abodes of gloom, remorse and despair.

In like manner vibrations of greed, jealousy, revenge and cruelty will attract and register like vibrations from other depraved and cruel minds From this it appears that those who indulge in destructive mentantisons and emotionalism intensify theirs own unhappy or depraved conditions through the operation of the law of spiritual attraction and repulsion."

Fortunately the laws ef spiritual attraction and repulsion work just as accurately in the constrvctive as in the destructive way. Just as surely we can connect our mental spiritual and psychical wireless with the astral planes and the deepest hells, just so

चलाता है, जो सभी को प्यार करता है और सभी के हृदय में वर्तमान है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने आप को इस प्रकार के जीवन में मिला देता है वह उतना ही प्रसन्न सुखी और स्वस्थ रहता है। लिंड लहार महाशय का कथन है कि जीवन और प्रेम अपने आन्तरिक स्वभाव में एक है। प्रेम मनुष्य की आत्मा और सृष्टि के सर्वोच्च स्पन्दन की क्रिया है। जब हमारे पास अपने ही भीतर सब से श्रेष्ठ बेतार का सम्बन्ध अपने और सर्वात्मा के बीच में है तो हमें आध्यात्मिक चिकित्सक के खोजने की क्या आवश्यकता है। कोई भी आध्यात्मिक शिक्षक हमें इतना ही सहायता दे सकता है कि वह हमें अपने ही भीतर रहनेवाले अन्तर्यामी से सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग बता दे अर्थात् हमारे वायरलैस सेट को इस प्रकार से उपयोग करना सिखाये जिससे हम उसकी बातों को समझ सकें। जब कोई व्यक्ति अपने मन का सम्बन्ध इस महान् आत्मा से जोड़ लेता है तो वह सभी परिस्थितियों में शान्त मन रहता है उसे किसी प्रकार का

---

surely can we connect them with the higher spiritual and celestial spheres and their inhabitants, with the invisible helpers and angels aud with the all pervading spirit of the universe whome we call God, the Father, the Logos, the great spirit, Brahm, and by innumerable other names.

Just as surely as wireless connection with the power spheres will fill our souls with the discords of unhappiness, remonse and despair, just so surely will connection with the higher spheres bring us an influx of more life, love and happiness, of "Peace that passeth all under standing."

Natural Tharapeutic p. 303, 304

मानसिक रोग कष्ट नहीं देता। ऐसे व्यक्ति को शारीरिक कष्ट होने पर भी मानसिक शान्ति रहती है।*

मनुष्य को अनेक प्रकार के मस्तिष्क रोग इसी लिये होते हैं कि वह देहधारी होकर भी अपने आप को पूर्ण मानने की धृष्टता करता है। मानसिक रोग उसे अपनी कमी को दर्शाते हैं। इस प्रकार वे उसे संसार के मूल श्रोत और उसका संचालन करने वाले तत्त्व को पहचानने के लिये बाध्य करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक इस तत्त्व के बारे में चिन्तन करता है वह अपने आप को उतना ही अधिक आरोग्यवान और समृद्धिशाली बनाता है।

जब मनुष्य दुःख की अवस्था में रहता है तो उसका अभिमान नष्ट हो जाता है। कष्ट उसी मनुष्य को होता है जिस का अभिमान बढ़ा हुआ है और जो अपनी साधारण लौकिक बुद्धि की पहुँच के परे किसी तत्त्व को मानने के लिये तैयार नहीं है। कष्ट इस अभिमान-युक्त बुद्धि की कमी को दर्शाता है। जब तक मनुष्य में अभिमान का भाव रहता है उसमें न तो अपने ही किये दुस्कृत्य के लिये पश्चाताप का भाव आता है और न वह किसी सज्जन की बात सुनने के लिये तैयार रहता है। बार बार कष्ट पड़ने पर मनुष्य की बुद्धि परिष्कृत हो जाती है। फिर वह किसी सज्जन की बात श्रद्धा पूर्वक सुनता है और उस पर मनन कर के अपने हृदय में स्थित महा प्रभु के दर्शन करता है। ऐसी अवस्था में उसे अनोखी शान्ति प्राप्त होती है। यह शान्ति सभी स्थितियों में और सभी जगह प्राप्त हो सकती

---

* "Life and Love are identical in nature. Love is is the highest vibratary activity of the human soul as well at of the nniverse why should we depend upon spiritual healer when within ourselves we have the shortest wireless connection between the human soul and the over soul? A spiritual teacher cannot help us more effectively than by showing us how to establish this wireless connection and how to operate it."

है। न तो इस के लिये जंगल में भागने की आवश्यकता है और न किसी एकान्त निवास की। प्रत्येक बड़े नगर में अनेक स्तर के लोग रहते हैं। एक ओर नरक के निवासी और दूसरे स्वर्गवासी उसी शहर में रहते हैं। इस तरह नरक और स्वर्ग का उपस्थित होना मनुष्य की मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है।

मनुष्य को सच्चा आरोग्य लाभ तब करता है जब वह सोचने लगता है कि उसका रोग उस के कल्याण के लिये आया है, वह उसे उसकी मूर्खता से निकालने के लिये आया है आरोग्य लाभ करने पर मनुष्य का संसार की सभी घटनाओं के प्रति दृष्टि कोण बदल जाता है।*

———

* इस प्रसंग में लेखक से पत्र व्यवहार करने वाले एक मानसिक रोगी के पत्र के निम्नलिखित वाक्य उल्लेखनीय हैं—

"अब मैं अपने रोग को अपने लिये उपयुक्त ही समझता हूँ, जिस ने इतनी सारी नई नई ज्ञान की बातें मुझे बता डालीं। यह उसी महान् कला कार की महान् नाट्य-शाला है जिस के रंग मंच पर पर अनेकों प्राणी अपना अपना स्वांग रचकर प्रदर्शन कर रहे हैं। देखें हमें भी कब तक अपना प्रदर्शन पूरा करना होगा।"

एक दूसरा मानसिक रोगी, जो अपने रोग से कई वर्षों से परेशान था, अपने हाल के पत्र में अपने रोग का अपना कल्याणकर्त्ता निम्नलिखित वाक्य द्वारा प्रदर्शित करता है—

"मैं इस शारीरिक अस्वास्थ्य को भी ईश्वरीय प्रसाद समझता हूँ, क्यों कि यदि यह न हुआ होता तो यह आध्यात्मिक लाभ जो कि जीवन का एक मुख्य कार्य है मालूम भी न होता।"

उपर्युक्त दोनों रोगियों को उन के रोग से वास्तविक लाभ हुआ। जब मनुष्य अपने रोग को अपना मित्र समझने लगता है तो वह सम्पूर्ण स्वास्थ्य की ओर अग्रसर होता है।

अठारहवाँ प्रकरण

सद्‌भावना और मानसिक शैथिली करण

भावना की विशेषता

हमारे देश की पुरानी कहावत है—'या दृशी भावना यस्य सिद्धिभवति ता दृशी'—अर्थात जैसी मनुष्य की भावना होती है उसको फल भी उसी प्रकार मिलता है। योगवाशिष्ट में संकल्प की फलित होने की शक्ति को अनेक प्रकार से दर्शाया है। जैसा मनुष्य भावयुक्त होकर सोचता है वैसा ही वह बन जाता है। भावना का जीवन के दूसरे क्षेत्र पर जो कुछ भी प्रभाव पड़े मनुष्य के स्वास्थ्य पर तो अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

यहाँ भावना और विचार के भेद को समझ जाना आवश्यक है। बिचार चेतन मन का वस्तु है और भावना अचेतन मन की। जिस बिचार को बार बार मन में लाया जाता है वह भावना का रूप धारण कर लेना है। भाव से युक्त विचार का नाम भावना है। स्वास्थ्य को बिगाड़ने में सबसे अधिक प्रभावशाली भय विचार के होते हैं और उसको सुधारने में आत्मविश्वास के विचार । यदि किसी मनुष्य के मन में किसी प्रकार के शारीरिक रोग की कल्पना बार बार आवे तो उसे कालान्तर पर उक्त रोग वास्तव में पहले न होते हुए भी पीछे हो जाता है। जब रोगी के रोग सम्बन्धी विचार बदल जाते हैं तो उसका रोग भी नष्ट हो जाता है।

मनुष्य के मन में अशभ भावनायें इच्छा की निर्बलता की अवस्था में आती हैं। इच्छा शक्ति की निर्बल अवस्था में यदि किसी अशुभ विचार को निकालने की चेष्टा की जाय तो वह और भी प्रबल हो जाता है।

इच्छा शक्ति को बली बनाने के लिए अपने आपको भूलना आवश्यक होता है। जब कोई बाध्य विचार मनुष्य को पकड़ लेता है तो उससे लड़ने के प्रयत्न से वह विचार और भी बली हो जाता है। जबतक इस प्रकार विचार से मनुष्य डरता है वह मन से बाहर नहीं जाता। रोग के बाध्य विचार भावना युक्त होते हैं, अतएव रोगी से बहस करने पर ऐसे विचार उसके मन से नहीं जाते। कभी कभी ऐसे विचारों से वास्तविक रोग उत्पन्न हो जाता है।

किसी प्रकार के भावनायुक्त अभद्र विचारों के निराकरण के लिए प्रति भावना का अभ्यास करना आवश्यक होता है। रोगी से उसके रोग के बारे में चर्चा करना और उसे स्वस्थ बनाना व्यर्थ होना है। किसी व्यक्ति को शरीर से स्वस्थ देखने से हमें यह नही समझ जाना चाहिए कि वह वास्तव में स्वस्थ है। जबतक किसी व्यक्ति का मन स्वस्थ नहीं तबतक उसे स्वस्थ मानना व्यर्थ है। सभी प्रकार के रोगों की जड़ मन में ही होती है। किसी प्रकार का मानसिक रोग उसके विषय में बहस करने से नष्ट नहीं होता। मानसिक रोग तभी जाता है जबकि उस भावना में परिवर्तन हो जाता है जो उसका कारण है।

भावना के परिवर्तन के लिए स्वास्थ्य के विचार मनुष्य के अचेतन मन में जाना आवश्यक है। अशुभ भावना को चेतन मन की सतह पर लाना और शुभ भावना को अचेतन मन में बैठाना मानसिक आरोग्य लाभ के दो उपाय हैं। किसी भी विचार को भावना के रूप में परिणत करने के लिये अर्थात् उसे अचेतन मन में पहुँचाने के लिये उन उपायों का काम में लाना आवश्यक होता है जो कि अचेतन मन को प्रभावित करते हैं। चेतन मन की भाषा से कई बातों में अचेतन मन की भाषा भिन्न होती है। जिस व्यक्ति की सोचने की शक्ति जितनी कम विकसित है उसे प्रभावित करने के लिये अचेतन मन की भाषा का उतना ही अधिक प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कोई व्यक्ति कितना ही चिन्तन शील क्यों न हो उसके अचेतन मन को प्रभावित करने के लिये कुछ न कुछ अचेतन मन की भाषा का प्रयोग करना ही पड़ता है।

को भिन्न भिन्न विधियों से तैयार कर वे उनकी तौल मालूम कर रहे थे। जल के विद्युत्-विच्छेदन से, पोटासियम क्लोरेट के गरम करने से, पोटासियम परमैंगनेट के गरम करने से जो आक्सिजन प्राप्त हुआ उसके एक लिटर की तौल बराबर ही निकली। पर अमोनिया से प्राप्त नाइट्रोजन की तौल वायुमण्डल से प्राप्त नाइट्रोजन की तौल से कम थी। यह कमी इतनी अधिक थी कि प्रयोगात्मक भूल के अन्तर्गत नहीं आ सकती थी। इससे मालूम हुआ कि इन दोनो विभिन्न रीतियों से प्राप्त गैसों की तौल की विभिन्नता का कारण कुछ और ही है। सन् १८९४ ई० मे रामज़े और रेले दोनो मिलकर इस विभिन्नता के कारण को खोज निकालने में लगे और अन्त मे सिद्ध किया कि वायुमण्डल के नाइट्रोजन मे एक और निष्क्रिय और भारी गैस रहती है। इस निष्क्रिय गैस को वायु की अन्य गैसो से पृथक् कर प्राप्त करने के लिये दो विधियां काम में लाई गई।

एक विधि में मैगनीसियम के रक्त-तप्त खरादन पर वायुमण्डल के नाइट्रोजन के ले जाने से मैगनीसियम नाइट्रोजन के शोषित कर नाइट्राइड में परिणत हो जाता है और आर्गन शेष रह जाता है। दूसरी विधि मे दाहक क्षार की उपस्थिति मे और आक्सिजन के आधिक्य मे विद्युत्-स्फुलिंग के द्वारा नाइट्रोजन आक्साइड मे परिणत हो कर दाहक क्षार मे शोषित हो जाता है और अन्त मे केवल आर्गन रह जाता है।

पहली विधि में जिस उपकरण का व्यवहार होता है उसका चित्र (चित्र ४७) यहां दिया हुआ है। इसमे 'क' और 'ख' गैस के दो धारक है जिसमे 'क' से 'ख' मे वायुमण्डल का नाइट्रोजन बहता रहता है। यह नाइट्रोजन एक नली 'प' से होकर भी बहता है जिस मे मैगनीसियम रखा रहता है। यह मैगनीसियम रक्त-तप्त रखा जाता है ताकि नाइट्रोजन इस मे शोषित हो जाय। इसके बाद वह नाइट्रोजन रक्त-तप्त कापर आक्साइड रखी हुई नली मे लाया जाता है जहां उसका कार्बनिक पदार्थ (यदि कोई रहता) पूर्ण रूप से जल कर कार्बन डाइ-आक्साइड और जल बन जाता है। मैगनीसियम की क्रिया से यदि कुछ हाइड्रोजन भी बनता है तो वह कापर आक्साइड के

होता है। रोगी के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। इनमें से कुछ तो मानसिक चिकित्सक से बातचीत करने से खुल जाती है। बारबार बातचीत करने से मानसिक चिकित्सक के दिये हुए विचार भावना का रूप धारण करलेते हैं।

मानसिक रोगी को आरोग्य प्रदान करने के लिये उससे गर्म बहस न करना चाहिये। जो कुछ मानसिक रोगी कहे उसे शान्त मन से सुनना चाहिये। किसी भी विचार के भावयुक्त प्रकाशित होने से वह निर्बल हो जाता है। उसके विरोध करने से वह और भी प्रबल होता है। मानसिक चिकित्सक को बोलना कम और सुनना अधिक पड़ता है। अधिक बोलने से रोगी के मन में अनेक प्रकार के विचार आते हैं और वे सभी अस्थिर रह जाते हैं। किसी भी व्यक्ति के मन में रोग के विचार डालना सरल है, उस के मन में आरोग्य के विचार उत्पन्न करना कठिन है। अधिक बोलने वाले व्यक्ति में आत्म विश्वास की कमी होती है। रोगी का अचेतन मन इसे जानता है। अतएव वह अधिक बोलने वाले व्यक्ति से प्रभावित नहीं होता।

सद्भावना के उद्दीपन के लिये यह आवश्यकता है कि शुभ कार्य भी किये जायँ। जिस किसी कार्य से मनुष्य की इच्छा शक्ति दृढ़ होती है उससे उस में सद्भावना का भी जागरण होता है और उससे आरोग्य लाभ भी होता है। गंगा स्नान करना, उपवास रहना, गरीबों को भोजन कराना रोगी मनुष्यों की सेवा करना बालकों को पढ़ाना उन्हें प्यार करना, उन्हें मिठाई खिलाना आदि सभी काम मनुष्य की इच्छा शक्ति को दृढ़ बनाते हैं। ये कार्य उसकी आरोग्य की भावना को भी दृढ़ करते हैं, अतएव ये स्वास्थ्य लाभ करने में लाभ दायक होते हैं।

सभी प्रकार के रोगियों में संयम की कमी होती है। वे उपवास नहीं रख पाते। यदि कोई व्यक्ति अपने आप नियमित रूप से उपवास करता रहे तो उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग हो न हों। मान-

सिक रोगियों में शारीरिक रोगियों से भी अधिक संयमकी कमी होती है। कल्पित रोगों से पीड़ित व्यक्ति बार बार खाते रहते हैं। वे थोड़े समय भी भूखे नहीं रह सकते । परन्तु प्रकृति उन्हें खाने से, अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाओं को उन के मन में उठा कर रोकती रहती है। अब यदि कोई व्यक्ति उपवास का अभ्यास पहले से ही रखे तो उसे वे अनेक प्रकार के मानसिक रोग ही न होवें जो अन्यथा होते हैं। उपवास की महत्ता शरीर की सफाई की दृष्टि से जो कुछ भी हो, उसकी महत्ता मानसिक दृढ़ता के लाने की दृष्टि से महान है। किसी भी संकल्प को दृढ़ बनाने के लिये उपवास करना बड़ा ही अनुकूल होता है उपवास की अवस्था में व्यक्ति एक ही विचार को बार बार मन में लाया करता है और इस प्रकार वह विचार चेतन मन से अचेतन मन में चला जाता है।

श्रद्धा पूर्वक गंगा स्नान से भी आरोग्य और मानसिक पवित्रता की भावना दृढ़ होती है। एक हिन्दू के लिये यह विशेष लाभकर है। हमारे मन के परंपरा गत संस्कार यहां कार्यान्वित होते हैं। गंगा जल को पवित्रता की दृष्टि से हमारे पूर्वज देखते आये हैं वे अपने पापों से मुक्त होने की भावना से गंगा स्नान के लिये जाते थे। ये विचार हमारे अचेतन मन में बैठ गए हैं। अतएव गंगास्नान का मानसिक पवित्रता लाने में बड़ा महत्व है।

किसी भी प्रकार के जल में स्नान करना न केवल शारीरिक पवित्रता लाता है। वरन् वह मानसिक पवित्रता भी लाता है। जो व्यक्ति नियमित रूपसे देर तक ठंडे जल में स्नान करता है और स्नान करते समय सोचता है कि वह पवित्र हो रहा है वह मानसिक रोगों का दास सरलता से नहीं होता। मानसिक और शारीरिक रोगों के पूर्व मनुष्य के जीवन में इन प्राकृतिक कार्यों में अनियमितता देखी जाती है। शारीरिक शुद्धि की क्रियाओं से मानसिक शुद्धि की की भावनायें दृढ होती हैं।

छोटे बालकों को भोजन कराने, उन्हें अनेक प्रकार से प्रसन्न

करने की चेष्टा करने से भी स्वास्थ्य की भावनायें दृढ़ होती हैं। जैसे जैसे छोटे बालक प्रसन्न होते हैं मनुष्य का आन्तरिक मन भी प्रसन्न होता है। छोटे बालकों को प्रोत्साहित करने से अपना आन्तरिक मन अपने आप ही प्रोत्साहित होता है। इस प्रकार के प्रोत्साहन से अपने मन में बैठी अभद्र भावनायें नष्ट हो जाती हैं और शुभ भावनायें उनके स्थान पर आ जाती हैं। यदि कोई मनुष्य छोटे बालको को भगवान का स्वरूप समझ कर उनकी सेवा करे तो उसे और भी अधिक लाभ हो। इससे उसे वही आध्यात्मिक शान्ति मिलेगी जो भगवान के भजन और चिन्तन से आती है।

किसी प्रकार के जपसे भी आरोग्य की भावना दृढ़ हो जाती है। यदि जप का अर्थ आरोग्यवान हो तो और भी अच्छा है। हेरी वेन्जमिन महाशय ने आरोग्य लाभ के लिये आदेश दिया है कि सोते समय स्वास्थ के इच्छुक व्यक्ति को बार बार इस वाक्य को दुहराना चाहिये — "मैं हर एक तरह से प्रतिदिन अच्छा हो रहा हूँ।" यह कल्याण की भावना का अभ्यास अथवा जप है। योग सूत्र में जप का अर्थ उसके अर्थ की भावना ही बताया है। अतएव प्रति दिन किसी भली भावना को बार बार मन में लाने से मनुष्य की इच्छा शक्ति दृढ़ होती और इससे आरोग्य लाभ होता है। जप आत्म निर्देश को दृढ़ बनाने का उपाय है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक जप करता है उसकी अपने आप का और दूसरे लोगो का कल्याण करने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। जप के द्वारा मानसिक शक्ति का संचय होता है। यही शक्ति फिर किसी भी काम में लाई जा सकती है। जिस व्यक्ति को दूसरों को आरोग्य लाभ करने में सहायता करना है उसे तो प्रति दिन ही जप करना नितांत आवश्यक है। बिना इस प्रकार के जप के उस में आत्म-विश्वास का दृढ़ रहना ही संभव नहीं जो रोगियों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है। रोगी का एक विशेष प्रकार का विकृत निश्चय बना रहता है। इस निश्चय को बदलने के लिये अपना विपरीत अर्थात् आरोग्य का निश्चय दृढ़ रहना

चाहिये। यदि रोगी के सम्पर्क में आने के कारण अपना ही निश्चय डिग गया तो हम कुछ भी दूसरे का लाभ नहीं कर सकेंगे।

किसी भावना को अचेतन मन में डालने का सर्वोत्तम उपाय शैथिली करण का अभ्यास है। किसी विचार को मन में लाने के बाद मन को शून्यावस्था में लेजाना आवश्यक है। इस प्रकार के प्रयत्न से शैथली करण की क्रिया के पूर्व का विचार चेतन मन से अचेतन मन में चला जाता है। शैथिली करण के लिये पहले शारीरिक शैथिली करण करना आवश्यक है, फिर मानसिक शैथिली करण करना चाहिये। आना पानसति का अभ्यास मानसिक शैथिली करण में बड़ा ही लाभ दायक होता है। शैथिली करण से सभी प्रकार के विचारों में शिथिलता आ जाती है। मानसिक शैथिली करण के समय अनेक प्रकार के विचार मन में आते हैं। इन विचारों को मन से अलग करते जाना चाहिये इस प्रकार कोई भी विचार मन में ठहर न पायेगा। आना-पान सति के अभ्यास करते समय अनेक प्रकार के व्यर्थ के विचार मन में आते हैं। इन विचारों का आना ही आरोग्य लाभ करने के लिये आवश्यक है। इस प्रकार अनेक विचारों के मन में आने से मन के दबे भावों का रेचन होता है और किसी प्रकार की शुभ भावना सरलता से आन्तरिक मन में बैठ जाती है। मानसिक शैथिलीकरण दबी अभद्र भावनाओं के रेचन और नर्म भली भावनाओं के दृढ़ करने के लिये आवश्यक है। यह आरोग्य प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है। अतएव यहां इसपर पूरी तरह विचार करना आवश्यक है।

मानसिक शैथिलीकरण

मानसिक शैथिलीकरण शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोगों के लिए लाभदायक होता है। शरीर और मन का घनिष्ट सम्बन्ध है, यह अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों की उत्पत्ति और और उनके नष्ट होने से प्रमाणित होता है। जब किसी व्यक्ति को मानसिक आराम होता है तो उसे शारीरिक आराम भी हो जाता है।

मानसिक खिंचाव की अवस्था में शरीर भी अस्वस्थ रहता है। जब खिंचाव का अन्त हो जाता है तो आरोग्य की अवस्था आ जाती है।

मानसिक शैथिलीकरण शारीरिक शैथिलीकरण से भिन्न वस्तु है पर शारीरिक शैथिलीकरण से मानसिक शैथिलीकरण होता है और मानसिक शैथिलीकरण से शारीरिक शैथिलीकरण होता है। मानसिक शैथिलीकरण शारीरिक शैथिलीकरण से कठिन है। शारीरिक शैथिलीकरण का अभ्यास मानसिक शैथिलीकरण की पहली सीढ़ी है। शारीरिक शैथिलीकरण पर अमेरिका के विद्वानों ने अनेक पुस्तके लिखी है; और इसके ढंग बतायें हैं। शारीरिक शैथिलीकरण से अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों का उपचार किया जाता है। जटिल बालकों की अनेक प्रकार की कुटेवों से उन्हें मुक्त करने के लिए शारीरिक शैथिलीकरण का उपयोग किया जाता है।

मानसिक शैथिलीकरण के लिए अभ्यास कर्त्ता को एक तख्ते पर जिसपर केवल दरी बिछी हो लेट जाना चाहिए। सिरहाने की ओर एक छोटा सा तकया रहना चाहिए। तख्ता इतना बड़ा हो कि अभ्यास करनेवाले का पूरा शरीर बन जाय। उसे इस तख्ते पर चित्त होकर लेट जाना चाहिये। जब वह लेट जाय तो उसे अपने एक एक अंग को इस प्रकार शिथिल कर देना चाहिए मानो वह अब प्राण शून्य हो गया है। पूरी तरह शव के समान निर्जीव सा पड़ जाने से शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था आती है।

इसे प्राप्त करने के लिए पहले पहल किसी दूसरे व्यक्ति का सहारा लिया जा सकता है। अपने हाथ को ढीला करने का अभ्यास पहले किया जाता है। हाथ इतना ढीला हो जाना चाहिये कि उसे यदि कोई उठावे तो उठ जाय और जब उसे छोड़ दे तो वह निर्जीव पदार्थ जैसा नीचे गिर जाय। जबतक हाथ के उठाते समय स्वयं अभ्यास कर्त्ता सचेत हो जाता है और अपनी शक्ति उठाने में लगाता है तबतक शारीरिक शैथिलीकरण प्राप्त नहीं होता। जब बिना कुछ प्रयास के

निर्जीव पदार्थ जैसे ही दूसरे के उठाने से हाथ उठने लगता है और उनके छोड़ देने से गिरने लगता है तब जानना चाहिए कि शारीरिक शैथिली करण की अवस्था आई।

पहले दाहने हाथ के साथ उक्त अभ्यास को किया जाय, फिर बायें हाथ के साथ। फिर पैरों के साथ इसी प्रकार का अभ्यास करना चाहिये। इसके पश्चात् आखों की पलक से भी इसी प्रकार का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार सभी अंगों के प्रति शैथिली करण का अभ्यास किया जा सकता है।

जब मनुष्य शारीरिक शैथिलीकरण का अभ्यास करते रहता है तो उसका मन इन क्रियाओं में एकाग्र रहने के कारण उसके मन का भी शैथिली करण का अभ्यास साथ साथ ही हो जाता है। इस प्रकार का अभ्यास प्रतिदिन करने से अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक थकावट अपने आप दूर हो जाती है। बहुत से शारीरिक रोग जैसे कुपच पेट का दर्द, हृदय की धड़कन, दमा आदि इसी प्रकार के अभ्यास से अच्छे हो जाते हैं। जब मनुष्य अपने आप को शैथिली करण की अवस्था में सोचने लगता है तो उसका मन अनेक प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त रहता है। ये चिन्तायें मनुष्य की शक्ति को नष्ट करती है। शैथिलीकरण के समय इस शक्ति का संचय होता है। फिर यह शक्ति शरीर के उस अंग का क्षति को पूर्ति करती है जहाँ रोग आ गया है। शक्ति के अभाव के कारण ही बहुत से रोग स्थायी हो जाते हैं। जब रोगी के शरीर में शक्ति आ जाती है तो रोग अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

जब शरीर की पूर्णतः शिथिल अवस्था हो जाय तो अभ्यास कर्त्ता को चाहिये कि वह अपना ध्यान स्वास प्रस्वास के ऊपर केन्द्रित कर दे। अपने ध्यान के इस प्रकार केन्द्री करण करने से कुछ समय के बाद प्रारंभ में उसे नींद आ जावेगी। यह नींद की अवस्था किसी प्रकार के रोग को विनाश करने में लाभदायक होती है। विचारों को स्वास पर केन्द्रित करते समय सभी प्रकार के भले और बुरे विचार

मन से अलग कर देना आवश्यक है। किसी प्रकार के विचारों पर भी मन के स्थिर रहने से मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था प्राप्त नहीं होती।

शारीरिक अथवा मानसिक रोग की अवस्था में रोगी को अपने आप को शुभ निर्देश देना पड़ता है। परन्तु ये शुभ निर्देश शैथिलीकरण के अभ्यास के पूर्व ही हो जाना चाहिये। साधारणतः हमारे किसी प्रकार के निर्देश हमें तभी लाभदायक होते हैं जब हम अपने आप को विचार शून्य बनाने की चेष्टा करते हैं। यदि ऐसा न करें तो प्रत्येक शुभनिर्देश चेतना की सतह पर अधिक देर तक रहने से प्रति निर्देश और संशय की मनोवृत्ति को उत्पन्न करता है। इससे कभी कभी रोग और भी बढ़ जाता है।

रोगी का मानसिक शैथिलीकरण मानसिक चिकित्सक की सहायता से होता है। यह नित्य प्रति निश्चित समय पर होना चाहिये। इसके लिए शान्त एकान्त स्थान होने की आवश्यकता है। जो काम साधारण अवस्था में अभ्यासकर्ता स्वयं कर लेता है उसी काम को चिकित्सक अपनी सहायता से रोगी से कराता है। वह रोगी का हाथ उठाता, उसे समय समय पर आदेश देता और वह उसके शरीर पर हाथ को फेरते जाता है। यह एक प्रकार का सम्मोहन है। पर इससे रोगी के मानसिक बल की क्षति नहीं होती। स्वयं रोगी भी मानसिक चिकित्सक का सहयोग करता है। अतएव उसके बल की वृद्धि ही होती है।

जब रोगी अर्ध सुप्तावस्था में रहता है तो चिकित्सक उसके प्रति मैत्री भावना और आरोग्य के विचार अपने मन में लाता है। वह अपना हाथ को रोगी के ऊपर धीरे धीरे फेरते जाता है। इससे रोगी के मन में चिकित्सक के भेजे हुए कल्याण के विचार बैठ जाते हैं। ये उसके अचेतन मन के अंग बन जाते हैं। जब रोगी का चेतन मन सो जाता है तब भी उनका अचेतन मन जाग्रत रहता है

और जो कुछ आदेश तथा विचार इस मन को रोगी की सुप्तावस्था में दिये जाते हैं वह उन्हें ग्रहण कर लेता है।

जब हम रोगी के अचेतन मन से अपना नाता जोड़ लेते हैं तभी हम उसका वास्तविक कल्याण करते हैं। रोगी से केवल रोग के सम्बन्ध में बातचीत करने से रोगी का उतना लाभ नहीं होता। रोगी को जहाँ तक हो सके कम ही बातें कहना चाहिये। जो कुछ बातें वह कहे उन्हें चुप चाप सुनना चाहिये। उससे बीच बीच में प्रश्न करते जाना चाहिये, ताकि वह अपनी बातों का तांता रखे। बीच बीच में उसके विचारों की निराशात्मक गति को बदलने के लिये उसे दो चार शब्दों में सद् निर्देश देते जाना पर्याप्त है। यदि रोगी किसी बात पर बहस करने लग जाय तो उससे अधिक बहस न करना चाहिये। इस प्रकार की बहस से उसका मन और भी उद्विग्न हो जाता है। मानसिक उद्विग्नता को रोकना ही मानसिक चिकित्सा का मूल सूत्र है। रोगी के अचेतन मन तथा उसकी भावनाओं (संवेगों) में परिवर्तन करने में ही मनुष्य का कल्याण होता है और इसी प्रकार हम दूसरे का उपकार कर सकते हैं।

जब शैथिलीकरण का अभ्यास दृढ़ हो जाता है तो फिर मनुष्य अपने सभी काम को करते हुए मानसिक साम्य की अवस्था में रहता है। उसका चेतन मन सक्रियशील रहता है और उसका अचेतन मन शान्त अवस्था में रहता है। वह बदलती हुई परिस्थितियों में अनेक प्रकार के काम करता है, पर तिस पर भी भीतर से शान्त बना रहता है। उसके मन में धैर्य्य रहता है। इस धैर्य के कारण उस के मन में अपार शक्ति रहती है। जिस व्यक्ति का आन्तरिक मन शान्त है वही बड़े बड़े कामों को करने में समर्थ होता है। इस प्रकार का धैर्य अनेक दिन के मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास का परिणाम होता है।

मनुष्य जितनी शक्ति काम को करने में खर्च करता है उससे कहीं अधिक शक्ति उस के विषय में चिन्ता करने में खर्च करता है।

यह चिन्ता उसके अचेतन मन की वस्तु बन जाती है। जब मनुष्य की अधिक शक्ति चिन्ता में ही खर्च हो जाती है तो वह अपने काम को सफलता पूर्वक नहीं कर पाता। काम को भली प्रकार से करने के लिये चिन्ताओं का अभाव होना आवश्यक है।

बहुत से लोगों के मन में अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था बनी रहती है। इसके कारण भी मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है। मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास से इस अन्तर्द्वन्द्व का अन्त हो जाता है। अतएव जो शक्ति इस में खर्च होती है वह बच जाती है। मानसिक शान्ति का अवस्था से मनुष्य की सारी शक्ति एक ओर केन्द्रिभूत हो कर कार्य करती है और फिर जो काम कई दिनों में मनुष्य करता है वही वह थोड़े समय में पूरा कर लेता है। उससे भूलें भी कम होती हैं। काम में भूलों का बाहुल्य होना चित्त की एकाग्रता की कमी तथा मानसिक शक्ति के ह्रास का परिचायक है। अतएव मानसिक शैथिलीकरण मानसिक शक्ति के संचय और उसकी वृद्धि का बड़े महत्व का साधन है।

मानसिक शैथिलीकरण मनुष्य की बुद्धि में विशेष प्रकार की सूझ उत्पन्न करता है। यह मनुष्य अनेक प्रकार के संकटों से बचाता है। मानसिक शैथिली करण से स्मरण शक्ति बढ़ जाती है और कल्पना तथा विचार भी अद्भुत चमत्कार वाले हो जाते हैं। इस अभ्यास से मन की अनेक प्रकार की अशुभ वृत्तियों का अन्त हो जाता है। काम क्रोध लोभ आदि मनोवृत्तियां इससे निर्बल हो जाती है ये वृतियां मन की उद्विग्न अवस्था में ही प्रबल होती हैं और मन को और भी उद्विग्न बनाती हैं। मानसिक शैथिली करण के अभ्यास से ये वृत्तियां काबू में रहती हैं। अतएव यह अभ्यास न केवल मनुष्य की स्मृति और विचार शक्ति को बढ़ाता है वरन् उसके चरित्र को भी दृढ़ करता है।

चरित्र वान् व्यक्ति कठिन परिस्थितितियों में पड़ने पर भी शान्त मन रहता है। पर वही व्यक्ति कठिन परिस्थितियों में शान्त

मन रह सकता है जो उक्त अभ्यास पहले से ही करता हो। चरित्र हीनता और मानसिक रोग एक दूसरे के समीप हैं। इसी प्रकार चरित्र और स्वास्थ्य भी एक दूसरे के समीप हैं। जो अभ्यास मनुष्य को शारीरिक और मानसिक आरोग्य प्रदान करता है वह उसके चरित्र को भी बनाता है।

मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास पहले पहल एकान्त में लेट कर किया जाता है, पीछे यह अभ्यास बैठकर किया जाता है। इसके उपरान्त चलते फिरते काम करते हुए इस अभ्यास को भी मनुष्य करते रहता है। सभी कामों को करते हुए जब मनुष्य की मनोवृत्ति एक तत्व के ऊपर लगी रहती है तब वह मानसिक शिथिलता की ही अवस्था में रहता है। जिस मनुष्य में जितनी ही अधिक त्याग बुद्धि होती है वह उतना ही मानसिक शिथिलता की अवस्था में रहता है। इस प्रकार के मानसिक शैथिलीकरण के लिये उचित दार्शनिक दृष्टि कोण की नितांत आवश्यकता है। सच्चा दार्शनिक वह है जो किसी प्रकार के परिवर्तन से उद्विग्न मन नहीं होता। वह संसार के कार्यों में भाग लेता है, पर उनसे अपने आप को बाँध नहीं लेता है।

उक्त शैथिलीकरण की महत्ता सभी धर्म पुस्तकों में बताई है। स्टोइक दर्शन और गीता का विचार उक्त शैथिलीकरण का उत्पादक है। ऐसे शैथिलीकरण की आवश्यकता विलियम जेम्स ने अपनी मनोविज्ञान की पुस्तकों में शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति की वृद्धि के लिये बताई है। विलियम जेम्स आधुनिक लौकिक बुद्धि के लोगों की मानसिक उद्विग्नता को देखकर दुःखी होते हैं। आधुनिक सभ्यता में प्रत्येक व्यक्ति अपने संसारिक कार्य में अपने आप को खोये हुए रहता है। उसका मन सदा बेठिकाने रहता है। इसके कारण वह अपने आप को अल्पायु बना लेता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन को दिन में एकबार पूरी तरह संसार के कामों से अलग करले तो उसका कितना कल्याण हो सकता है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जिस मनुष्य का मन आशावादी होता है, जो अपने सभी कामों में भलाई ही भलाई देखता है, उसका मन शैथिलीकरण की अवस्था में ही सदा रहता है। संसार के प्रसिद्ध व्यवसायी हेनरी फोर्ड ने अपनी साधारण अवस्था से उद्योग करके संसार का सबसे बड़ा कारखाना खोला। पर वह सदा शैथिलीकरण का अभ्यास करता था, अतएव अठत्तर वर्ष की अवस्था में भी वह पूर्ण स्वस्थ था। जब श्री डेल करनेगी महाशय ने उससे उसके इस प्रकार स्वस्थ रहने का कारण पूछा तो उसने कहा "मैं यह नहीं सोचता कि मैं इस बड़े कारखाने को चला रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि ईश्वर ही इस कारखाने को चला रहा है। ईश्वर अपने काम को ठीक से करना जानता है; अतएव मैं उसकी सफलता के विषय में चिन्ता नहीं करता।" इस प्रकार वह कारखाने का पूरा काम करके भी मानसिक स्वास्थ्य का उपभोग करता था। जो मनुष्य अपने काम का अभिमान अपने आप ही करता है उसे चिन्ता और ममता खा जाते हैं। अपने काम की सफलता के विषय में अभिमान को त्याग देना मानसिक शैथिलीकरण को प्राप्त करना है।

अमेरिका के प्रसिद्ध अध्यात्मिक लेखक इमरसन महाशय का कथन है कि कवि, दार्शनिक और संत को सभी वस्तुयें पवित्र और भली होती है, सभी घटनायें कल्याणकारी, सभी दिन शुभ और सभी मनुष्य दैवी होते हैं।* जिस मनुष्य की बुद्धि इस प्रकार के आध्यात्मिक विचार से परिपूर्ण है वह किसी प्रकार की प्रतिकूल घटना से विचलित बुद्धि नहीं होता। सभी बुराइयों में भलाई देखना दैविकता है और सभी घटनाओं में बुराई देखना ही शैतानीभाव है। यदि मनुष्य अपनी मति को स्थिर रखे तो उसके सामने आने

* To the poet, to the philosopher and to the saint all things ore friendly and sacred, all events profitale, all days holy and all men divine.

—Emerson, Essays

वाले अशुभ घटनायें भी कल्याण कारी सिद्ध होती हैं। वस्तव में छिछली, बुद्धि का मनुष्य ही निराशावादी होता है। संसार की घटनाओं पर गंभीर विचार करने वाला व्यक्ति सदा मानसिक शान्ति का उपभोग करता है।

सच्चा मानसिक शैथिली करण उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसके विचारों में एकता है जो सभी घटनाओं को एक ही तत्व का व्यक्ति करण मानता है और जो सदा अपने ध्यान को एक तत्व की ओर बार बार ले जाता है। मनुष्य का मन निश्चय की दृढ़ता से ही स्थिर रहता है। यह निश्चय की दृढ़ता गंभीर चिन्तन का और कठिन अभ्यास का परिणाम होती है।

मानसिक शैथिली करण और भावनाओं के परिवर्तन द्वारा जटिल मानसिक रोगों का अन्त किस प्रकार हो जाता है इसका एक अच्छा उदाहरण लेखक से गतवर्ष सलाह लेने वाले एक मानसिक अभिताप और मूर्छा के रोग से पीड़ित व्यक्ति के आरोग्य लाभ में देखा जाता है। निम्नलिखित पत्र व्यवहार रोग के लक्षण और उसकी चिकित्सा विधि को स्पष्ट करता है।

रोगी को मूर्छा आ जाने का रोग है। उसने अपने रोग का परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया है।

"सर्व प्रथम आज से सवा वर्ष पूर्व में मेरा बायाँ हाथ टूटा था। ठीक ठीक न जुड़ सकने पर एक पहलवान ने उसकी सिकाई मालिश आरंभ की, जो ७ मास तक चलती रही। अलसी, अम्बाहल्दी, मट्ठ तथा अरण्ड के पत्ते आदि ७ मास बांधे गये थे। स्कूल से कई मास की छुट्टी भी लेनी पड़ी थी। इधर उधर भी हथ उधार कुछ रुपया हो गया था। खाने में कमी रही। लड़के की पढ़ाई डबल चल रही थी —एम० ए० तथा एल० एल बी० दोनों। एक भी दिन पूरा आराम नहीं मिला। एक मास बाद आकर (XX) में काम ले लिया। दिमाग में खुश्की और गर्मी इन सब कारणों से भर गई थी। इस लिए जनवरी मास में सर्व प्रथम इसका आक्रमण

हुआ। उसे हम लोग स्वयं वर्तमान रूप में न जान कुछ अंड-बंड ही समझे। तब से १०, १५ दिन बाद बीमारी का आक्रमण हो जाता था। रात्रि के प्रथम पहर ६ बजे के लगभग जब कि मैं प्रायः सोया करता हूँ, दौरा हो जाता था। कभी रात्रि के अंतिम पहर में हल्की निद्रा में। अब ऐसा कोई नियम नहीं रहा है। अब ७, ८ दिन बाद भी दौरा हो जाता है। इसके उपरान्त श्वास फूल जाता है। जैसे कोई अति विपत्ति से बचा हो। लगभग १०, १५ मिनट तक फूल निकलती है। उसी समय से छोटी छोटी घटनाओं का भूल जाना आरंभ हो जाता है। हाथ पैर अकड़ते नहीं बल्कि ठण्डे हो जाते हैं। पसीना गर्मियों में शरीर में आ जाता है। फिर बाद को होश आ जाता है। जब से यह रोग हुआ है छोटी छोटी बातें हृदय में जम जाती हैं। वही बातें स्वप्न का रूप धारण कर लेती हैं। इससे पूर्व स्वप्नों का यह सिलसिला चालू न था। पहले दौरा १०, १५ दिन बाद पड़ता था। अब कोई निश्चित समय नहीं है। दौरा के पहले निर्बलता की अधिक अनुभूति होती थी। अब उतनी नहीं। जीभ हरबार कटती थी। अतः कुछ दाँत निकलवाने पड़े। अब भी थोड़ी बहुत खुरुच जीभ में अवश्य लग जाती है। ४ महीना डाक्टरी इलाज हो चुका है। १६ इन्जेक्शन भी लग चुके हैं। आजकल देशी दवा ले रहा हूँ। यह मेरे रोग का इतिहास है।"

लेखक ने रोगी को अपने प्रथम पत्र में जो सलाह दी वह निम्नलिखत है—

अभी हाल में आप मानसिक शैथिली करण का अभ्यास करें। इस के लिये किसी आराम कुर्सी पर लेट जाँय और सभी अंग शिथिल कर के मन में जो आता जाय उसे आने दें। इन मानस चित्रों में अनेक सुन्दर होंगे और अनेक कुरूप। परन्तु इस पर विचार न करके उन्हें जैसे वे हैं वैसे ही आने दें। यह अभ्यास प्रति दिन सबेरे शाम डेढ़ घन्टे करें।

दूसरे आध घन्टे तक धीरे धीरे जाप करें। इस से मानसिक शान्ति आयेगी। यह प्रति दिन सवेरे व शाम किया करें।

हो सके तो रविवार के दिन फलाहार करें और गंगा स्नान कर आया करें। रास्ते के कुछ भिखारियों को दान भी दें। इससे भी लाभ होता है। कुछ धार्मिक पुस्तकें पढ़ने से भी मानसिक शान्ति आती है। इनमें भागवत और कुछ महात्माओं की जीवनी, हितोपदेश, पन्चतन्त्र तथा जातक की कहानियाँ हो तो अच्छा है। सरल सुबोध भाषा वाली रोचक कहानियाँ ही पढ़िये। किसी प्रकार के संगीत को सुनना भी लाभदायक होगा। जहाँ भी अवसर मिले बच्चों की कुछ सेवा करें। इन्हें लाड़ प्यार करें और कुछ मिठाई भी बांटें। बच्चों को बाल कृष्ण के रूप में माने। बच्चों के प्यार से सैकड़ों रोग अच्छे हो जाते हैं।

प्रत्येक रोग का कारण मनुष्य के अचेतन मन में छिपा रहता है। यह कारण मानसिक ग्रन्थि का रूप ले लेता है। मानसिक ग्रन्थि एक तो उसकी खोज से नष्ट की जा सकती है और दूसरे बिना खोजे ही उसको निवृत्त किया जा सकता है। मानसिक ग्रन्थि के खोजने के लिये स्वयं रोगी प्रयास करता है तभी ग्रन्थि शीघ्रता से समझ में आती है। केवल मानसिक चिकित्सक के प्रयत्न करने से रोग का कारण और भी गुप्त होते जाता है। आप स्वयं अपने आप को समझने की चेष्टा करें। मैं आप का सहायक मात्र बन सकता हूँ। इसके लिये कुछ मानसिक रोग और चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों का भी अवलोकन करें। इस सम्बन्ध में नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्श, चौक, बनारस द्वारा प्रकाशित मेरी पुस्तक 'मानसिक चिकित्सा' को देखें। इससे आप को अपना रोग कुछ समझ में आयगा और इसके समझ में आने से हलका भी पड़ेगा।

यदि संभव हो तो आप अपने कुछ स्वप्नों को लिख भेजिये। इस पत्र को रात को पढ़ कर सो जाइये। फिर जो रात को स्वप्न आये उसे लिख कर भेजिये। ऐसे ही कुछ और स्वप्न भी लिख

कर भेजिये जहाँ तक संभव हो स्वप्न बिना दबाये घटाये, बढ़ाये भेजिये। इन स्वप्नों से कुछ रोग का कारण ज्ञात होगा परन्तु यह सब करते हुये भी पहले जो अभ्यास बताया है करते ही रहिये। मनुष्य के हजारों रोग उसमें सच्ची धार्मिक मनोवृत्ति आने पर अपने आप नष्ट हो जाते हैं। जो व्यक्ति दूसरों का कल्याण करने के लिये कटिबद्ध रहता है उसका कल्याण अपने आप हो जाता है।

कृपा कर अपनी आयु, संतान सम्बन्धी, आय तथा जीवन के महत्त्वपूर्ण अनुभवों को विस्तार पूर्वक लिखें। लिखने में मुँह से कहने की अपेक्षा संकोच कम रहता है। अतएव निःसंकोच हो कर सभी बातें लिखें।"

पहले पत्र के उत्तर में रोगी ने अपने दूसरे पत्र में निम्नलिखित बातें लिखी—

एक बार छोटी अवस्था में जब कि मैं ३-५ वर्ष का था, मैं तथा मेरे बड़े भ्राता मकान की छत से नीचे गिरे थे। आठ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल पाठशाला में प्रविष्ट कर दिया गया था, जहाँ मैं आठ वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करता रहा। उन्नीस वर्ष की अवस्था में मैं विवाह के बन्धन में बँध गया था। मेरे कुल आठ संतानें हुई हैं, जिनमें पहले दो बच्चे, एक लड़की और एक लड़का विद्यमान हैं, शेष एक एक दिन के होकर मर गये। उन के लि हम दोनों को कोई विशेष दुख या अनुताप नहीं है। मेरी अवस्था इस समय ५२ वर्ष की है। मेरी पत्नी की आयु ५० के लगभग है। बड़ी सन्तति लड़की २८ वर्ष की है लड़का २४ वर्ष का है। दोनों विवाहित हैं। कन्या के ३ सन्तान हैं लड़के की संतति अभी नहीं है। १२ वर्ष से हम लोग गृहस्थी त्यागे हुए हैं। सरकारी नौकरी में शिक्षा-विभाग में अध्यापक हूँ। २८ वर्ष से गवर्नमेन्ट सर्विस में हूं। गवर्नमेन्ट हाई स्कूल (XXX) में जहाँ मेरा जन्म स्थान है, मैं अध्यापक हूँ। यहाँ ट्रेनिंग करने के लिये मुझे भेजा गया था, जहाँ मैं (XX) में ट्रेनिंग ले रहा हूँ। वहीं से मुझे आपका परिचय मिला। श्रीयुत

(XXX) ने आप से परिचय कराया है। वहाँ ट्रेनिंग का समय ३१-१-४६ को समाप्त हो रहा है। अतः १-२-४६ को हमलोग यहाँ से अपने-अपने स्कूलों को वापस जा रहे हैं। ७ तारीख को मैं फिर (XXX) पहुँच जाऊँगा। मैं संस्कृत अध्यापक हूँ। १६ वर्ष की अवस्था में मैं काशी पढ़ने चला गया था। जहाँ ३- वर्ष रहा था। वहाँ से मैंने मध्यमा पास की थी। वहाँ भोजन स्वपाक ही अधिक रहता था। वहाँ रतौंध की शिकायत काफी दिन चल रही थी अर्श की शिकायत मुझे दस वर्ष चली। यह चीज तो हमारे घर की पैतृक सम्पत्ति है। १५-१६ वर्ष आपरेशन हुए बीत गये तब से यह शिकायत शान्त है। मूर्छा रोग का वर्णन निम्नलिखित है—

डेढ़ वर्ष हुये, मेरे बायें हाथ की कोन्ही की हड्डी वर्षा में पैर फिसलने से टूट गई थी। उसे पीलीभीत के सफाखाने में जोड़ा गया पर वह ठीक न जोड़ी जा सकी उसे एक पहलवान ने सात मास तक बराबर गरम औषधियों से सिकवाया और उस पर गरम चीजें पर्याप्त मात्र मे बांधी गयी। यह दोनों समय घन्टे-घन्टे, डेढ़-डेढ़ घन्टे होता था, तेल का भी सेक चलता था फलस्वरूप शरीर बिल्कुल पीला तथा निबल हो गया था और शरीर पर फोड़े फुंसी तथा खुश्क खुजली भी काफी दिनों चली बल्कि खुश्क कण्डू अब तक चल रही है। पहलवान ने घी दूध आदि का अधिक सेवन करने को कहा था पर वैसा न किया जा सका क्यों कि उन दिनों साधारण गृहस्थी का व्यय चलाना ही काफी कठिन था, मँहगी का समय था अतः मैं घृत आदि का अधिक सेवन न कर सका, काम भी काफी रहा, चिन्ता अलग रूप धारण किये रहती थी, गृहस्थी का व्यय भी पर्याप्त मात्रा में था लड़का एम० ए० में पढ़ रहा था—अतः मुझे सबसे अधिक इस सिकाई का ही प्रभाव रोगोत्पत्ति में प्रधान कारण के रूप में लक्षित होता है। क्योंकि मुझे आठ मास तक छींक भी नहीं आयी। जाड़ों में भी शर्बत आदि का आजकल पीना मुझे कोई हानि नहीं करता। सन्तरों का सेवन बराबर चल रहा है। अब कुछ गर्मी का प्रभाव दबा है। दो-एक

छींक भी जब तब आ जाती है। एक बार जुकाम भी यहाँ आकर हो चुका है। मैं यहाँ दिसम्बर के आरम्भ में आया था। दो मास से यहाँ हूँ। मेरे घर से जाह्नवी का क्रोड काफी दूर है। अतः केवल एक दो बार ही स्नान करने को मिला है। काम वैसे अधिक है, अतः नियमित उपस्थिति यहाँ आवश्यक होती है। होमियोपैथिक दवा आज कल चल रही है। वह हाई डोज देते हैं १५ दिन के लिये। आज दूसरी खूराक ली है। १५-१६ दिन के अन्तर से दो खुराक लेने को डाक्टर साहब और कहते हैं। इससे पूर्व दो मास देशी औषधि कुमारासव और द्राक्षासव सेवन की थीं। उससे पूर्व चार मास डाक्टरी चिकित्सा ऐलोपैथी चली थी। उस में इन्जेक्शन भी लगे थे, वैसे औषधि भी खानी पड़ी थी। मेरे हाथ में कोई खास दर्द तो है नहीं और न हाथ कोई खास बाधा दैनिक कार्यों में उपस्थित करता है। बाँयाँ हाथ कन्धे से पूर्णतया चिपट नहीं पाता, कुछ कसर रह जाती है, यही हाथ की वर्तमान शिकायत कही जा सकती है।

मेरे पुत्र पी० सी० एस० की परीक्षा में बैठ चुके हैं। सोशल सर्विस भी पास कर चुके हैं, एम० ए० पास हैं ही। लाइब्रेरियन के कम्पटीशन में भी बुलाये जा चुके हैं। अतः थोड़ा बहुत यह तो विचार में आता है कि उन्हें कहीं आजीविका कमाना चाहिये। पर उसके लिये मैं विशेष रूप से चिन्तित नहीं हूँ २००) रुपया मासिक मुझे मिल रहा है। घर पर पिता माता आदि भी विद्यमान हैं। उनका पूर्ण भार मेरे ऊपर नही है। जो व्यय में उनके निमित करना चाहूँ, तो मेरा कर्त्तव्य निभ जाता है। मेरा तथा मेरी पत्नी का दो सच्चे साथियों कैसा सम्बन्ध है। हम एक दूसरे के सच्चे सहयोगी बने रहने का सतत यत्न करते हैं। दो बराबर के मित्रों कासा हम दोनों में पारस्परिक व्यवहार है। हम दोनों अपने को बराबर मूल्य वाले, बराबर के संगी मानते हैं।

इन जीवित सन्तानों के बाद जो सन्तति हुई, उन्हें कुछ ऐसी विशेष शिकायत हो गई थी कि जन्म लेने के कुछ घंटों बाद हर बच्चे

के शरीर का रंग बदल कर श्वास विकृति होकर वे समाप्त हो जाते थे। इस प्रकार जब कई सन्तति ठीक समान रूप में ही असमय में काल ग्रास हुई तो हम दोनों ने ज्ञान यत्न से लम्बी दूर तक सोचने के बाद गृहस्थ-सम्बन्ध का परित्याग निश्चित कर लिया और तबसे १२ वर्ष से हम दोनों संयम से रहे हैं।

मैं मानसिक शैथिली करण का अभ्यास करने का प्रोग्राम वना रहा हूँ। दो चार दिन में उसका आरम्भ कर दूँगा। मानसिक चित्रों का चित्रण करके आपके पास भेजूंगा। ओम् का जाप आरम्भ कर दिया है। गायत्री जाप भी इससे पृथक करता हुँ। कुछ व्यायाम भी प्रातः करता हूँ, दण्ड बैठक के रूप में और कुछ उद्यान भ्रमण और उद्यान धावन के रूप में। इसके अतिरिक्त चार मील का दोनों समय का भ्रमण भी रहता है। घर्षणस्नान तथा साधारण स्नान प्रातः ५ बजे कर लेता हूं। ६ बजे तक सन्ध्यादि से निवृति होकर ७ तक टहल आता हूँ स्वाध्याय को भी जीवन का एक अंग बनाना चाहता हूँ। अतः थोड़ा बहुत स्वाध्याय दैनिक चला रहा हूँ। सन्ध्या दोनों समय की जाती है, अतः ओम का जाप दोनों ही समय चल सकेगा ऐसी आशा है। रविवार को विशेष भोजन फलहार आदि का प्रबन्ध रखूँगा। स्वाध्याय निमित्त धार्मिक पुस्तक गीता, उपनिषद, महाभारत रामायण आदि पुस्तक, विशेष कर दैनिक स्वाध्याय, आरम्भ कर दूँगा। चूंकि बच्चों के पढ़ाने की सेवा का ही कार्य मुझे मिला है, अतः ४ वर्ष से बालकों की यह सेवा कर ही रहा हूँ। उसे कुछ और ध्यान से करूँगा जैसा कि आप श्रीमान का संकेत है। रात्रि को कुछ प्रसाद के रूप में बांठने का नियम कर लूँगा। बच्चे की ओर से अब तक विशेष रूप से कुछ घटित घटना विशेष मानसिक ग्रन्थि का रूप ले सकती है, पर उन्हें भी में प्रत्यक्ष कारण नहीं देखता। बच्चे को कांग्रेस के मूभमेन्ट में एक बार गोली लगी थी। ३-४ वर्ष कांग्रेस मभमेण्ट में उसका हिस्ट्री शीट खुला रहा था। मार्शल सर्विस की ट्रेनिङ्ग में उसे कई मास डायरिया का रोगी रहना पड़ा था—यह

कुछ घटनायें हो सकती थीं। यह सब अब कुछ नहीं हैं। अब तो थोड़ा बहुत आजीविका का प्रश्न जबतब दृष्टि में आता है—इसके अतिरिक्त और जो कारण जब ध्यान में आवेगा, आपको समय-पर लिखूँगा। इस समय तो और कोई कारण मानसिक ग्रन्थि पड़ जाने का मुझे प्रतीत नहीं होता। कृपया अपनी पुस्तक का मूल्य अगले पत्र में लिखने का कष्ट उठावें। मैं बनारस से उस पुस्तक को आपका उत्तर आने पर मगांऊंगा।

इस रोग में मुझे विस्मृति रोग विशेषतया हो गया है अतः स्वप्नादि याद नहीं रहते। अब मैं रात्रि में उठकर ही उन्हें लिख लिया करूँगा। इस प्रकार एक सप्ताह के संगृहीत कर के आपको सेवा में भेजूँगा। रात मैंने स्वप्न कई देखे। उनमें केवल इतना याद रहा—मेरी एक चारपाई जलने सी लगी है, उसे मैं बुझाने के लिए यत्नशील हूँ। चक्करदार गलियों में चक्कर भी लगाया करता हूँ।

३० की रात्रि के स्वप्न—

१. एक संन्यासी मुझे दिन में लेटा देखकर कहने लगे कि दिन में सोना अनुचित है। मैंने उत्तर दिया मैं सोता नहीं हूँ, दिन में भोजन के बाद आराम कर रहा हूँ। इसके बाद में एक अवैतनिक संस्था में पढ़ाने जाऊँगा। इस समय मैं आराम ले रहा हूँ। फिर में उठा हूँ और कहने लगा कि स्वामी जी ब्रह्मचारियों को किसी ने मिठाई बांटने को आज कहा है।

२. एक सज्जन मुझे निमंत्रण देने आये। मैंने कहा कि मैं निमंत्रण नहीं खाता हूँ। पर आप के यहाँ किसी को भेज दूँगा पर वह मुझे विवश कर रहे हैं, मैं उनसे इस पर बहस कर रहा हूं। फिर आँख खुल गई।

३. कुछ स्वप्न और भी देखा है जो स्पष्ट याद नहीं रहा—कुछ पुस्तक का भाग सा उसमें मैंने पढ़ा है। रवि का रात्रि को यही स्वप्न देखे हैं"

रोगी का उक्त दूसरा पत्र रोग के कारण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। रोग से मुक्त होने के लिये और रोगी की आन्तरिक भावनाओं को बदलने के लिये निम्नलिखित बातें रोगी को लिखी गई—

"मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप ओम् जाप कर रहे हैं और कुछ मैत्री भावना का अभ्यास भी करते हैं तथा मानसिक शैथिली करण भी कर रहे हैं। रविवार को उपवास भी अवश्य कीजिये। आप का रोग नवयुवकों के रोगों से भिन्न प्रकार का है। यह रोग आप को अन्तर्मुखी होने के लिये प्रेरित कर रहा है। हमारी बहुत सी मानसिक ग्रंथियाँ धार्मिक जीवन के अभ्यास से नष्ट हो जाती हैं। मुझे जान पड़ता है कि अधिक परिश्रम करने के कारण और अधिक चिन्तायुक्त रहने के कारण मानसिक शक्ति का बहुत कुछ ह्रास हो गया है। अतएव मन में भीतर के आवेगों को संभालने की शक्ति नहीं रही। किसी समय के पुरान भय अथवा क्रोध के भाव इस समय उखड़ पड़े हैं। यह भय अथवा क्रोध आप को कब हुआ इसका अभी आप को ज्ञान नहीं है और प्रयत्न करने पर भी कठिनाई से इसका ज्ञान होता है। परन्तु मैत्री भावना, आत्म-संयम और शैथिली करण के अभ्यास तथा ओउम् जाप से यह पुराना आवेग मन के बाहर निकले बिना ही नया रूप लेले सकता है। आप जितने ही अधिक सहज भाव से एकाग्रचित हो ओउम् जाप करेंगे उतना ही आप को लाभ होगा। ओ३म् जाप धीरे धीरे, स्वरों का देर तक उच्चारण करते हुऐ कीजिये। यदि संभव हो तो उकार को ही देर तक ध्वनित करते रहिये। जितना ही ओउम् जाप में अर्थ हीनता आयेगी और आप उस आवाज में अपनी चेतना को लय कर दे गें उतना ही आप को लाभ होगा।

शैथिली करण का अभ्यास भी बड़ा ही लाभप्रद है इससे मानसिक विकार का रेचन होता है। इन बातों से धीरे धीरे पहले तो मानसिक अशान्ति कम होगी और पीछे कुछ दिन तक श्रद्धापूर्वक अभ्यास करते रहने से रोग अपने आप नष्ट हो जावेगा। अधिक बौद्धिक परिश्रम मत कीजिये और बुध्दि पर अधिक जोर डालने वाली पुस्तकों को मत पढ़िये। दार्शनिक पुस्तकों को फिर हाल अभी दूर रख दीजिये। धीमे स्वर में नाम कीर्तन, गान, संगीत, कला

आदि में रस लेने से मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है और मानसिक आराम मिलता है। अतएव अगर कहीं आप के मन के अनुकूल गाना होता है अथवा सितार या वीणा बजायी जाती हो तो उसे अवश्य सुनिये इससे आप को स्थायी लाभ होगा।

इस रोग से आप परेशान न हों। प्रत्येक रोग की कुछ समय की आयु होती है उसके बाद वह स्वयं अपने आप ही क्षीण आयु हो जाता है। यदि रोग के विषय में परेशानी कीजाय तो उसका बल बढ़ जाता है। उसे निर्बल बनाने का सर्वोत्तम उपाय उसके प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास है अर्थात् आप यह भावना मन में लावें कि यह रोग मेरे लाभ के लिये है। सोते समय इस प्रकार के भाव अवश्य लावें। किसी दिन उद्विग्नमन हो कर न सोवें। आप अपने स्वप्न और लिखें। जब आप को स्वप्न खूब होने लगेंगे और याद भी रहने लगेंगे तो आप का रोग स्वतः ही बहुत कुछ हलका हो जायगा। आप के स्वप्न जो अपने मुझे लिखे हैं आप को कर्तव्य पथ पर जाने को प्रेरित कर रहे हैं, वे धार्मिक हैं।"

रोगी के स्वप्नों का अर्थ बताते समय उसके भीतरी मन की भावनाओं को उसे बताने की चेष्टा की गई। जब रोग का उपचार प्रारंभ हो जाता है तो रोगी के स्वप्न ही चिकित्सक को सफल चिकित्सा का मार्ग प्रदर्शन करने लगते हैं। ये स्वप्न रोगी के लिये आदेशात्मक होते हैं। रोगी के स्वप्न का अर्थ निम्नलिखित शब्दों में बताया गया —

"आप के सभी स्वप्न कई तरह से एक ही बात को स्पष्ट करते हैं। ये सभी स्वप्न आदेशात्मक हैं। चारपाई का जलने का स्वप्न सांसारिक जीवन की अनित्यता की ओर आप को निर्देश दे रहा है। यह स्वप्न मानो कहता है—

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद
सकल कलेवा काल के, कुछ मुख में कुछ गोद।

आप का जीवन पुण्य रूप से बीता है, अतएव अब उन जीवन की सार्थकता होनी आवश्यक है—सर्व कर्माणि चाखिलं ज्ञाने परि-

समाच्यते। जो कुछ आपने पुण्य कार्य किये उसकी समाप्ति और सफलता ज्ञान के लाभ में होती है। यह ज्ञान का लाभ सभी प्रकार के कर्म के त्याग में है। आप का भीतरी मन ही आप का सच्चा गुरू है। यही सन्यासी के रुप में दिन में सोते रहने से आप को रोक रहा है। वह आप को सन्यास की ओर प्रेरणा दे रहा है। आप अभी भी कर्मक्षेत्र से विरत नहीं हुए। अवैतनिक कार्य का अभिमान भी मानसिक शान्ति नहीं देता। पाप कर्मों के करने से पुण्यकर्म करना अच्छा है, परन्तु पुण्यकर्म भी पुण्य का अभिमान उत्पन्न करता है। जब तक सभी प्रकार के कर्मों का अभिमान त्याग नहीं किया जाता और सहज भाव से जो कार्य हो जाय उतने को ही नहीं किया जाता, तब तक मनुष्य को आध्यात्मिक शान्ति नहीं होती। आध्यात्मिक शान्ति के लिये कर्मों का मानसिक त्याग और चित्त को अन्तर्मुखी बनाना आवश्यक है।

आप का तीसरा स्वप्न—चक्करदार गलियों में घूमने का स्वप्न—आप को अपनी वर्तमान मानसिक परिस्थिति को दर्शा रहा है। ये चक्कर दार गलियां अनेक प्रकार के सांसारिक व्यवसाय हैं। आप का आन्तरिक मन इन से परेशान हो गया है। परन्तु आप का बाहरी मन इन्हीं में लगा है। आन्तरिक मन के भाव हमें स्वप्न में ज्ञात होते हैं। यदि हम अपने आन्तरिक मन के आदेशों की अवहेलना करें तो एका एक कोई अप्रिय घटना घटित हो जाती है।

आप का चौथा स्वप्न भी संसारी भोगों से आप की विरक्ति को दिखाता है। आप का आन्तरिक मन अब यह नहीं चाहता कि अनेक प्रकार के सांसारिक आमन्त्रणों को वह अब और स्वीकार करे; अब आप इन बातों को दूसरों के लिये छोड़ देना चाहते हैं। आप का भीतरी मन तो निमन्त्रण में नहीं जाना चाहता, पर बाहरी मन बाध्य कर के उसे सांसारिक भोगों की ओर ले जाना चाहता है। जो सज्जन बहस कर रहे हैं वे आप के बाहरी अर्थात् जागृत स्वत्त्व के प्रतीक हैं और आप स्वयं उस स्वप्न में आप के आन्तरिक

मन अथवा स्वप्न भाव के प्रतीक हैं।"

"स्वप्नों का अर्थ बताते हुए रोगी को अपने रोग से मुक्त होने के लिये निम्नलिखित विचार पत्र में लिखे गये—

"जब मनुष्य अपनी आत्मा के निर्देशों को मान कर अपने जीवन का कार्य क्रम बनाता है तो उस का जीवन शान्त सुखी और सफल होता है अन्यथा वह अशान्त दुःखी और असफल रहता है। युवावस्था के बाद के मानसिक रोग प्रायः इस बात के प्रतीक होते हैं कि मनुष्य को अब संसारी झंझटों से अपने मन को हटाना चाहिये और अपने आप को परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष लाभ की ओर ले जाना चाहिये। आप को इस प्रकार का निर्देश आप के रोग से भी मिल रहा है। वह आप को संसार से विरक्त करने का आदेश दे रहा है। फिर आपके स्वप्न भी इसी बात को कह रहे हैं। जिस संन्यासी को आपने स्वप्न में देखा वह आप की अन्तरात्मा है। वही गुरू है, जिसका आप ध्यान कीजिये। नित्य प्रति उस महात्मा की ध्यान करने से आप के रोग सहज में नष्ट हो जायंगे। आप को अपना गुरु मिल गया उसने आप को वही वाक्य कहे जो कठोपनिषद् में नचिकेता को यम ने कहे थे—

उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयोवदन्ति ॥

भारतीय संस्कृति में अपना समस्त जीवन बिताने वाले, उस से अपने भावों को रञ्जित करने वाले विद्वान को अब ५२ वर्ष की अवस्था में यह आदेश अन्तरात्मा से न मिले तो आश्चर्य की बात ही होगी। परन्तु आप का बाहरी मन अभी भी लौकिक सुख के भुलावे में पड़ा हुआ है। इस लिये ही अन्तरात्मा के आदेशों को जो उसे स्वप्नों के रूप में मिलते हैं वह भूलजाता है। वह संसार की अनित्यता के विचार से भागना चाहता है। जब आप इस सत्य को ग्रहण करने के लिये तैयार हो जायेंगे तो आप को और भी स्वप्न याद रहेंगे।

आप का रोग आप के कल्याण के लिये आया है—इस भावना

को सदा भावित करें। इस के परिणाम स्वरूप रोग "अवश्य हल्का होगा। मेरे बताये हुए आप के स्वप्नों के अर्थ पर किसी शान्त अवसर पर विचार भी करें। यदि वह अर्थ आपकी अन्तरात्मा गृहण करे तो मुझे आप सूचित करें। इन अर्थों पर सोते समय विचार करने से नये स्वप्न आयेंगे। इन में से आप को कुछ आवश्य ही स्मृत रहेंगे। उन को आप लिख कर भेजें। संभव है आप को कल्याण का मार्ग उन के द्वारा और भी स्पष्ट हो जाय।

मनुष्य की अवस्था, और मानसिक परिस्थिति के अनुसार एक ही प्रकार का रोग भिन्न भिन्न कारणों से होता है और एक ही स्वप्न के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। बाद के स्वप्न इस बात का परिचय दिलाते हैं कि पहले लगाया हुआ स्वप्न का अर्थ ठीक था अथवा नहीं।"

उपर्युक्त पत्र व्यवहार में रोगी के मन में अपने आप के प्रति और दूसरों के प्रति सद्भावनाओं को दृढ़ करने की चेष्टा की गई है। कई दिनों तक रोग से पीड़ित रहनेवाला व्यक्ति निराशावादी हो जाता है। वह दूसरे लोगों को भी प्यार नहीं कर पाता है। रोगी के इस दृष्टिकोण को बदलना उसके आरोग्य लाभ के लिये नितान्त आवश्यक है। मनुष्य जैसा अपने आप को आत्म-निर्देश देता है वह वैसा ही बन जाता है। रोगी के शुभचिंन्तक उसे कल्याण के निर्देश देकर उसका भारी लाभ कर सकते हैं। पर इसके लिये रोगी के प्रति मैत्री भाव स्थापित करना, उसका विश्वास भाजन बनना नितान्त आवश्यक है। यह तभी संभव है जब चिकत्सक रोगी की सभी घरेलू बातों में रुचि दिखावे, उसकी चिन्ताओं को जानने की चेष्टा करे और उसकी कठिनाइयों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करे। पत्र व्यवहार और बातचीत के द्वारा यही करने की चेष्टा की जाती है।

रोगी के स्वप्न उसके आन्तरिक मन की स्थिति को दर्शाते हैं। अतएव मानसिक चिकित्सक को इन्हें जानना आवश्यक होता है। परन्तु रोगी से उसके स्वप्न इसलिये भी लिखाये जाते हैं ताकि रोगी के

आन्तरिक भाव व्यक्त हों और रोगी का इस प्रकार चिकित्सक के प्रति मैत्री भाव स्थापित हो। हम जिस व्यक्ति को अपने स्वप्न सुनाते हैं उससे हमारी आत्मीयता स्थापित हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के निर्देश भी हम सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

लेखक के विचार से रोगी की सहायता के लिये उसके स्वप्नों का ठीक अर्थ जानना अथवा उसे रोगी को बता सकना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि रोगी से सहानुभूति स्थापित करना है। स्वप्नों के अर्थ चाहे जो कुछ हों, उनके अर्थ बताने में बड़ी सावधानी रखना आवश्यक है। जिन स्वप्नों का अर्थ रोगी के लिये जानना लाभप्रद नहीं है, उनका अर्थ रोगी को न बताना चाहिये।

उक्त रोगी से और भी पत्र व्यवहार होते रहा। उसने अपने अनेक स्वप्न लिखे। उनका अर्थ समझने की चेष्टा की गई। कुछ स्वप्न अस्पष्ट थे। रोगी को स्वप्न के अर्थ वहीं तक बताये गये जहाँ तक उसकी आन्तरिक भावनाओं में परिवर्तन करने में यह लाभ प्रद समझा गया। रोगी को उसके सभी स्वप्नों का अर्थ बताना उसके आरोग्य लाभ के लिये आवश्यक नहीं है। कितने ही स्वप्न रोगी की गिरती मानसिक अवस्था के सूचक होते हैं। इस प्रकार के स्वप्नों का अर्थ रोगी को बताने से उसे हानि होने की संभावना रहती है। अतएव ऐसे स्वप्नों के अर्थ के विषय में चुप रहना ही भला है।

उन्नीसवां प्रकरण

मानसिक एकीकरण

मानसिक एकीकरण क्या है ?

मानसिक स्वास्थ्य की अवस्था में मनुष्य के चित्त की वृत्तियां एक ओर ही अग्रसर रहती है। वह जो कुछ करता है पूरे मन से करता है। ऐसी अवस्था में उसे सभी काम में सफलता प्राप्त होती है। मानसिक अस्वास्थ्य की अवस्था में ठीक इसकी उलटी अवस्था होती है। जब मनुष्य एक काम को हाथ में लेता है तो दूसरे काम में उसका मन जाता है, और जब वह उसी काम को करने लगता है तो मन तीसरे की ओर जाता है। कभी कभी विशेष प्रकार का विचार ही अपने दैनिक कार्य में बाधा डालने लगता है। अब प्रश्न यह है कि बार बार बाधा डालने वाले विचार की ओर ध्यान देना चाहिये अथवा नहीं। यदि इस विचार को हटा दिया जाय तो क्या भला न होगा ?

यहां हमें सोचना है कि मनकी अस्वस्थ्य अवस्था में जो विचार आते हैं उनके वश में हमारी चेतना हो जाती है। यदि ऐसे विचारों से लड़ने की चेष्टा की जाय तो हमारी इच्छा शक्ति और भी निर्बल हो जाती है। जो विचार मनुष्य को दुःखदाई बन कर आते हैं उनका दबाना सरल नहीं होता। ये विचार स्वयं किसी दबी भावना के प्रतीक मात्र होते हैं। मान लीजिये किसी व्यक्ति को अपने पुरुषत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया है। बचपन में ऐसा व्यक्ति संभवतः सोचता है कि उसकी जननेन्द्रिय दूसरे बालकों से छोटी है, अथवा किशोरावस्था में किसी के साथ काम मिलन में उसके मन में भावना आ गई कि उसमें पुरुषत्व की कमी है। ऐसा व्यक्ति किसी प्रकार की

अपने में कमी के सुझाव से घबड़ा उठता है। वह इस कल्पना को सह नहीं सकता कि कोई भी व्यक्ति उसके बारे मन में सोचे कि वह किसी प्रकार दूसरों से कम है। ऐसे विचार को जब हटाने की वह चेष्टा करता है तो वह इस में असमर्थ रहता है। अब यदि वह ऐसे विचार को हटा भी देती है तो उसी प्रकार का दूसरा विचार उसे त्रास देने लगता है।

जिन लोगों के मन में अन्तर्द्वन्द्व भी अवस्था रहती है वे यदि मनो विज्ञान का अध्ययन करें तो कभी कभी कुछ बखेड़े में पड़ जाते हैं। असाधारण मनोविज्ञान ऐसे लोगों की चित्त वृति को विचिलित कर देता है। लेखक को ऐसे कई व्यक्ति मिले अथवा उन्होंने पत्र व्यवहार किया जो असाधारण मनोविज्ञान के रोगियों की चर्चा पढ़ कर स्वयं उसी प्रकार के रोग की कल्पना अपने आप में करने लगे। यदि ऐसे व्यक्ति किसी मानसिक रोगी अथवा दूसरे प्रकार के रोगी की चर्चा सुनलें तो उस रोग की कल्पना अपने आप में करने लगते हैं। इस कल्पना के कारण कभी कभी वे भी उसी प्रकार रोग-ग्रस्त हो जाते हैं जिस प्रकार चर्चा किया गया व्यक्ति रोग ग्रस्थ था। लेखक के एक मित्र ने एक दूसरे व्यक्ति की हृदय की बीमारी की चर्चा सुनी। इस चर्चा को सुनते ही उसे ऐसा मालूम होने लगा मानों हृदय का रोग स्वयं उसी को हो गया है। जब से उसने चर्चा सुनी वह कल्पित हृदय के रोग से बिमार रहने लगा। इस तरह लेखक की एक पुस्तक में एक नवयुवक ने एक रोगी का वर्णन पढ़ा जो गंदगी से डरता था। जब से उसने यह वृतांत पढ़ा तब से उसे भी उसी प्रकार का डर समा गया। जब किसी व्यक्ति के मन में पहले से ही अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था रहती है और जब वह अपने ही समान दूसरे व्यक्ति की मानसिक स्थिति का चर्चा सुनता है तो वह उसके साथ अनायास आत्मसात करलेता है। फिर जो विचार पहले व्यक्ति को त्रास देते थे उसे भी त्रास देने लगते हैं।

उक्त प्रकार की स्थिति मानसिक एकी करण के अभाव के कारण

होती है। अपने मन के सभी विचारों और भावों को एक सूत्र में बांधना, उन्हें एक नियम के अनुसार चलाना एक असाधारण पुरुषार्थ का कार्य है। इस के लिये किसी ऐसे तत्व की खोज करनी पड़ती है जिस के द्वारा हमारा सारा जीवन नियंत्रण हो सकता है। मनुष्य का स्वाभाव दो प्रकार के तत्वों का बना हुआ है। एक भोगासक्त तत्व है और दूसरा विवेकशील। भोगासक्त तत्व मनुष्य और पशुओं में समान रूप से है; विवेकशील तत्व मनुष्य की विशेषता है। भोगासक्त तत्व प्राणशक्ति को धारण किये हुये है। सभी प्राणी अपने आप जीना चाहते हैं और शारीरिक सुख का उपभोग करना चाहते हैं। उनका जीवन ही स्वार्थमय होता है। इस स्वार्थ के ऊपर नियंत्रण वास्तविकता करती है। कोई भी प्राणी जो कुछ उपभोग करना चाहता है, कर नहीं सकता। उसे वास्तविक संसार का विरोध इसके लिये सहना पड़ता है। प्राणी की इस प्रकार सुख की इच्छा दुःख की संभावना के कारण नियंत्रण में रहती है। पशुओं को बाहरी यंत्रणा का भय उनकी पूरी इच्छा की तृप्ति में बाधा डालता है। मनुष्य में यही काम विवेक करता है। मनुष्य पहले दूसरों के भय के कारण अपने आप को व्यभिचार, अनाचार आदि में जाने से रोकता हैं; पीछे उसकी नैतिक बुद्धि ही उसे अनुचित कार्य करने से रोकती है। दूसरे लोगों के प्रतिकार के भय से किसी बुरे काम को करने से अपने आप को रोकना साधारण चतुराई की उपस्थिति दिखाता है, और अपने नैतिक मन के भय के कारण किसी भोग वासना को मनमानी न करने देना सच्ची मानवता की उपस्थिति को दर्शाता है।

जिन व्यक्तियों के मन में समय के पूर्व नैतिकता के विचार डाले जाते हैं उनमें भोगवासना के दबाने की प्रबल प्रवृत्ति रहती है। जब कभी वे किसी भोग लिप्सा में पड़ जाते हैं तो उन्हें काफी मानसिक संताप होता है। इस प्रकार के संताप से कभी कभी ऐसे लोगों की इच्छा शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि वे अपना कल्याण करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। परन्तु कभी कभी इस संघर्ष के परिणाम

स्वरूप एकाएक पाशविक प्रवृत्ति का दमन हो जाता है। पाशविक प्रवृत्ति की निर्बलता की अवस्था में उसका इतना दमन किया जाता है कि उसे चेतना के सतह पर आने ही नहीं दिया जाता। ऐसी अवस्था में मनुष्य को भारी आत्मग्लानि और लज्जा की भावना होती है। पीछे व्यक्ति इस सारी घटनायों को भूल जाता है, परन्तु अब अवरुद्ध वासना प्रबल बन कर उस के साधारण कामों में और विचारों में अनेक प्रकार का विघ्न डालने लगता है। अब आवश्यकता इस बात की है कि भोगवासना अर्थात् पाशविक मन अथवा बालमन का नैतिकमन से एकीकरण किया जाय। जब तक मनुष्य के मन के इन दो भागों का मेल नहीं होता तब तक उसे मानसिक शान्ति नहीं होती और उसका कोई भी कार्य योग्यता पूर्ण संपादित नहीं होता।

एकीकरण के उपाय

मनुष्य के मन के एकीकरण होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी दबी वसनाओं को जाने और उन्हें वह स्वीकार करे। जबतक हम अपने आपको जानने के लिए प्रयत्नशील नहीं होते तब तक हम अपने आप में एकता स्थापित नहीं कर सकते। साधारणतः हम अपने अपने आपको वैसा ही मानने लगते हैं जैसा दूसरे लोग हमारे बारे में चर्चा करते हैं यदि हमारे आसपास के लोग हमें महात्मा महर्षि, आदि नाम से पुकारने लगें तो हम अपने आपको महात्मा और महर्षि मानने लगते हैं। इस प्रकार हम अपने स्वभाव को भुलाने की चेष्टा करते हैं। पर इस प्रकार की चेष्टा से हमारा मानसिक विच्छेद बढ़ता हो जाता है। फिर हमें दबी हुई भावनायें अनेक प्रकार की बाधायें देने लगती हैं। जब हम किसी काम में लगे रहते हैं तो वे किसी प्रकार का बाध्य विचार हमारे सामने उपस्थित देती हैं। इनसे कभी कभी अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आत्मग्लानि के भय के कारण हम अपने पुराने अनुभव को स्मृति पटल पर नहीं लाना चाहते तथा अपने

भीतर उपस्थित भावना की स्वीकृति नहीं करना चाहते। परन्तु जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक दबी वासना का जोर नहीं घटता। वह अब हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहायक न होकर उसमें बाधक हो जाती है।

आत्मग्लानि का भय एक ओर मन के निचिले भाग और ऊपरी भाग में ऐक्य नहीं होने देता और दूसरे ओर यह भय अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बन जाता है। दबी वासना मनुष्य के प्रधान व्यक्तित्व से अब बदला लेने लगती है। जिस प्रकार रूठा बालक अनेक प्रकार के उत्पात करने लगता है, इसी प्रकार रूठा भोगेच्छुक मन अनेक प्रकार की बुराइयां करने लगता है। जब तक मनुष्य के अचेतन मन का दमन नहीं होता, वह बुरा नहीं होता। वह केवल भोग का इच्छुक मात्र रहता है। जब उसका दमन होता है तब वह बुरा बन जाता है। वह फिर मनुष्य के लिये अनेक प्रकार के दुःखों की सृष्टि करने लगता है।

मानसिक रोगों के द्वारा अथवा सांकेतिक चेष्टाओं के द्वारा जब कोई वासना प्रगट होती है तो वह रोगों को अथवा सांकेतिक चेष्टाओं को अपने प्रकाशन का प्रतीक बनाती है। जिस प्रकार की धारणा दबी वासना के प्रति की जाती है रोग भी उसी प्रकार का होता है। काम वासना के प्रति गंदगी का भाव मन में लाया गया तो मनुष्य अपने चारों ओर गंदगी ही गंदगी देखेगा। यदि उसे अपने चरित्र का दोष समझा गया तो वह शारीरिक दोष के रूप में— जैसे स्वेत कुष्ट के रूप में प्रगट हो जावे गा। मान लिजिये कोई मनुष्य सोचता है कि उसका कामकृत्य थूकने योग्य है तो वह दूसरे लोगों को अपनी ओर थूकते हुए ही देखे गा। उसे अपनी कल्पना में सभी-लोग उसकी आलोचना करते हुए और उसकी ओर थूकते हुए दिखाई देंगे। जिस बात को व्यक्ति अपने चेतन मन से भुलाना चाहता है वही प्रतीक रुप से उसके सामने आती रहती है।

अब यदि कोई मानसिक रोगी इन प्रतीकों का ठीक ठीक अर्थ

समझ जाय और वह मानले कि ये प्रतीक उसकी दबी वासना के है और उस घटना से सम्बन्ध रखते हैं जब कि उस की वासना पहले पहल दबाई गई थी तो उस की मानसिक ग्रन्थि का अन्त हो जाय। फिर वह अपने आप को उतना पवित्र व्यक्ति न माने जितना पवित्र वह अपने आप को अन्यथा मानता था। संभव है उसके आचरण में कुछ साधारण कमी भी हो जावे। परन्तु अब उसकी मानसिक झंझट का अन्त हो जावेगा।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की उस घटना को भूल जाना चाहता है जिस में उसे किसी प्रकार की आत्मग्लानि हुई है। इस प्रकार की मनो बृत्ति से उस घटना से संम्बन्धित आवेग का भी दमन हो जाता है। मानसिक एकीकरण के लिये हमें लज्जाजनक, आत्मग्लानिजनक घटना को बार बार मन में लाना पड़ता है। जिस आवेग का दमन हुआ है यदि उसे बार बार मन में लाया जाय तो उसकी प्रबलता कम हो जाती है। फिर वह उतनी मानसिक अथवा शारीरिक क्षति नहीं करता जितनी अन्यथा करता है। लज्जा, शोक, भय आदि सभी प्रकार के भावों का इस प्रकार रेचन किया जा सकता है। जब इन आवेगों की प्रबलता कम हो जाती है तो वे मानसिक विकार के रूप मे प्रकाशित नहीं होते।

अपने मन के किसी भाग को भुलाने की चेष्टा करना रोग की सृष्टि करता है। हम जो कुछ अनुभूति करते हैं, जो कुछ चिन्तन करते हैं वह सभी हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। वह हमारे व्यक्तित्व को विशेष प्रकार का बनाता है। यदि यह चिन्तन प्रिय हुआ तो हम उसे बार बार अपनी स्मृति पर लाते हैं और उसे इस प्रकार अपने चेतन व्यक्तित्व का अंग बना लेते हैं। यदि यह चिन्तन प्रिय न होकर किसी कारण वश दुःखद हुआ तो हम उसे भुलाने की चेष्टा करते हैं। हम उस चिन्तन को अपने आप में स्थान ही नहीं देना चाहते। पर इस प्रकार हम अपने ही पुराने चिन्तन को अपना शत्रु बना लेते हैं। यह पुराना चिन्तन फिर हमारे व्यक्तित्व का बल न

बढ़ा कर उसे निर्बल बनाता है। मनुष्य का व्यक्तित्व, उसके चिन्तन मात्र का बना हुआ है। जिस चिन्तन को हम स्वीकार करते हैं वह हमारे अहम् भाव का अंग बन जाता है और जिसे हम स्वीकार नहीं करते वह हमसे अलग हो जाता है। फिर वह चिन्तन चेतना के स्तर के नीचे काम करते रहता है और एक नये व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेता है। सभी प्रकार के मानसिक रोग चेतना के स्तर के नीचे चलने वाले चिन्तन के परिणाम होते स्वरूप हैं। मानसिक रोग की अवस्था में व्यक्ति प्रगट रूप से भी दो प्रकार से सोचने लगता है। कभी कभी वह साधारण चेतना से सोचता है और कभी असाधारण चेतना से।

भय, शोक और आत्मग्लानि के आवेग मनुष्य की किसी विशेष प्रकार की प्रवृति का अवरोध करते हैं। इनके कारण वह प्रवृति अपने प्रकाशन के लिये किसी विकृत मार्ग का अनुसरण करने लगती है। रोग आदि भी अवरुद्ध प्रवृत्ति के प्रकाशन के विकृत मार्ग है। साधारणतः मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति, जो कि सदा भोगोन्मुख होती है, आगे बढ़ती हुई होती है। जब उसका अवरोध होता है तो वह पुरोगामी न हो कर प्रतिगामी बन जाती है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में भी बाधा उत्पन्न होने लगती है। जिस व्यक्ति की प्रबल वासनाओं का अवरोध हो गया है उसकी बुद्धि का समुचित विकास नहीं हो पाता। जब इन प्रवृत्तियों के मार्ग की रुकावटें हट जाती हैं तब ये सामान्य रूप से प्रकाशित होने लगती है। पर इस प्रकार अब नये मार्ग से चलने के लिये उन प्रवृत्तियों को पुनः शिक्षित करना पड़ता है। पुराने मार्ग से मानसिक शक्ति को विचलित करके नये मार्ग से उसे चलाने के लिये नये अभ्यास की आवश्यकता होती है।

रोग के बाद मानसिक शक्ति को नैसर्गिक मार्ग से प्रकाशित करने में एक और कठिनाई होती है। जिस समय किसी नैसर्गिक शक्ति का अवरोध होता है उस समय उसके विकास की एक अवस्था होती है और अब व्यक्ति की आयु बढ़ने के साथ साथ उसे दूसरी ही

अवस्था में होना चाहिये। मान लीजिये किसी व्यक्ति को समलिंगी प्रेम की इच्छा के दमन के कारण अथवा लड़कपन की ईर्ष्या की भावना के दमन के कारण कोई मानसिक रोग हो गया है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से और मनोविश्लेषण से उक्त इच्छा का अवरोध अलग किया जा सकता है। पर तिस पर भी उक्त प्रवृत्ति की तृप्ति नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि उक्त प्रवृत्ति की शक्ति का शोध किया जाय। दबी प्रवृत्ति की खोज कर के उस पर विचार करने से उसकी शक्ति का सदुपयोग हो जाता है। इस शक्ति का सदुपयोग कला, कविता, संगीत, बाल-सेवा आदि में भी होता है। अपने दबे भावों को जानने से उन्हें मनुष्य अपना मित्र बना सकता है। फिर ये भाव उसे अपने व्यक्तित्व के प्रसार में बल प्रदान करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने विद्रोही भावों और विचारों को शत्रु के स्थान पर अपना मित्र बना लेता है।

मानसिक एकीकरण के लिये मनुष्य को अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बनाना पड़ता है। हम साधारणतः धन-दौलत कमाने, अपनी यश कीर्ति बढ़ाने अपने मित्रों को फुसलाने और शत्रुओं को जीतने में ही अपना सारा समय खर्च करते रहते हैं। हमें अपने आप की ओर देखने की फुरसत नहीं मिलती। सभी लोग अपने आप को भुलाकर दूसरी बातों की ओर अपना ध्यान देना चाहते हैं। इस प्रकार की मनोवृति से हम संसार के अनेक व्यवसायों में तो सफल हो जाते हैं, पर अपने आप के प्रति हम विफल हो जाते हैं। मनुष्य जिस ओर ध्यान देता है उसी ओर उसका सब कुछ बन जाता है; वह जिस ओर ध्यान नहीं देता उसी ओर उसका सब कुछ बिगड़ जाता है। जो लोग लौकिक बातों के प्रति अपना अधिक ध्यान देते हैं उनकी लौकिक बातों में वृद्धि हो जाती है पर उनका स्वत्व सूना रह जाता है। उसकी ओर चेतना का प्रकाश न रहने के कारण वह अंधकार में ही रह जाता है। अपने आप में वह अनेक प्रकार की ग्रन्थियों को बना लेता है। ऐसे व्यक्ति के मन में अनेक अप्रिय भावनायें

छिपी रहती हैं। वह इनकी उपस्थिति को नहीं जानता। जिस प्रकार प्रकाशविहीन घर में अनेक कीड़े मकोड़े पड़े रहते हैं, वह सांप विच्छुओं का आगार बन जाता है, इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मन में चेतना का प्रकाश नहीं जाता अर्थात् जो व्यक्ति सदा अपने से भिन्न वस्तुओं के बारे में ही सोचा करता है, उसके मन में अनेक प्रकार के जहरीले विचार-कीटाणु भर जाते हैं। इन्हें दूर करने के लिये चेतना के प्रकाश को मन की प्रत्येक अन्धयारी कोठरी में ले जाना आवश्यक है। चेतना के प्रकाश की सहायता से ही उन मानसिक ग्रन्थियों को खोला जा सकता है जो अनेक प्रकार की व्यथाओं की जनक होती हैं। मनुष्य इस लिये ही रोगी होता है कि वह अपना ध्यान बाहरी संसार से अलग करके अपनी ओर ही लगाने के लिये बाध्य हो। मनुष्य के शरीर का वह अंग निर्बल हो जाता है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता; इसी प्रकार मनुष्य के मन का वह भाग भी निर्बल हो जाता है जिसके बल की वृद्धि की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। रोगी मनुष्य की इच्छाशक्ति निर्बल होती है। जब तक कोई मनुष्य इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाने का विशेष रूप से प्रयत्न नहीं करता उसकी इच्छाशक्ति का बल भी नहीं बढ़ता। मानसिक एकीकरण इच्छाशक्ति के बल को बढ़ाने का साधन है, और इसके लिये अपनी चेतना को अंतर्मुखी करना नितांत आवश्यक है।

मानसिक एकीकरण की क्षमता

यहाँ संशय आता है कि क्या इस प्रकार के प्रयत्न से मनुष्य अपने मन में और नई झंझटें तो नहीं बढ़ा लेगा। जिन लोगों के मन में मानसिक झंझटें रहती हैं, जिन्हें बाध्य विचार सताया करते हैं, उन्हें अधिकतर अपने आप के विषय में सोचने से शंका हो जाती है। उन्हें साधारणतः सलाह दी जाती है कि वे समाज की चहल-पहल में भाग लेकर अपना समय व्यतीत करें। ऐसे लोगों को सिनेमा देखने, अनेक नगरों की सैर करने, खेल-कूद में मन लगाने की

सलाह मनोवैज्ञानिक देते हैं। यहाँ पर सलाह अपने आप के विषय में चिन्तन करने की दी गई है। अतएव दोनों प्रकार की सलाहों में विषमता पाई जाती है। इन दो विचारों का समन्वय स्थापित कैसे किया जाय ?

आध्यात्मिक चिन्तन मानव-जीवन की नितांत आवश्यकता है। परन्तु आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्य तभी कर सकता जब कि उसके मन में ऐसा चिन्तन करने की योग्यता रहती है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिये नित्य प्रति शारीरिक व्यायाम आवश्यक है, इसी प्रकार आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये मन की भीतरी कोठरियों के विषय में चिन्तन करना, अपने विचारों में संगठन करना, उनमें तारतम्यता स्थापित करना, नितांत आवश्यक है। परन्तु इसके लिये भारी मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है। अतएव जब मनुष्य के मन में शक्ति है तभी उसे इस काम को करना चाहिए। जब एक बार किसी मनुष्य को बीमारी हो जाती है तो आराम करना ही उसकी प्रथम आवश्यकता होती है। शारीरिक रोग के लिये शारीरिक आराम और मानसिक स्वास्थ्य के लिये मानसिक आराम आवश्यक है। जब रोग की अवस्था पार हो जाती है तब अपने स्वास्थ्य को सब समय बनाये रखने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने स्वभाव को भली प्रकार से समझ ले। इस प्रकार के समझने में वह अपना नव निर्माण करता है। मानसिक ऐकीकरण की क्रिया की सलाह सामान्य स्वास्थ्य को रखनेवाले व्यक्ति को ही दी जा सकती है। यह सलाह मानसिक रोगी को नहीं दी जाती। जब हम स्वस्थ हैं तभी हमें अपने भावी स्वास्थ्य के विषय में सोचना चाहिये। जो मनुष्य साधारणतः स्वस्थ समझे जाते हैं उनके मनमें भी विशेष प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व चला करता है। इस अन्तर्द्वन्द्व की परवाह न करने के कारण यही एक दिन मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है। कितने ही लोगों की बाहरी चाल ढाल देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी आगे चलकर मानसिक रोग की अवस्था हो

जावेगी, पर कभी कभी विशेष प्रकार से भला आचरण करनेवाले को ही मानसिक रोग हो जाता है।

हाल ही में लेखक के पास एक सुसिज्ञित व्यक्ति अपनी स्त्री को हिस्टीरिया की बीमारी की खबर लेकर आया। यह स्त्री बड़ी ही सुशील और अपने गृहकाज में चतुर है। यह रोग इसे कोई सात वर्ष से हो रहा है। दो एक साल में इसका दौरा हो जाता है। दौरे की अवस्था में यह स्त्री बड़ी ही उद्दण्ड हो जाती है। वह सभी लोगों को गाली गलौज करने लगती और घर के सामान को तोड़ने फोड़ने लगती है। कभी कभी वह अपने पहनने के नये कपड़े भी फाड़ डालती है। इसको पहले पहल इस रोग का दौरा तब हुआ जब उसका पति उसकी इच्छा के प्रतिकूल बाहर चला गया था। पति घूमने गया और इधर स्त्री को रोग का दौरा हो गया। तब से यह दौरा साल दो साल में होते रहता है।

आगे पूछ-ताछ करने से पता चला कि जब सास ससुर समीप रहते हैं तो रोग की प्रबलता अधिक रहती है। रोग के आने के पूर्व किसी प्रकार की चिन्ता या शारीरिक परिश्रम अधिक हो जाता है अथवा कोई आकस्मिक घटना घट जाती है। कभी कभी पति पत्नी में कहा सुनी हो जाने के पश्चात् भी रोग का दौरा हो जाता है।

यह महिला बाल्य काल में बड़ा ही उद्दण्ड थी और वह बात-बात में क्रुद्ध हो जाती थी। जब वह क्रुद्ध होती तो कई दिनों तक भोजन नहीं करती थी। इसकी हठ से घर के लोग परेशान हो जाते थे। पर जब से इसका विवाह हुआ उसका स्वभाव मानों एक दम बदल गया था। वह उद्दण्ड से सुशील बन गई। वह सभी लोगों से बड़े शिष्टाचार से व्यवहार करने लगी। किसी को कभी भी उसके आचरण से कोई असंतोष नहीं हुआ। परन्तु जब रोग का दौरान होता है तब वह जैसा आचरण हर समय करती है उसकी ठीक उल्टा करने लग जाती है। रोग की अवस्था में देखकर कोई भी यह नहीं जान

सकता कि वह वही सुशील स्त्री है जो सबके प्रति सौजन्यता का व्यवहार करती है।

आत्म-समन्वय

प्रत्येक मनुष्य अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से इस लिये पीड़ित रहता है कि वह आत्मसमन्वय स्थापित करने में असमर्थ रहता है। मनुष्य जितनी ताड़ना दूसरों से पाता है उससे कहीं अधिक ताड़ना अपने आप से ही पाता है। जो मनुष्य अपने आदर्श बड़े ऊँचे बना लेता है उसे बात बात में आत्मभर्त्सना होती है। थोड़ी सी भूल हो जाने पर उसे चैन नहीं मिलती।

कितने ही लोग अपनी कल्पित कमी से पीड़ित रहा करते हैं। वे वे सदा अपनी तुलना दूसरों से करते रहते हैं, और अपने आप को सदा दूसरों की अपेक्षा नीचा मानते रहते हैं। इस प्रकार के विचार उन्हें सदा दुःखी बनाये रखते हैं। इस दुःख से बचने के लिये वे अनेक प्रकार के रोगों का आवाहन करते हैं और कभी कभी आत्म-हत्या तक भी कर डालते हैं। यदि मनुष्य अपने आप को प्यार करना सीख ले तो उसे वे सब मानसिक क्लेश न हों जो उसे अन्यथा होते रहते हैं और जिनके कारण वह अकाल ही काल के गाल में चला जाता है। सदा अपने आपको कोसते रहने से बड़ा पाप और कोई नहीं है। इससे जितनी मानसिक कमजोरी होती है और दूसरे किसी प्रकार से नहीं होती। अपने आपके प्रति जो व्यक्ति निर्दयी है वह दूसरों के प्रति भी सच्ची उदारता नहीं दिखा सकता। जिस व्यक्ति ने अपने आप को सच्चा प्यार दिखाना नहीं सीखा वह दूसरों को सच्चा प्यार कैसे दिखा सकता है? ऐसे व्यक्ति का दूसरों के प्रति रूखा व्यवहार होता है। साधारणतः वह एकान्तवासी ही बन जाता है।

उपर्युक्त मानसिक परिस्थिति नीचे दिये हुए एक मानसिक रोगी के पत्र से स्पष्ट होती है। यह रोगी न अपने आप में सन्तुष्ट है

और न वह दूसरों को प्यार कर सकता है। वह अपने आपको बड़ा दयनीय व्यक्ति समझता है। आत्म-संताप के कारण उस का जीवन उस के लिये नर्क बन गया है। रोगी अपने हाल के पत्र में लिखता है—

"आज मेरी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति बहुत ही दयनीय है। मैं यहाँ पर हूँ और आप बनारस में। ऐसी स्थिति में हमारा और आप का मिलना कठिन है। इससे मैं पत्र द्वारा जितना मुझसे बन सकता है अपनी परिस्थिति समझाने की कोशिश करता हूँ। आशा है आप पत्र को पढ़ कर मेरी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति समझ सकेंगे तथा मुझे क्या करना चाहिये आप उचित सलाह भी देने की कृपा कर सकेंगे। मैं अपना इतिहास लिखूंगा।

मेरी मां मुझे बताती है कि बचपन में मेरी तनदुरुस्ती बहुत अच्छी थी। काफी स्वस्थ रहता था। जब मैं तीसरी हिन्दी में था उस वर्ष मैं मोतीझरा से बीमार हुआ था; साथ में डबल निमोनिया भी था। उस समय मुझे हद से ज्यादा गरम दवाइयाँ तथा कुनैन दी गई। मैं अच्छा तो हो गया परन्तु मेरी तनदुरुस्ती को इतना जबर्दस्त धक्का लगा कि तब से आज तक मेरी तनदुरुस्ती ठीक नहीं हो सकी। जब से मैं कमजोर सा रहने लगा। उस समय से सिर में दर्द रहने लगा तथा सिर दर्द आज तक है। यह एक मामूली रोग बन गया। मैं सिर दर्द से बहुत परेशान हूँ। उस समय से ऐसा कोई भी साल नहीं था जिस वर्ष मैं बीमार न पड़ा हूँ। साल में १५ दिन, महीना भर को मैं बुखार से पीड़ित हो ही जाता रहा। जब मैं नवीं कक्षा पास कर दसवीं में पहुंचा तो उस वर्ष मुझे प्रायः साल भर बुखार खांसी ने घेरा। बुखार थोड़े दिन के लिये अच्छा हो जाता था फिर आ जाता था। मुझे उस वर्ष चिकित्सा कराने पिता जी बंबई ले गये। वहाँ पर डाक्टर ने सिर दर्द के लिए आँख की कमजोरी बताई; तब से मैं चश्मा लगाता हूँ। बंबई से लौटा नहीं कि मैं फिर बीमार पड़ गया। इस प्रकार मैं उस वर्ष पढ़ नहीं सका तथा वह वर्ष व्यर्थ गया। दसवीं पास की। गरमी में पेट के दर्द ने तथा

आंव ने २-३ माह बुरी तरह परेशान किया। मैं एक माह देर से स्कूल में पहुंचा। मैट्रिक में कोई लम्बी बीमारी तो नहीं हुई, परन्तु शरीर की स्थिति असंतोष जनक ही रही। दवाइयाँ खाते खाते मैट्रिक पास की। मेट्रिक पास करने के बाद मैंने एक वर्ष पढ़ाई इस विचार से स्थगित कर दी कि स्वतंत्र घर रहने से शायद तनदुरुस्ती सुधर जाय, परन्तु कोई परिणाम न निकला। सन् ४६ में मैंने बनारस में 1. st year scienee (maths) में एडमीशन कराया परन्तु इस बीमारी रूपी दुर्भाग्य ने फिर भी मेरा साथ न छोड़ा। मैं वहाँ तबतक रहा बीमार ही बना रहा। लाचार होकर तनदुरुस्ती का खयाल करके मुझे दिसम्बर में पढ़ाई बंद कर घर आ जाना पड़ा। इस सबको देखते हुए यही कहना पड़ता है जिस दिन से मेरी तनदुरुस्ती बिगड़ी आजतक नहीं सुधरी। मुझे दवाइयाँ खा खाकर प्रत्येक क्लास पास करना पड़ी। दवाइयाँ मेरे लिये भोजन की वस्तु हो गई। पचासों डाक्टरों को दिखाया, वैद्यों को दिखाया सबकी दवाइयाँ खाई, परन्तु मुझे उन दवाइयों से कोई फायदा नहीं मालूम हुआ तथा तन्दुरुस्ती में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आज जब कि मैं १६ या २० वर्ष का हूं इस समय भी मेरा वजन सिर्फ ८०-८५ पौंड से ज्यादा नहीं बढ़ता। अभी कुछ साल पहले से दुर्भाग्य से मैं हस्तमैथुन की बुरी आदत में पड़ गया।

साल डेढ़ साल मैं यह करता रहा जिससे फिर स्वप्न दोष होने लगा। यह अभी तक चालू है तथा ज्यादा नहीं एकाध महीने में स्वप्न दोष हो जाता है। जब मुझे पुस्तकें आदि पढ़ कर हस्थमैथुन से बुराइयां का पता चला तो मैंने उसे रोकने की कोशिश की अब मैं हस्तमैथुन तो नहीं करता हूँ परन्तु स्वप्न दोष मुझे होता ही जाता है इसका भी स्वास्थ्य पर खराब असर पड़ा है। आज मेरा स्वास्थ्य बहुत गिरा है। दवाइयों से मेरा जी ऊब गया है। कुछ समझ में नहीं आता मैं किस प्रकार अपनी तनदुरुस्ती ठीक करूँ। कमजोरी रहती है। कँपकँपी सी मालूम होने लगती है किसी काम में मन

नहीं लगता। न मुझ में कुछ उत्साह रह गया है। जरा से काम में थक जाता हूं ऐसा मालूम पड़ने लगता है जैसे बुखार हो आया है। सिर में दर्द रहता है। ज्यादा पढ़ लिख नहीं सकता। दिमागी कार्य करने में मन नही लगता। स्मरण शक्ति भी क्षीण हो गई है। कहने का तात्पर्य यह कि एक कमजोर व्यक्ति के जिसका कि स्वास्थ्य ठीक नही रहता जो लक्षण होते हैं वह मुझमें पाये जाते हैं।

स्वास्थ्य बनाने में मानसिक विचार, आचरण खेल कूद, व्यायाम आदि का भी प्रमुख हाथ है।

यदि व्यायाम खेलकूद आदि की तरफ देखा जाय तो मैंने जीवन में इस तरफ नहीं के बराबर ध्यान दिया। स्वास्थ्य न सुधरने में इस पहलू का भी मेरे जीवन में महत्व है। बचपन से ही न जाने क्यों मेरी खेल कूद व्यायाम आदि की तरफ कोई विशेष रुचि नही रही। मैं बचपन से ही स्कूल में कभी भी किसी खेलकूद में भाग नही लेता रहा। हाई स्कूल के जीवन में भी मैंने नहीं खेला कूदा। व्यायाम भी मैंने कभी नहीं किया। काश मैंने अपनी रुचि इस तरफ भी रखी होती तो मेरे स्वास्थ्य की यह हालत नहीं रहती जिसके लिये आज मेरा मन चिन्तित है। मैं न तो घूमा न व्यायाम किया, न खेला न कूदा। न जाने अन्य विद्यार्थियों की भांति मेरा झुकाव इस ओर क्यों नहीं रहा, न आज भी है। मैं बहुत कोशिश करता हूं कि मैं व्यायाम करूं, खेलूँ। मैं कोई व्यायाम शुरू करता हूं कुछ दिन किया फिर बंद हो जाता है। सोचने लगता हूं आज नहीं कल करूंगा। इस प्रकार मैंने खेलने कूदने व्यायाम करने की कोशिश की परन्तु इस क्षेत्र में मैं अपने को हमेशा असफल पाता हूं। क्या कारण है कि मैं चाहने पर भी इस तरफ अपनी रुचि पैदा नहीं कर पाता हूं।

बचपन से मेरी रुचि पढ़ने की ओर ज्यादा रही है। पढ़ने के लिये मैं ने समय नहीं देखा, शाम हो, दुपहर हो, रात हो हमेशा मुझे पढ़ना ही पढ़ना दिखता था। परीक्षा के समय तो रात दिन एक कर दिया करता था। पढ़ने के पीछे मैं तनदुरुस्ती का भी ख्याल छोड़ देता

के कूपों से कार्बन और हाइड्रोजन का यौगिक एक गैस निकलता है।

कार्बन डाइ-आक्साइड के रूप मे वायु मे कार्बन मिलता है। यह सड़ने सांस लेने और जलने से बनता है। यद्यपि इसकी मात्रा बहुत कम है, प्रत्येक दस हजार भाग मे केवल ३ से ४ भाग किन्तु वायु-मण्डल इतना विस्तृत है कि इतनी अल्प मात्रा मे होने पर भी इसकी तौल अनेक अरब मन तक कूती गई है। चूना पत्थर, डोलोमाइट सदृश प्राकृतिक कार्बनेटों का जो पृथ्वी के स्तरों के महत्व पूर्ण अंश है कार्बन एक आवश्यकीय अवयव है। कार्बन हीरा, ग्रेफाइट और कोयला इन तीन रूपान्तरों मे प्रकृति मे पाया जाता है।

हीरा।

प्राचीन काल मे हीरा केवल भारत मे प्राप्त होता था और पश्चात् देशों मे जाता था। कोहनूर सदृश ऐतिहासिक हीरे इसी देश मे प्राप्त हुए थे। इस समय हीरा इस देश मे बहुत कम निकलता है। बुन्देलखण्ड मे कहीं कहीं खोदकर हीरा निकाला जाता है। आजकल हीरा प्रधानतः दक्षिण अफ्रीका और अस्ट्रेलिया से प्राप्त होता है। सबसे बड़ा हीरा ३००० करांत का (१ करांत =०·२ ग्राम) ट्रांसवाल मे १९०५ ई० मे पाया गया था।

कृत्रिम हीरा। मोयासन ने पहले-पहल कृत्रिम हीरा निर्माण करने की चेष्टा की थी। उन्हो ने चीनी के शुद्ध कोयले को एक छोटी लोहे की नली में रख उसे बन्द कर मूषा मे रखकर विद्युत् भट्टी मे गरम किया। मूषा के द्रवीभूत अंश को पिघले हुए सीसे मे डूबाकर ठंढा किया। इस प्रकार लोहे का बाहरी अंश घन हो गया किन्तु अन्दर का अंश द्रव ही रहा। अन्दर का यह द्रव जब घन बनना शुरू हुआ तब इस के प्रसार से अन्दर के कोयले पर बहुत अधिक दबाव पड़ा। इस दबाव के कारण कोयला हीरा मे परिणत हो गया। लोहे को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मे घुला लेने से हीरा अविलेय रह जाता है। इस रीति से कुछ वर्णरहित और कुछ काले हीरे प्राप्त होते है। इस विधि से प्राप्त हीरा बहुत ही छोटा होता है। इसका व्यास

या चिन्तायें मन में न आवें परन्तु वे पीछा ही नहीं छोड़ती। उदाहरण के लिये अभी मैं अपने कुटुम्ब का एक सदस्य हूं; कोई जिम्मेदार व्यक्ति नहीं हूं न मुझ पर किसी काम की जिम्मेदारी है। परन्तु मैंने कोई चीज देखी तो फालतू उसी पर विचार करने लगता हूँ—यह यहाँ क्यों आई, ऐसा काम क्यों नहीं हुआ ऐसा क्यों हुआ, उसने ऐसा क्यों किया कहने का मतलब यह कि जिन चीजों से मेरा सम्बन्ध नहीं उनके बारे में मन में अच्छे बुरे विविध विचार आने लगेंगे—जैसे एक आदमी ने किसीको गाली दी या मारा तो क्यों मारा; मैं होता तो साले को खूब मारता। उस पर मन में क्रोध आता है। तथा आत्मा अंदर ही अंदर क्रोध से कांप जाती है। ये भी नहीं कि कोई विचार थोड़ी देर के लिये आवे। फिर घंटों तक वही फालतू विचार मन में चक्कर लगाते रहते हैं, पीछा नहीं छोड़ते जिससे ध्यान किसी में न लग कर उसी बातों में रहता है। ये विचार अधिकांश अच्छे न हो कर खराब भावना पूर्ण रहते हैं, जिनमें क्रोध द्वेष घमंड मान आदिका अंश ज्यादा रहता है, जिससे शरीर को बहुत हानि होती है मन ही मन गुस्सा नाराजी आती है जिससे मन चिन्तित तथा दुःखी हो जाता है। जैसे मान लीजिये मैं सिनेमा देख रहा हूँ या ऐसे ही कोई सुखद वातावरण में बैठा हूँ। अचानक न मालूम कौन से विचार मन में आजावें तो ध्यान वहां से उचट जाता है; उसी पर टीका टिप्पणी करने लगूंगा। इस प्रकार व्यर्थ की बातों से चिन्तित रहना बहुत ही खराब है। मन में जरा सी बात से घबराहट आ जाता है। जरा सी बात पर मुझे क्रोध आ जाता है गुस्सा आजाती है। किसी भी बात पर चिढ़ चिढ़ा जाता हूँ। मान लो मैं ने किसी से कोई काम के लिये कहा उसने वह नही किया या मेरा कार्य जिसको मैं करना चाहता हूं पूरा नहीं हुआ तो मन में बड़ी झुँझलाहट और क्रोध पैदा होता है। उस पर बड़ी गुस्सा आती घंटों उस बात के बारे में अच्छे बुरे ख्याल रहते हैं, वह विचार मन से न निकलेगा। मैं घर में रहकर खास कर

प्रबल विद्युत् की धारा के द्वारा प्राप्त होता है। इस ग्रेफ़ाइट को एचीसन का ग्रेफाइट कहते हैं। पिघले हुए लोहे को शीतल करने से हीरे की भांति ग्रेफाइट भी प्राप्त होता है।

गुण। ग्रेफाइट कोमल, चमकीला, भूरे रंग का मणिभीय घन होता है इसमे धातु की द्युति होती है। इसके चूर्ण को छूने से चिकना साबुन सा कोमल मालूम होता है। यह साधारणतः सघन पिण्ड मे पाया जाता है किन्तु कभी कभी षट्पार्श्वीय मणिभो मे भी पाया जाता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २ २ होता है। कागज पर रगडने से काला चिन्ह पड जाता है। अत: मिट्टी के साथ मिलाकर पतले तारो मे बनाकर इससे पेन्सिल तैयार करते है।

यह ताप और विद्युत् का चालक होता है अतः एलेक्ट्रो-टाइप में इसका व्यवहार होता है। यह अगलनीय होता है। अत मूषा के बनाने मे इसका उपयोग होता है। बारूद को पालिश करने और यन्त्रो के चिकनाने मे भी काम आता है। तनु अम्लो और पिघले हुए क्षारो की इस पर कोई क्रिया नही होती। प्रायः ६००° श पर गरम करने से यह जलता और कार्बन डाइ-आक्साइड मे परिणत हो जाता है। इसके जलने से जो भस्म रह जाता है उसमे सिलका SiO_2, आयर्न आक्साइड Fe_2O_3 और अलुमिना Al_2O_3 पाये जाते है। पोटासियम क्लोरेट और नाइट्रिक अम्ल के साथ धीरे धीरे गरम करने से यह आक्सीकृत हो जाता है। इस रीति से हीरे पर कोई क्रिया नही होती।

अमणिभीय कार्बन।

कार्बन के उपरोक्त दो रूपान्तर मणिभीय होते है। इसके अमणिभीय रूपान्तर भिन्न भिन्न प्रकार के कोयले हैं जो अत्यधिक मात्रा मे पाये जाते हैं।

खनिज कोयला। इसे साधारणतः पत्थर का कोयला कहते है। यह प्राकृतिक पदार्थ है। बहुत प्राचीन कालके वानस्पतिक अवशेषो के पृथ्वी के अन्दर ताप और दबाव के द्वारा विच्छेदित हो जाने से यह खनिज कोयला

बनता है। इन वानस्पतिक पदार्थों के परिवर्तन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण खनिज कोयला भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। इन्हें पीट बिटुमिनस कोयला कैनेल कोयला और अंग्रेसाइट कहते हैं। इन भिन्न भिन्न कोयलों में कार्बन की मात्रा भिन्न भिन्न प्रतिशत ५० से ९३ भाग तक रहती है।

	कुल कार्बन प्रतिशत	वाष्पशील पदार्थ प्रतिशत	जल प्रतिशत
पीट	५७	५१·५	१८ १
बिटुमिनस कोयला	८०	२६·२	४ ०
कैनेल कोयला	८३	५० से ७०	३०
अंग्रेसाइट	९३	६ १	२ ०

भारत में कोयला अधिक परिमाण में निकलता है। दो करोड टन से अधिक कोयला यहां प्रति वर्ष खानों से निकलता है। अमणिर्भाय कोयलों में खनिज कोयला सबसे अशुद्ध होता है। कोयला गैस और जल वाष्प तैयार करने के लिये यह खनिज कोयला प्रयुक्त होता है। इससे कोक भी बनता है।

गैस-कार्बन। जलने वाली गैस के निर्माण में खनिज कोयले के विच्छेदक स्रवण से रिटार्ट में बहुत कठोर कार्बन का निक्षेप पाया जाता है। इस निःक्षेप को गैस-कार्बन कहते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व प्रायः २ ३५ होता है। यह विद्युत्-चालक होता है। अतः आर्क-प्रकाश के कार्बन छड के निर्माण में व्यवहृत होता है।

कोक। यह भी कोयले के विच्छेदक स्रवण से प्राप्त होता है। यह गैस कार्बन से भिन्न होता है और उससे अधिक अशुद्ध होता है। इसमें कार्बन की मात्रा प्रतिशत प्रायः ९० भाग तक रहती है। यह धातु-शोधन में व्यवहृत होता है।

जान्तव कोयला। पशु पक्षियों की हड्डियों को रिटार्ट में गरम करने से यह प्राप्त होता है। इसमें बहुत अधिक मात्रा में अशुद्धियां मिली रहती

एक दिन ऐसा मौका आया कि मैं उसे न बुला सका तो उसने मुझे नहीं बुलाया तथा वह दूसरों के साथ घूमने चला गया। एक दिन हो गया उसने मुझे न बुलाया। इसका तात्पर्य यह, कि मुझे जरुरत हो तो मैं खुद ही उसको बुलाने चला जाऊँ, वह मेरे पास न आवे मैंने उससे कुछ नहीं कहा परन्तु मेरे स्वाभिमान को ठेस पहुँची।

मैं वैसे स्वाभाव से एकान्त प्रिय तो हूँ परन्तु ऐसा कोई भी प्राणी या मानव नहीं है जो अपना कोई साथी या मित्र न चाहता हो। मैंने जीवन में इस चीज की हमेशा कमी महसूस की तथा आज भी यह चिन्ता है कि मुझे कभी अच्छी सोसाइटी नहीं मिली। मुझे मित्र तथा साथियों की कमी ही रही। बचपन में वही समस्या रही। जब मैं जबलपुर में पढ़ता था मैं जबलपुर में चार साल रहा परन्तु कोई भी मित्र साथी न मिले वैसे मेरा स्वभाव ही है कि अपने काम से काम। फलतः क्या मतलब। फिर भी मैं मानव हूँ, मनोरंजन चाहता हूँ। मेरी भी कुछ इच्छायें हो सकती है इनके लिये साथियों की जरूरत पड़ती है परन्तु मैं कुछ ऐसा अभगा हूँ कि मुझे साथी नहीं मिलते। मैं किसी को अपनी तरफ आकर्षित नहीं कर सका। किसी किसी में यह आकर्षण या गुण रहता है कि वह जल्दी सफल हो जाता है। मैं अपने गांव (XXX) में भी इसी चीज की कमी महसूस करता हूँ। जबलपुर में भी नहीं बनारस में भी नहीं मैं जहां भी रहूँ कई महीनों रहूँ मेरी किसी से पहिचान नही हो पाती। मैं यही नही जानता कि लोग दूसरों से कैसे चंद ही मुलाकातों में जान पहिचान बढ़ा लेते हैं, बहुतों को जानने लगते हैं, एक दूसरे से हिल-मिल जाते हैं, कुछ उनमें अद्भुत शक्ति रहती है जिससे लोग उनकी ओर जल्दी आकर्षित हो जाते हैं। यह विलक्षण गुण मेरे पिता जी व बड़े भाई में पाया जाता है। मैं सोचता हूँ उनमें क्या है, मुझमें क्या नहीं है, मैं ऐसा अभागा क्यों हूँ कि जो मुझमें यह गुण नही है। जब सोचता हूँ तो रंज

होता है तथा मुझे अपने पिता जी व बड़े भाई से ईर्षा होती है। उनमें ऐसे गुण हैं मुझसे क्यों नहीं। मैं सोचता हूँ मुझमें क्या कमी है किस उपाय से मैं व्यवहार पालने की विधि सीख सकता हूँ। वे अपना इतना असर पैदा कर लेते है कि वे किसी से भी कोई कार्य कहें जल्दी हो जाता है। जब कि मैं यह सब करने में बिल्कुल असमर्थ हूँ। मैं यही सोचता हूँ मैं ऐसी बात उनसे कैसे कहूँगा। मेरी हिम्मत नहीं पड़ती मेरा यह हाल है कि यदि मेरे २-४ मित्र हों भी तो वे मेरी परवाह नहीं करते तथा मुझमें मान होने से मैं भी कुछ बरदास्त नहीं कर पाता। मेरा मन यह चाहता है कि मैंने उनके लिये इतना किया तो वे भी मौके पर मेरे काम आवें। सब बातों का सार यह कि मैं स्वयं में बचपन से ही यह महसूस करता रहा हूँ कि मेरी भी निज की कोई सोसाइटी हो जिसमें मेरा निज का भी व्यक्तित्व होवे, परन्तु मैंने आजतक अपने में इस चीज का अभाव पाया। यह क्या मेरा भाग्य ही खराब है? क्या मैं अभागा ही हूँ? या इसके लिये मेरा स्वभाव उत्तरदायी है यह मैं स्वयं नहीं जानता। परन्तु मेरी इच्छा है तथा महसूस करता हूँ कि मेरा भी कुछ व्यक्तित्व होवे, साथी होवें सोसाइटी होवे। परन्तु मित्र कैसे बनाये जाते हैं वह कौन सा गुण है जिससे आदमियों पर अपना प्रभाव डाला जा सके और उनको अपनी ओर आकर्षित किया जा सके? जब कभी कोई भी विचार खराब या अपनी ही दशा के बारे में मन में आते हैं, तो मैं सोचता हूँ कि ऐसे विचार मेरे मन में क्यों आते हैं? दूर करने की कोशिश करता हूँ तथा खुद को भी खूब कोसने लगता हूँ कि मैं ऐसा मूर्ख हूँ कि मुझ सरीखा अभागा इस समय में शायद ही दूसरा होवे; मुझ में ऐसा अच्छा गुण क्यों नहीं जो दूसरे में है मेरा स्वास्थ्य अच्छा क्यों नहीं रहता इतनी दवाइयों से भी तन्दुरुन्ती ठीक नहीं होती। इस प्रकार मन खूब घबराने लगता है। रुलाई आ जाती है। रंज में एकान्त में रो भी खूब लेता हूं। कभी कभी ऐसा लगता है कि इस बेकार जीवन से जिसमें चिन्ता

ही चिन्ता है मर जाना ही अच्छा है। भगवान् जल्दी मौत दे दे तो अच्छा हो। ऐसी परिस्थिति में मन निराशा में डूब जाता है। भविष्य की जो कुछ भी सुन्दर कल्पनायें करता हूँ, तो ऐसा लगता है कि ये सिर्फ स्वप्न ही हैं। सारी महत्वाकांक्षायें व अरमान नष्ट हो जाते हैं। मन निराशा तथा व्याकुलता से भर जाता है तनिक में घबराहट होने लगती है। मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि मुझमें तथा मेरे पिता जी व बड़े भाई में बहुत अन्तर है। वे इस प्रकार के क्रोधी चिड़चिड़िया तथा चिन्तित रहनेवाले नहीं हैं। न मालूम मुझे भगवान् ने ऐसा अभा[illegible] क्यों बनाया। आजतक मुझे मानसिक शांति नहीं है। मैं मानसिक शान्ति चाहता हूँ। यदि यह मुझे प्राप्त हो गई तो मैं सुखी हो सकता हूं तथा स्वास्थ्य की समस्या स्वयं हल हो सकती है। आज स्वास्थ्य से ज्यादा मानसिक स्थिति ठीक होना मेरे लिये अत्यन्त आवश्यक है। मैं तो भगवान से यही प्रार्थना करता हूं कि भगवान मुझे कुछ नहीं चाहिये, सिर्फ जीवन में मस्ती दे जिससे जीवन व्यतीत कर सकूँ, जिसमें कोई फालतू चिन्ता न होवे।"

यहाँ रोगी के रोग का प्रमुख कारण उसके बचपन के अस्वस्थ संस्कार हैं। रोगी को आत्म-समन्वय स्थापित करने की शिक्षा नहीं दी गई। जब बालक अधिक लाड़ में पाला जाता है अथवा उसे अधिक नैतिक शिक्षा दी जाती है तब उसके भीतरी और बाहरी मन में विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। आत्म-समन्वय मनुष्य जैसा है उससे संतोष करने की भावना से उत्पन्न होता है।

आत्म समन्वय सद्विचार से आता है। मनुष्य को अपने आपको विशेष व्यक्ति बनने की चेष्टा न करनी चाहिये। जो मनुष्य अपने आप को सब लोगों से विलक्षण समझता है, वह व्यक्तिगत कमी के लिये अपने आपको कोसता भी अधिक है। जो मनुष्य सामान्य बने रहने में संतोष करता है वह देखता है कि यदि वह दूसरों से बहुत अच्छा नहीं हैं तो उनसे बहुत बुरा भी नहीं हैं।

बहुत से मनुष्य अपने आपके विषय में दो चित्र रखते हैं। एक चित्र में वे अपने आपको आदर्श व्यक्ति देखते हैं और दूसरे में वे अपने आपको नीच पतित के रुप में देखते हैं ये दोनों चित्र मन के दो भागों में रहते हैं। जब मनुष्य एक चित्र का स्मरण करता है तो फूला नहीं समाता और जब दूसरा चित्र उसके सामने आ जाता है तो वह आत्म-ग्लानि से अधमरा हो जाता है। परन्तु यह भूल है। मनुष्य को दोनों चित्रों को मिलाकर व्यक्तित्व का ऐसा रूप खड़ा करना चाहिये जो न अधिक भड़कोला हो और न भद्दा। फिर वह अपने आपको दूसरे मनुष्यों के समान साधारण मनुष्य समझने लगेगा और इससे उसके जीवन का बल बढ़ेगा। इस प्रसंग में जोशुआ लोथ लीबमेन महाशय क 'पीस आफ माइन्ड' ग्रन्थ में दिये हुए निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं — "हम सभी सापेक्ष हैं और कोई पूर्ण नहीं है। जो कुछ हम करते हैं अपूर्णता से दूषित रहता है। हम कितनी बार ईश्वर की बराबरी करने की चेष्टा करते है और जो ईश्वर ही कर सकता है वह हम अपने आप करना चाहते हैं, अर्थात् पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हैं। इसके कारण हम सदा अपनी भर्त्सना करते और अनेक प्रकार की यंत्रणा अपने आपको देते रहते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का अन्त कर देना सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिये नितांत आवश्यक है।" *

---

* "We are relative and not absolute creatures, every thing we do is tinged with imperfection. So often do people foolishly try to be come rivals of God and make demands upon themselves which only God could make of himselt, rigid demand of absolute perfectlon There is a little tyrant and a touch of the critic and martyre in all of us, There are moments when we want to dominate, to tear down and to make others suffer. This trait however can be and must be subordinated to the total godness of personality."

—Joshua Loth Liebman; "P," p. 54. Mfeniocdea

अपनी कमी पर कितने मनुष्य सदा रोते रहते हैं। मानसिक रोगियों की बहुत सी कमियाँ काल्पित होती हैं। हम सभी कभी न कभी अपनी कल्पित कमी के लिये रोते हैं। यदि हम अपनी कमियों को स्मरण करते समय अपने गुणों को भी स्मरण करें और अपने गुणों को सोचते समय अपनी कमियों को ध्यान में रखें तो हमारा जीवन संतुलित रहे और हम सदा मानसिक आरोग्य का उपभोग करें। कमियाँ उनके लिये रोने से नष्ट नहीं होतीं, कुछ रचनात्मक कार्य करने से ही वे नष्ट होती हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व को अपने आप बनाता है। वह चाहे जैसा ही क्यों न हो अपने आपको संसार का मौलिक व्यक्ति बना सकता। इसके लिये उसको सदा व्यवहारिक आदर्श अपने सामने रखना होगा। मध्यम मार्ग का उसे अनुसरण करना होगा।

प्रेम और मानसिक एकीकरण

ऊपर कहा गया है कि आत्म-समन्वय स्थापित न होने के कारण मनुष्य सदा मानसिक अशान्ति में रहता है और अनेक प्रकार के रोगों का आवाहन करता रहता है। रोग इस आत्म-यंत्रणा से बचने का एक मार्ग है। रोग से बचने के लिये अपने आपको कोसने की मनोवृत्ति का अन्त करना नितान्त आवश्यक है, और इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने दुर्गुणों को भुलाने की चेष्टा न करके उन्हें भली प्रकार से जाने और उनको अपने स्वभाव का अंग मानकर आत्मोन्नति करने की चेष्टा करे। अपने दुर्गुणों के लिये अपने आप को क्षमा कर देना आत्मोन्नति और आरोग्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि सद्गुणों की वृद्धि करना।

परन्तु कोई भी मनुष्य अपने आप को सचमुच में तबतक प्रेम नहीं कर सकता जबतक कि वह अपने आस-पास रहनेवाले दूसरे लोगों को उन्हीं दुर्गुणों के लिये क्षमा नहीं करता। वास्तव में अपने ही

दुर्गुण दूसरों में आरोपित होकर दिखाई देते हैं। जब हम दूसरों लोगों के दुर्गुणों को उदारता की दृष्टि से देखते हैं तो हमारा अदर्श स्वत्व हमें भी क्षमा करता है। तभी हम अपने आप से सच्चा प्यार कर सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का यह एक मौलिक सिद्धान्त है कि वही मनुष्य अपने आप को ठीक से प्रेम कर सकता है जो दूसरे लोगों को प्रेम करता है। 'दूसरों को प्यार करना अपने आप को प्यार करने का साधन है।'❀

जब हम दूसरों को प्यार करते हैं और उनकी त्रुटियाँ जानकर भी उन्हें क्षमा कर देते हैं तो वे भी हमें हमारे दोषों के रहते हुए प्रेम करते हैं। मनुष्य को वास्तविक आन्तरिक शान्ति तभी प्राप्त होती है जब वह जानता है कि संसार में कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो उसके सभी दुर्गुणों को जानकर भी उसे प्रेम करते हैं और वह संसार का एक उपयोगी व्यक्ति है।

मनुष्य की अन्तरात्मा में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं एक ओर वह दूसरों से प्रेम प्राप्त करना चाहता है और दूसरी ओर वह दूसरों को अपना प्रेम भी देना चाहता है। मनुष्य के मानसिक विकास में एक समय ऐसा अवश्य आता है जब उसे अपने आस पास के लोगों को प्रेम करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक साधारण पुरुष और स्त्री में बढ़ी हुई दूसरों को कुछ देने की प्रवृत्ति है। मनुष्य बच्चे इसी लिये पैदा करता है कि वह उनसे कुछ न लेकर देवे। यह मनुष्य की जन्मजात उदारता के प्रकाशन का एक रूप है। संसार को बच्चे देना, कोई सुन्दर इमारत देना, बाग बगीचा देना कविता, गाना, अथवा

❀ 'Psychological experiments now indicate that the love of the neighbour is an inescapable prerequisite for the love of the self"— Joshua Loth Liebman.; "Peace of Mind."

अन्य प्रकार की कलायें अथवा वैज्ञानिक आविष्कार देना, किसी नये विचार को देना ये सभी प्रकार के पदार्थों के देने की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक उदारता की परिचायक है। जो मनुष्य अपनी इस उदारता की प्रवृत्ति को प्रकाशित नहीं करता वह अनेक प्रकार की आत्मयंत्रणा और मानसिक रोगों का भागी होता है। जब मनुष्य अपनी इस उदारता की मानसिक शक्ति को प्रवाहित होने से रोकता है तो यही शक्ति अवरुद्ध होकर विनाशकारी बन जाती है फिर मनुष्य दूसरों की प्रशंसा का पात्र न बन कर दूसरों की भर्त्सना का पात्र बन जाता है। ऐसा मनुष्य आत्म-भर्त्सना भी करने लगता है। मनुष्य का वास्तविक स्वत्व संकीर्ण तथा व्यक्तिगत नहीं है, वह विस्तीर्ण और व्यापक है। जैसा हृदय से दूसरे लोग हमारे बारे में सोचते हैं वैसा हम भी अपने बारे में सोचने लगते हैं। जिस व्यक्ति से उसके आस पास के लोग संतुष्ट नहीं रहते और हृदय से उसकी सराहना नहीं करते वह अपने आप से भी सन्तुष्ट नहीं रहता।

दूसरे लोगों का प्रेम प्राप्त करने के लिये उन्हें सदा कुछ देते रहना आवश्यक है। प्रेम प्राप्ति का उपाय प्रेम दान ही है। यदि हम निस्वार्थ भाव से दूसरों को प्रेम करें और उनकी सेवा करें तो वे भी हमारे साथ वैसा ही व्यवहार करेंगे। वह व्यक्ति बड़ा ही अभागा है जो कहता है मैं तो दूसरों की सेवा करता हूँ और उन्हें प्रेम करता हूँ परन्तु वे मेरे कोई काम नहीं आते। वास्तव में ऐसा व्यक्ति अपने आप को नहीं जानता। उसका निस्वार्थ प्रेम ढोंग मात्र होता है। प्रेम व्यवहार में वहीं धोखा होता है जहाँ पर प्रेम व्यवहार पहले से ही स्वार्थ बुद्धि से रहता है। मानसिक रोगी को तो दूसरों से निस्वार्थ प्रेम इसलिये ही करना चाहिये कि इससे उसके भाव परिस्कृत होते हैं और उसे आरोग्य लाभ होता है। क्या अपने मनोभावों का सुन्दर बन जाना, दूसरों के प्रति उदारता दिखाने का, उनकी सेवा करने

का पर्याप्त पुरस्कार नहीं है ? जिस व्यक्ति के भाव सुन्दर होते हैं वह व्यर्थ की चिन्ता और आत्म-भर्त्सना के विचारों में नहीं फँसता। दूसरों की सेवा करने का यह कितना बड़ा लाभ है।

दूसरों को प्रेम दिखाने का दूसरा उपाय उनके विशेष प्रकार के विचारों के प्रति उदारता दिखाना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों को ठीक समझता है और अपने से भिन्न प्रकार के विचारों को गलत समझता है। अपने रीति रिवाज रहने सहने के ढंग सबको अच्छे लगते हैं; अपने से भिन्न रीति रिवाज और रहने सहने के ढंग हमें नहीं भाते परन्तु इस प्रकार के विचारों से हम सुखी न होकर दुखी होते हैं। इस प्रकार का दुख हमारा मानसिक रोग बन जाता है। जब हम अपने से भिन्न विचार, रीतिरिवाज, रहने सहने के ढंग आदि के प्रति उदारता के विचार मन में लाते हैं तो ऐसी अनेक मानसिक झंझटें हमारे मनमें नहीं उत्पन्न होतीं जो अन्यथा उत्पन्न हो जाती हैं।

इस प्रकार की उदारता से हमारा मानसिक विकास होता है और हम सत्य की ओर प्रगतिशील होते हैं। इससे दूसरे लोग भी हमारे प्रति उदार बन जाते हैं। इसके कारण हमें अपूर्व आत्म-प्रसाद और मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है।

जब हम दूसरे लोगों का किसी बाहरी क्रिया से कोई उपकार न कर रहे हों उस समय मन ही मन सबके प्रति कल्याण की भावना मन में लानामानसिक एकीकरण और मानसिक आरोग्य प्राप्ति के लिये उपयोगी होता है। मनुष्य की बाह्य क्रियायें उसके जीवन का मूल्य बढ़ाने में और उसे मानसिक शान्ति देने में उतनी लाभकारी नहीं हैं जितने लाभकारी उसके भीतरी विचार होते हैं। हम दूसरों की जितनी भलाई अपनी क्रियाओं से करते हैं उससे कहीं अधिक भलाई हम अपने गुप्त विचारों से करते हैं। मानसिक आरोग्य के लिये मैत्री भावना का अभ्यास करना सभी धर्मों ने उपयोगी बताया

है। आधुनिक मनोविज्ञान भी पुराने धर्म प्रवर्तकों की इस खोज की महत्ता दर्शा रहा है। दूसरों के प्रति मैत्री के विचार भेजना आत्म-मैत्री प्राप्ति तथा मानसिक एकीकरणका सर्वोत्तम साधन है।

बीसवाँ प्रकरण

दार्शनिक विचार और आरोग्य

मानसिक रोगी के मन की बनावट

स्थायी मानसिक आरोग्य के लिये दार्शनिक विचार की नितांत आवश्यकता है। मानसिक रोगी में दार्शनिक विचार का अभाव रहता है। उसका व्यक्तित्व छिछले विचारों का बना रहता है, अतएव वह अपने आप को बुरा अथवा भला, सुखी व दुखी उसी प्रकार समझने लगता है जैसा कि दूसरे लोग उसे समझते हैं। दूसरे लोगों के विचारों में ही अपने स्वत्व को स्थापित कर देना ही दुःख का कारण होता है। जब मनुष्य अपने आप सोचकर किसी नित्य तत्व के अनुसार अपने जीवन को बनाता है और उसी तत्व के अनुसार अपने विचारों का एकी करण करता है तो उस के जीवन में शान्ति भी आती है।

मानसिक रोग की अवस्था में किसी भी प्रकार का बाहरी अभद्र विचार मनुष्य के मन में घुस आता है और फिर उसे निकालने की चेष्टा करने पर भी वह बाहर नहीं निकालता। परन्तु उन्हीं लोगों के मन में इस प्रकार बाहरी विचार घुसते हैं जिन्हें चिन्तन का अभ्यास नहीं होता और जो बाहरी विचारों को अपने मन में स्थान देने के अभ्यस्त होते हैं। परजो व्यक्ति अपने आपके ही विचारों में निमग्न रहता है जिसे इस बात की फुरसत ही नहीं रहती कि वह दूसरों की उनकी विषय की राय के बारे में सोचे, वही स्थायी शान्ति लाभ करता है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसके विचारों का बना रहता है। जिस व्यक्ति के विचार सुसंगठित है वह सुखी है। जिस के बिचार

बिखरे हुए हैं, जो वह सदा दूसरों के ऊपर आश्रित रहता है, वह सदा दुःखी रहता है।

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट महाशय का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन का स्वतः निर्माण करना पड़ता है। उसका भौतिक शरीर माता पिता का दिया हुआ होता है, पर उसका आध्यात्मिक शरीर अपने आप द्वारा ही रचा जाता है। भौतिक शरीर भौतिक पंच तत्वों का बना होता है और आध्यात्मिक शरीर विचारों का बना रहता है। भौतिक शरीर भौतिक स्वास्थ्य और बल का प्रतीक होता है और आध्यात्मिक शरीर आध्यात्मिक स्वास्थ्य और बल का। जिस प्रकार प्रति दिन के भोजन और व्यायाम से भौतिक शरीर की रक्षा होती है और उसका बल बढ़ता है, इसी प्रकार प्रति दिन के चिन्तन से मनुष्य के आध्यात्मिक शरीर की रक्षा होती है और उसका बल बढ़ता है। संसार के सामान्य लोग अपने भौतिक शरीर की पूरी चिन्ता करते हैं, पर अपने आध्यात्मिक शरीर की चिन्ता नहीं करते। इस के परिणाम स्वरूप उनका आध्यात्मिक शरीर निर्बल हो जाता है। जब वह निर्बल होता है तो किसी प्रकार का अभद्र विचार अथवा मानसिक रोग मनुष्य को पकड़ लेता है।

मनुष्य के पास सब समय अनुकूल और और प्रतिकूल विचार आते रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य भौतिक वातावरण में रहता है, इसी प्रकार वह मानसिक वातावरण में भी रहता है। स्वास्थ्य वर्धक भौतिक वातावरण शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करता है और उसको नित्य प्रति बढ़ाता है। गन्दा भौतिक वातावरण शारीरिक स्वास्थ्य का विनाशक होता है इसी प्रकार भला मानसिक वातावरण हमारे मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करता है और गन्दा वातावरण उसका विनाश करता है। मानसिक वातावरण मनुष्य अपने आप ही बनाता है। जैसे मनुष्य के मन में विचार चलते रहते हैं उसी के अनुसार बाहर से भी विचार उसे मिलने लगते हैं। भौतिक दृष्टि से हम सीमित हैं पर मानसिक दृष्टि से हम बहुत दूर

और क्षण में दुःखी हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को स्थायी शान्ति मिलना असम्भव है। जब उसके भावों का उसके विवेक से संघर्ष होता है तो मानसिक द्वन्द्व की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी द्वन्द्व के कारण मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। मानसिक चिकित्सा के परिणाम-स्वरूप मनुष्य के विवेकात्मक और भावात्मक स्वत्व में एकत्व स्थापित हो जाता है। परन्तु जबतक उसके जीवन में भावों की प्रधानता ही रहती है तबतक फिर से मानसिक रोग की अवस्था में आने की सम्भावना बनी रहती है। जब मनुष्य अपने भावों को विचार में परिणत करना सीख लेता है और विचारों को भी उससे ऊँचे तत्व में जोड़ देता है अर्थात् जब वह अपने सभी विचारों को आत्म अनुभूति में लय कर देता है तब उसे स्थायी शान्ति मिलती है। कोई भी व्यक्ति तब तक पूर्णरूप से आरोग्य लाभ नहीं करता जब तक वह स्थायी तत्व के विषय में निश्चय मति नहीं हो जाता।

मानसिक आरोग्य और नित्यतत्व के विषय में निश्चयात्मक बुद्धि में कितना घनिष्ट सम्बन्ध है यह संसार के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक और मानसिक चिकित्सक श्रीचार्ल्स युंग महाशय के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है। चार्ल्सयुंग कहते हैं—"मैंने गत पैंतीस वर्षों में अनेक देश के अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा की है। उनमें से कोई भी पैंतीस वर्ष के ऊपर का ऐसा रोगी मुझे न मिला, जिसके रोग का प्रधान कारण धार्मिक समस्याओं को हल करने में असफलता न थी और कोई भी रोगी तबतक स्थायी लाभ नहीं कर सका जबतक उसने अपने धार्मिक विश्वासों को दृढ़ नहीं कर लिया"*

---

* "During the past thirty years people from all the civilized countries of the earth have consulted me. I treated many hundred patients. Among all my patients in the second half of life, that is to say, over thiry-five, there has not been one whose problem in the last resort was not that of finding a religious out-

प्रत्येक मनुष्य उस वस्तु के खो जाने से उद्विग्न मन होता है जिसे वह मौलिक समझता है। साधारण मनुष्य के मल्य भौतिक जगत में ही रहते हैं। वह अपने जीवन की सफलता और विफलता का मापदण्ड बाहरी वस्तुओं की प्राप्ति से ही करता है। धन मान यश, शारीरिक सौन्दर्य आदि वस्तुओं को साधारण मनुष्य मूल्यवान समझता है। जब वह इनमें किसी प्रकार की कमी देखता है तो दुःखी हो जाता है। इस दुःख के विस्मरण करने से असन्तुष्ट मन मानसिक रोग की कल्पना करता है। मनोविश्लेषण के द्वारा उक्त दुःख को चेतना की सतह पर लाया जाता है और उस दुःख की व्यर्थता को रोगी के मन में बैठा दी जाती है। इसके लिये मानसिक रोगी से अनेक प्रकार का विचारविनमय करना पड़ता है। परन्तु केवल दबी दुखमय घटना के स्मरणमात्र से रोग सदा के लिये नष्ट नहीं होता। रोगी को पुनः शिक्षा होना मानसिक रोग के सदा के लिये चले जाने के लिये आवश्यक होती है। यह पुनः शिक्षा जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण का देना है। इस दृष्टिकोण का आगमन नये दार्शनिक विचारों के आने के साथ साथ होता है।

जिस व्यक्ति का दार्शनिक विचार आशावादी है; जो विश्वास करता है कि संसार की सभी घटनाओं का संचालन करनेवाला कोई भला तत्व है और वह जो कुछ करता है हमारे कल्याण के लिये करता है उसका मानसिक रोग की अवस्था में आना सम्भव नहीं। ऐसा व्यक्ति किसी भी घटना

---

look on life. It is safe to say that every one of them fell ill because he had lost that which living religions of every age have given to their followe·s, and none of them has been really healed w o did not regain his religious outlook."—C. Jung

Quoted by Dale Carnagie in his article—"My Prayep Cure for Wory' in Your Life

से उद्विग्मन नहीं होता । जब कोई मनुष्य किसी भी घटना को अकल्याण कारी नहीं मानता तो उस को किसी प्रकार का मानसिक धक्का भी नहीं लगता । मानसिक रोगों की उत्पत्ति किसी प्रकार के मानसिक धक्के के कारण ही होती है । इन धक्कों को अभद्र घटनायें माना जाता है । जब मनुष्य को नया दृष्टिकोण प्राप्त हो जाता है तो वह सभी घटनाओं को कल्याण कारी मानने लगता है । सभी घटनाओं को कल्याणकारी मानने से उनके प्रति द्वेषभाव चला जाता है। ये घटनायें फिर किसी प्रकार की आत्मग्लानि, शोक, अथवा किसी अन्य प्रकार का दुःख उत्पन्न नहीं करती । वास्तव में रोगी के अपनी जीवन की घटनाओं के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तन करने से ही उसके दबे भावों का रेचन होता है । जब तक रोगी किसी आवेग पूर्ण घटना को बुरा ही मानते रहता है उसका चेतना की सतह पर आना संभव नहीं होता। चेतना की सतह पर घटना तभी आती है जब उस केप्रति रोगी का दृष्टिकोण बदल जाता है और उसके स्मरण से उस को भयानक आत्म-ग्लानि नहीं होती । मानसिक चिकित्सक इस नये दृष्टिकोण को प्राप्त करने में रोगी की सहायता करता है। अतएव वह मानसिक चिकित्सक रोगी का स्थायी लाभ करता है जो सुयोग्य दार्शनिक विचार अपने आप रखता है और जो योग्य दार्शनिक विचार अपने रोगियों को देने की योग्यता रखता है ।

मानसिक साम्य की प्राप्ति योग्य दार्शनिक विचार का सर्वोत्त लक्षण है । सभी प्रकार की परिस्थितियों में निश्चल मन होना दार्शनिक विचार की परिपक्वता का परिणाम है । यह मानसिक साम्य दो प्रकार के विचारों के अभ्यास से आता है — सभी घटनायें भले के लिये है, सभी आनन्द रूप है, अथवा सभी दुःख रूप है । किसी भी घटना को विशेष भली मानना अथवा उसे विशेष बुरी मानना मानसिक उद्वेग की स्थिति को उत्पन्न करना है । सभी प्रकार के उद्वेग अस्थायी वस्तुओं के प्रती तीव्र इच्छा के कारण उत्पन्न होते हैं । इच्छा के निराकरण से मानसिक उद्वेगों का निराकरण हो जाता है । इच्छा का

निराकरण सर्वा आनंद भावना अथवा सर्व दुःख भावना से होता है। उपनिषद् के ऋषियों ने पहले मार्ग को बताया और भगवान बुद्धने दूसरे मार्ग को। किसी भी एक मार्ग से चलने से मानसिक स्थिति एक सी ही होती है।

वास्तव में मनुष्य के सारे आनन्द का केन्द्र उसकी आत्मा ही है। यह सभी का स्वत्व है। इसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बाहरी पदार्थों से अपना मुख मोड़ना पड़ता है। पदार्थों का आकर्षण आत्मा के आनंद का आभाष मात्र है। जब मनुष्य अपने आप को भूल कर बाहर आनंद की खोज करने लगता है तो वह अनेक प्रकार के दुःखों में पड़ता है। उसे मानसिक रोग इस लिये ही होते हैं कि वह अपने आप को भूल जाता है। बाहरी पदार्थ जो सुख देते हैं वे सब सापेक्ष होते हैं, अर्थात् उनका सुख किसी दूसरे पदार्थ में दुःख की कल्पना पर निर्भर करता है। सुखद पदार्थ को मनुष्य चाहता है और दुःख से दूर भागता है। पर सुखद और दुःखद पदार्थ एक दूसरे से बंधे हुए रहते हैं। जहाँ एक आता है वहाँ दूसरा भी आ जाता है। जब मनुष्य दुःख में सुख को और सुख में दुख को देखने लगता है और जब वह दोनों के प्रति एक सी मनोवृत्ति धारण कर लेता है तो उसके मानसिक क्लेशों का अन्त हो जाता है।

संसार के पदार्थ वैसे ही हैं जैसी कि हम उनके विषय में कल्पना करतेहैं। अपनी कल्पनाओं पर नियंत्रण करने से मनुष्य अपने सुख और दुःख का स्वयं मालिक बन जाता है। कल्पनाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है। कल्पनायें इच्छाओं के द्वारा निर्मित होती है। जबतक मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त नहीं करता तबतक न तो उसकी कल्पनायें उसके नियंत्रण में रहती हैं और न वह मानसिक उद्वेगों से मुक्त होता है। इच्छाओं का आधार मनुष्य का मिथ्या ज्ञान है। वह अपने सुख की कल्पना अपने से बाहर करता है। इस प्रकार की भावना ही इच्छाओं का कारण होती है। जब मनुष्य की यह मल अविद्यानष्ट हो

आती है तो वह इच्छाओं के ऊपर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। फिर वह इच्छाओं का दास न बन कर उनका स्वामी बन जाता है। पर इस प्रकार अविद्या के विनाश के लिये तत्त्वचिन्तन अर्थात् सच्चे दार्शनिक विचार में लगन रखना नितांत आवश्यक है।

इच्छाओं के जगत में विचारण करनेवाले व्यक्ति का मन कभी भी शान्त नहीं रह सकता। वह अपने आप में किसी न किसी प्रकार की कमी की कल्पना करते ही रहेगा और इस कमी के कारण अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक क्लेश को भोगते ही रहेगा। जितनी ही संसार में तत्वचिन्तन की कमी होती है उतना ही संसार नित्य प्रति दुःखी होते जाता है। पुराने समय में केवल भौतिक दुःखों से ही मनुष्य अधिक व्याप्त रहता था, अब उसके मानसिक दुःखों की संख्या कल्पनातीत बढ़ गई है। मनुष्य के पास कितनी ही भौतिक सुख की सामग्री क्यों न हो यदि उसका मन सुख स्थित नहीं है तो वह किसी प्रकार के मानसिक आराम को प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी भौतिक सामग्री बिना भोगी ही पड़ी रह जाती है। जैसे जैसे आधुनिक सभ्यता का प्रसार बढ़ते जाता है मानसिक रोगों की भी संख्या बढ़ती जाती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को अपने इच्छाओं को अपने वश में लाने का अब कोई साधन नहीं रह गया। जो स्थान पुराने समय में धर्म ने लिया था वह स्थान अब विज्ञान ने ले लिया है। विज्ञान मनुष्य की बुद्धि प्रबल करता है, पर उसकी दृष्टि बाहर की ओर होने के कारण वह उसकी इच्छाओं के नियंत्रण के काम में नहीं आता। विचार इच्छा का नियंत्रण करने की क्षमता रखता है पर वर्तमानकाल में इच्छा ने विचार को ही अपना दास बना लिया है। इच्छित वस्तुओं के निर्माण में ही मनुष्य अपनी सारी बुद्धि को खर्च कर डाल रहा है। वह यह जानने की चेष्टा नहीं करता कि जिस वस्तु के लिये इतना परिश्रम किया जा रहा है वह वास्तविक सुख देगी अथवा नहीं। यह बात दार्शनिक विचार से आती है।

जो काम सूक्ष्म दर्शी पुरुषों के लिये दर्शन करता है वही काम सामान्य जन साधारण के लिये धर्म करता रहा है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शौपन हावर* महाशय ने धर्म को जनता का दर्शन अथवा तत्वज्ञान कहा है। धर्म मनुष्य को क्षणिक सुख के प्रति उदासीन करके नित्य सुख की ओर मोड़ता है। हमारी इच्छायें भौतिक सुखों से सम्बन्धित रहती हैं। धर्म परलोक के विषय में मनुष्य को चिन्ता करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार वह अस्थिर से मन को मुक्त करके स्थिर पदार्थ की ओर ले जाता है। धार्मिक विचारों के कारण मनुष्यों में उतना ईर्ष्या द्वेष नहीं बढ़ता जितना अन्यथा बढ़ना निश्चित है।

वर्तमानकाल में धनी और स्वार्थी लोग धर्म का दुरुपयोग कर रहे हैं। अतएव ऐसे सभी धर्म अब व्यर्थ हो गये जो मनुष्यों को सांसारिक सुखों से विरत न करके उनके लिये ही लड़ने के लिये तैयार करते हैं। धर्मों के आधार पर जो सांसारिक वैभव की प्राप्ति के लिये संगठन होते हैं वे वास्तव में अधर्म पूर्ण हैं। ऐसे सभी संगठनों का शीघ्राति शीघ्र अन्त होना आवश्यक है। धार्मिक भावना से मनुष्य में त्याग-बुद्धि भ्रातृभाव, सहिष्णुता, सचाई आदि गुणों की वृद्धि होना चाहिये। यदि किसी प्रकार के धार्मिक संघटन से इसके विपरीत परिणाम होता है तो उसका नष्ट होना आवश्यक है। वर्तमानकाल में धार्मिक भावों का पर्याप्त दुरुपयोग हो चुका है; अतएव अब प्राकृतिक रूप से धार्मिक विचारों को हेय दृष्टि से देखा जाना लगा है।

पर आवश्यकता इस बात की है कि धर्म का स्थान मनुष्य के कोई दूसरा तत्व ले। वास्तव में धर्म दार्शनिक विचारों में प्रवेश करने की पहली सीढ़ी है। अतएव यदि धर्म के अभाव में मनुष्य दार्शनिकता की ओर झुकता है तो उसका कल्याण होगा। यदि वह जड़वाद की

* "Religion is the metaphysics of the masses" —Selected Essays of Schopenhauer, Essay on Man's need of Metaphysics.

ओर जाकर केवल भोग्यवादी बन जाता है तो उसे अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ेगें। वह एक ओर इस प्रकार की मनोवृत्ति से प्रलय-कारी युद्धों का निर्माण करेगा और दूसरी ओर वह मानसिक रोगों की वृद्धि करेगा। जैसा मनुष्य का मन होता है उससे उसी प्रकार का समाज भी निर्मित हो जाता है। अशान्त सामूहिक मन अशांत समाज का निर्माण करता है और शान्त सामूहिक मन शान्त समाज का। मनुष्य के अन्तर्मुखी होने और दार्शनिक विचार की वृद्धि से न केवल व्यक्तिगत लाभ होता है, वरन् पूरे समाज का कल्याण होता है।

इक्कीसवां प्रकरण

नई मानसिक चिकित्सा विधि

विभिन्न प्रकार की मानसिक चिकित्सा विधियां

मानसिक रोगों का उपचार एक बड़ा जटिल कार्य है। अभी तक इन रोगों के उपचार के लिये कोई भी सर्वमान चिकित्सा विधि निश्चित नहीं हुई है। मानसिक रोगों के उपचार के विषय में अनेक प्रकार की खोजें हो रही हैं। इन खोजों के परिणाम स्वरूप जो विधि कुछ वर्ष पहले सम्मानित मानी जाती थी वह अब पुरानी मान्यता प्राप्त नहीं करती। कुछ ही पूर्व फ्रायडमहाशय द्वारा आविष्कृत मनोविश्लेषण चिकित्सा विधि सर्व मान्य थी; पर अब उस विधि की उपयोगिता के विषय में संसार के विद्वानों के विचार बदल गये है। नई मानसिक चिकित्सा विधि मनो विश्लेषण विधि से कुछ भिन्न है।

मानसिक रोगों की निम्नलिखित चिकित्सा विधियां हैं—

(१) साधारण डाक्टरी और आयुर्वेदिक चिकित्सा।

(२) प्राकृतिक चिकित्सा।

(३) विज्ञान के द्वारा आविष्कृत यन्त्रों द्वारा चिकित्सा।

(४) मनोविश्लेषण चिकित्सा।

(५) सम्मोहन और निर्देश द्वारा चिकित्सा।

(६) सत्संग चिकित्सा।

अपने अपने विश्वास और अनुभव के अनुसार भिन्न भिन्न चिकित्सक भिन्न भिन्न चिकित्सा विधियों का प्रयोग करते हैं। सबसे नई मनोविश्लेषण विधि है। सत्संग चिकित्सा-विधि सबसे पुरानी सबसे नई भी है। इस समय अमेरिका में इस विधि का प्रचार

हो रहा है। वर्तमान काल के बहुत से मानसिक रोगी ऐसे होते हैं जो न स्वस्थ ही कहे जा सकते हैं और न रोगी ही।

जैसे जैसे सभ्यता का प्रसार होते जाता है मनुष्य के रोगों की संख्या बढ़ती जाती है। पुराने समय में लोगों को अधिकतर शारीरिक रोग ही होते थे। जबतक वे बिस्तर पर न लेट जायें तबतक वे अपने आपको बीमार नहीं समझते थे। पर विज्ञान के आविष्कारों के कारण अब ऐसे रोगों की संख्या तो घट गई है, पर उनके स्थान पर अन्य प्रकार के रोगों की संख्या बढ़ गई है। ये रोग मानसिक रोग हैं।

मानसिक रोग दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिनमें रोगी अपनी विचार करने की शक्ति को बिल्कुल खो देता है और वह पागलखाने में रखने योग्य हो जाता है। दूसरे मानसिक रोग वे होते हैं जिनमें रोगी अपनी विचार करने की शक्ति को पूर्णतः नहीं खोता। वह अपने जीवन के साधारण कामों को सामान्य लोगों की ही भाँति करता रहता है परन्तु भीतर भारी अशान्ति का अनुभव करता है। वह नहीं जानता कि इस असन्तोष का कारण क्या है। कभी कभी वह किसी अकारण भय अथवा चिन्ता से ग्रस्त हो जाता है। कुछ भय ऐसे होते हैं जिनके ऊपर स्वयं भय करनेवाले व्यक्ति को आश्चर्य होता है। वह जानता है कि वह भय अकारण है फिर भी वह उसे नहीं छोड़ता। लेखक के एक रोगी को बाहर जाने पर इतना भय लगता था कि वह एक स्कूल का हेडमास्टर होते हुए भी बिना किसी साथी के अकेला स्कूल तक नहीं जा सकता था। कभी कभी उसे अपनी सात वर्षीय बालिका को ही अपने साथ ले जाना पड़ता था।

इसी प्रकार जितने ही लोगों को अनेक तरह के सुधार की झक का रोग होता है। यदि कोई विचार मस्तिष्क में चला गया तो वह मस्तिष्क से बाहर नहीं निकलता। कितने ही लोगों को अपनी इच्छा के विरुद्ध विशेष प्रकार की चेष्टायें करते रहना पड़ता है। कुछ अपने मुँह को बनाया करते हैं कुछ आँखों को मटकाया करते हैं। कुछ अंगुलियाँ गिना करते हैं और कुछ नाँक फुसकारते रहते हैं। ये सब रोग जन

साधारण में बड़े सामान्य हैं। रोकने के प्रयत्न करने पर भी ये रोग नहीं रुकते। यदि इन्हें रोक भी दिया जाय तो वे अन्य और भी भयानक रोगों का रूप धारण कर लेते हैं। कितने ही लोग दूसरे लोगों के सामने आँख करके नहीं बोल सकते इन्हें शर्म मालूम होती है; उनकी आँख स्वभावतः नीचे गिर जाती हैं। इस रोग के साथ साथ मानसिक अशान्ति भी रहती हैं। निराशा और आत्महत्या की भावनायें बार बार मन में आती रहती हैं। कभी कभी शारीरिक रोगों का सन्देह मन में बैठ जाता है। डाक्टर के हजार आश्वासन देने पर भी रोग का सन्देह नहीं जाता। ऐसे रोग प्रायः पेट और हृदय के होते हैं।

इन रोगों का उपचार आधुनिक काल में प्रायः मनोविश्लेषण चिकित्सा विधि द्वारा किया जाता है। मनोविश्लेषण के द्वारा मानसिक ग्रन्थि की खोज की जाती है और उसे मनुष्य की चेतना की सतह पर लाया जाता है। मानसिक ग्रन्थि किसी प्रकार के भावों के दमन के कारण होती है। कोई भाव जब मनुष्य की नैतिक भावना के कारण दबाया जाता है तो वह मानसिक ग्रन्थि का कारण हो जाता है। इससे मनुष्य के विचारों और व्यवहार में असाधरणता उत्पन्न हो जाती है। अनैतिक भाव तो चेतना की सतह के नीचे चला जाता है और असाधारण विचार और व्यवहार चेतना की सतह पर रह जाते हैं। ये विचार और व्यवहार उस दबी भावना के प्रतीक होते हैं। इस भाव को पूर्णतः समझने के लिए मनुष्य के स्वप्नों का अध्ययन भी किया जाता है। स्वप्न में यह भाव उसी प्रकार प्रतीक रूप में प्रकट होता है। जब कोई दबा भाव मनुष्य की चेतना की सतह पर आ जाता है तो मानसिक विकार का रेचन हो जाता है। चेतन मन के द्वारा इस भाव को सोज डाला जाता है और उसका अपने जीवन में उचित स्थान समझ लिया जाता है। जब इस प्रकार दबे भाव का मनुष्य के सामान्य व्यक्तित्व से समन्वय हो जाता है तो मानसिक स्वास्थ्य लाभ हो जाता है।

इस विधि का आविष्कार वियेना शहर के प्रसिद्ध डाक्टर फ्रायड ने किया और उनके ही जीवन काल में इसका बहुत जोरों से प्रचार हुआ। पर देखा गया कि यह उपचार सभी मानसिक रोगों को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता। मानसिक ग्रन्थि को खोज सकना एक भारी समस्या हो गई है। इसके लिए एक विशेष प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता होने लगी। इस ट्रेनिंग के पश्चात् भी बहुत से लोग मानसिक ग्रन्थि को खोज नहीं पाते थे। जैसे जैसे इसके खोजने की नई नई रीतियों का आविष्कार होते गया, मानसिक ग्रन्थियाँ भी अपने छिपने की नई नई विधियाँ निकालती गई। मानसिक रोग मानसिक विकार को छिपाने की प्रवृत्ति के ही कारण उत्पन्न होता है। जब मनुष्य के आन्तरिक मन को ज्ञान हो जाता है कि कोई व्यक्ति इस विकार को प्रकाशित करने पर तुला हुआ है तो वह इस विकार को छिपाने के लिए नई नई विधियों का आविष्कार करता है। अतएव मानसिक चिकित्सक के प्रयत्न से रोग कभी कभी सुलझ न कर और भी जटिल होता जाता है। कोई कोई अकुशल मानसिक चिकित्सक रोगी की मानसिक ग्रन्थि को पहचानने के प्रयत्न में कुछ नये रोगों को रोगियों को सुझा देते हैं। इससे रोगी को जो रोग पहले नहीं था वह हो जाता है। फिर कितने ही नवयुवक मनोविश्लेषण के चमत्कार को सुनकर अपने आप में मानसिक ग्रन्थि की कल्पना करके अपने आप को रोगी बनाने लगे। मानसिकरोग कल्पना की प्रबलता से ही उत्पन्न होता है। जब कोई स्वस्थ व्यक्ति सोचने लगता है कि उसे कोई मानसिक रोग है तो उसे कोई न कोई मानसिक रोग हो ही जाता है। फिर डाक्टर का भी काम है कि यदि कोई मामूली सी असाधारणता मनुष्य में हो तो वह तिल का ताड़ बना देता है। ऐसा ही डाक्टर कुशल डाक्टर कहा जाता है।

मनोविश्लेषण विधि की इन बुराइयों को समझकर बहुत से समझदार व्यक्तियों ने इसका अध्ययन न करना ही श्रेयस्कर समझा। जहाँ अज्ञान से ही कल्याण है वहाँ ज्ञानी बनना मूर्खता है। परन्तु

यह बात भी सत्य है कि मनुष्य के बहुत से रोग मानसिक होते हैं और जबतक तत्सम्बन्धी मानसिक विकारों को नष्ट नहीं किया जाता तबतक रोग भी नष्ट नहीं होते। विकारों को नष्ट करने की विधि केवल रेचन विधि ही नहीं है। विकारों को चेतना की सतह पर लाये बिना भी उन्हें नष्ट किया जा सकता है। फिर दबी भावना को चेतना की सतह पर लाने की एकमात्र विधि मनोविश्लेषण विधि ही नहीं है। दबी हुई भावना साधारण बातचीत के द्वारा भी चेतना की सतह पर लाई जा सकती है। पर मुख्य वस्तु तो दबी भावना की शक्ति को सदुपयोग में लाना है। जबतक इसका सदुपयोग नहीं किया जातादबी भावना बाहर निकलकर नये मानसिक रोग उत्पन्न करती ही रहेगी।

मान लीजिये, किसी व्यक्ति की ईर्ष्या की भावना के दमन से उसे कोई रोग उत्पन्न हो गया है। जब इस भावना को चेतना की सतह लाया जाता है तो उसका सामान्य मानसिक अथवा शारीरिक रोग तो नष्ट हो जाता है, पर उसका व्यवहार अवांछनीय हो जाता है, जिसके कारण वह समाज का अप्रिय व्यक्ति बन जाता है। इसके परिणाम स्वरूप उसके मन में नई मानसिक ग्रन्थियों के पड़ने की सामग्री उपस्थित हो जाती है। मनुष्य का अनैतिक आचरण उसमें शारीरिक रोग की भावना उत्पन्न कर देता है। अनैनिकता के कारण मनुष्य का मन कमजोर हो जाता है और फिर जब कोई भी अवांछनीय विचार मन में छिप जाता है तो वह मन के बाहर नहीं निकलता। जो व्यक्ति दूसरों से बदला लेने का भावना मन में छिपाता है उससे प्रकृति असन्तुष्ट होकर बदला लेने लगती है। इस प्रकार वह उसे अपने बुरे संकल्प को पूरा करने से रोकती है। अतएव मानसिक ग्रन्थि के चेतना पर आने के पश्चात् रोगी का आचरण सुधारने की ओर उसके विचार पवित्र बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। यह कार्य नित्य प्रति के अभ्यास के द्वारा होता है। इसे पुनः शिक्षा कहा जाता है।

मानसिक चिकित्सा की नई विधि स्वास्थ्य-सलाह की विधि है। इसे हम सतसंग-चिकित्सा विधि कह सकते हैं। इस चिकित्सा विधि में रोगी

को सहज उपचार से स्वस्थ बना दिया जाता है। रोगी को बार बार उसके रोग का ध्यान न दिलाकर उसे अपने रोग का विस्मरण ही कराया जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने रोग के विषय में सोचते रहता है वह उसे उतना ही जटिल बना देता है। मानसिक रोग दिन प्रति दिन इस प्रकार उनके विषय में चिन्ता करने से और भी जटिल होते जाते हैं।

जब कोई रोगी किसी चिकित्सक के पास जाता है तो वह चिकित्सक से आशा करता है कि वह उसके रोग का निदान करे। चिकित्सक भी जो कुछ रोगी चाहता है वैसा ही करता है। यदि रोगी अपने रोग को सामान्य समझता है तो उसे और भी भारी बना देता है। इससे रोगी को एक प्रकार का आत्म-संतोष हो जाता है। फिर वह प्रसन्नता के साथ रोग का निदान करने के लिए चिकित्सक को पैसा देता है। जब वह इस प्रकार चिकित्सक की फीस चुका देता है तो वह अपने आपको प्रमाणित रोगी मानने लगता है। इस प्रमाणिकता के परिणाम-स्वरूप उसके रोग का प्रसार होता है। दिन प्रतिदिन उसके सम्बन्ध में सोचते रहने के कारण रोग भारी हो जाता है। अतएव नई चिकित्सा विधि के प्रयोगकर्त्ता को आवश्यक है कि वह इस प्रकार का कोई सार्टिफिकेट रोगी को न दे। वह किसी रोगी से रोग के निदान के लिए किसी प्रकार की फीस न ले। कितने ही मानसिक चिकित्सक रोगी से अनेक प्रकार की पूछ-ताछ करके उसके रोग का नामकरण कर देते हैं। बस इसी काम के लिए वे १६) या ३२) फीस ले लेते हैं। लेखक के पास आनेवाले मानसिक रोगी ने अपने रोग का नाम 'साइकोन्यूरोसिस' धराने के लिये १६) फीस दी थी। यदि किसी धनी मानसिक रोगी से इस प्रकार फीस न ली जाय तो बहुत सम्भव है कि वह चिकित्सक की सलाह को कोई महत्त्व ही न दे, किन्तु धनी लोगों के लिए डाक्टर लोग बने ही हुए हैं। धनी लोगों की चिकित्सा उन्हें देर तक रोगी बनाये रखने से ही भली प्रकार होती है।

धन के कारण मनुष्य के मन में जो अनेक प्रकार की दुर्भावनायें आ जाती हैं उनका परिष्कार कष्ट सहे बिना नहीं होता। सामान्य लोग उपचार हेतु अधिक पैसा नहीं दे सकते हैं। ऐसे लोग पहले तो बहुत कम मानसिक रोगी होते हैं और यदि मानसिक रोगी भी हुए तो मन को दूसरों के सद् निर्देशों के लिए खुला रखते हैं। रोग के निदान के लिए रोगी से भारी फीस न लेना रोग को मिटा देने का पहला उपाय है।

पर रोग के निदान के लिये पैसा न लेने का अर्थ यह नहीं कि रोगी से कुछ भी खर्च न कराया जाय। रोगी जब तक कुछ त्याग और तपस्या नहीं करता और जब तक उसके मन में उदारता के भाव नहीं आते, उसका स्वास्थ्यलाभ करना असम्भव है। मनुष्य मानसिक रोग का शिकार पीछे होता है, वह नैतिकता और उदारता के स्तर के नीचे पहले चला जाता है। यदि यह कहा जाय कि मनुष्य के अधिक रोगों का कारण उसकी स्वार्थ बुद्धि या, उसके अनुदार विचार हैं तो अत्युक्ति न होगी। मनुष्य जब कोई ऐसा काम कर बैठता है जिसे जनसाधारण से छिपाने की आवश्यकता होती है, तो वह रोग का शिकार होता है। जिस प्रकार वह अपने कुकृत्य को दूसरों से छिपाना चाहता है उसी प्रकार उसे अपने आप से भी छिपाने की प्रवृति भी उठती है। फिर आत्म-स्वीकृति कराने के लिये मानसिक रोग की उपस्थिति होती है। यह पाप का प्रायश्चित है जो प्रकृति मनुष्य से करवाती है। अब यदि हम रोगी को उदार बना देते हैं और उसके मन में त्याग और आत्म-संयम की भावना को जाग्रत कर देते हैं, तो हम उस प्रवृत्ति को ही नष्ट कर देते हैं जिसके कारण रोग उत्पन्न हुआ है। इसके लिये रोगी से प्रारम्भ में ही लोक सेवा कराना, संयम के प्रति निष्ठा बढ़ाना आवश्यक है।

पर इसके लिये यह भी आवश्यक है कि लोकसेवा और आत्म-संयम मानसिक चिकित्सक में प्रबल हो। जिस प्रकार शारीरिक रोग संक्रामक होता है उसी प्रकार मानसिक रोग भी संक्रामक

होता है लोभी और स्वार्थी मनुष्य के सम्पर्क में आने से लोभ और स्वार्थ की भावनायें बढ़ती हैं, और उदार, लोकसेवी मनुष्य के सम्पर्क से उदारता और प्रेम की भावनायें जाग्रत होती हैं। अतएव यदि चिकित्सक स्वयं एक त्यागी लोकसेवक व्यक्ति है तो वह रोगी के विचारों में भी परिवर्तन ले आता है। आचरण की शिक्षा उपदेश को शिक्षा से कहीं अधिक प्रभावशाली होती है। उदार चिकित्सक का आचरण रोगी के मन में उदार विचारों का संचार करता है। इससे रोगी को अनायास स्वास्थ्य लाभ होता है। कभी कभी मनुष्य की आत्मा अपनी बुराइयों को मान लेती है और उनसे मुक्त होने की चेष्टा भी करती है, पर उन से मुक्त होने का भरोसा उसमें नहीं होता; अतएव व्यक्ति उनसे मुक्त होने का प्रयत्न ही नहीं करता। जब वह एक अपने जैसे व्यक्ति को उन्हीं बुराइयों से मुक्त होते हुए देखता है तो उसमें भी हिम्मत आ जाती है और वह रोग से मुक्त भी हो जाता है।

सत्संग-चिकित्सा-विधि में रोगी का जो उपचार होता है उसमें रोगी से ऐसा व्यवहार किया जाता है मानों वह स्वस्थ व्यक्ति है। ये स्वास्थ्य के निर्देश रोगी को स्वस्थ बना देते हैं। चिकित्सक सोचता है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रोग से पीड़ित रहता है, अतएव प्रस्तुत व्यक्ति का रोग कोई विशेष बात नहीं है। रोगी के साथ चिकित्सक आध्यात्मिक सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करता है। वह उसके साथ बड़ी ही सहानुभूति का बर्ताव करता है। रोगी के प्रति प्रेम का व्यवहार चिकित्सक के सामने अपने आप को खोलने में रोगी की सहायता करता है। इस चिकित्सा-विधि में उस प्रकार की लुका-छिपी का खेल नहीं होता जैसा मनोविश्लेषण-क्रिया में होता है। मनोविश्लेषण के समय रोगी की मानसिक अवस्था खिंचाव की रहती। सत्संग चिकित्सा विधि में इस खिंचाव का अन्त हो जाता है।

मानसिक चिकित्सा की अन्य विधियों में रोगी चिकित्सक के पास लाया जाता है। स्वयं रोगी में यह निर्णय करने की शक्ति नहीं रहती

कि वह अपना भला बुरा समझ सके। उसे डाक्टरों का आना प्रायः बुरा लगता है। रोगी वास्तव में रोगी रहना चाहता है, इसलिये वह रोग का शिकार बना रहता है। ऊपर से रोगी कराहता रहता है पर भीतर से वह रोग सहने के लिए भी उत्सुक रहता है। इस से वह दूसरों की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है जिस की उसे आवश्यकता है। विधवाओं को तरह तरह के शारीरिक और मानसिक रोग प्रायः इसी लिये होते हैं। जब तक वे रोगी नहीं पड़ जातीं तब तक उनकी बात कोई नहीं सुनता। इसी प्रकार घर में जिस स्त्री का अपमान बार बार होते रहता है वह भी मानसिक रोग अथवा शारीरिक रोग से पीड़ित हो जाती है।

सतसंग चिकित्सा विधि में दूसरों के बुलाने पर नहीं वरन् स्वयं रोगी के चिकित्सक बुलाने पर वह उसकी चिकित्सा करता है। जब रोगी किसी रोग से परेशान हो जाता है तो फिर न केवल उसका बाहरी मन अपितु उसका अचेतन मन भी रोग को हटाने के लिये उत्सुक हो जाता है। फिर वह उचित चिकित्सक की शरण लेता है। ऐसे चिकित्सक की प्रत्येक बात उसे बड़ी महत्वपूर्ण मालूम होती है। वह उसके आदेशों का बड़ी तत्परता से पालन करता है। इससे उसके स्वभाव में मौलिक परिवर्तन हो जाता है और धीरे धीरे वह स्वस्थ हो जाता है। अपने आप द्वारा बुलाये गये डाक्टर से रोगी को दूसरों के द्वारा बुलाये गये डाक्टर की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। यदि स्वयं रोगी डाक्टर तक पहुँच जाय तो और भी अच्छा है। इससे रोगी के शुभ आत्म-निर्देश डाक्टर की चिकित्सा में सहायक होते हैं।

जब कोई चिकित्सक मानसिक रोगी के पास घर के किसी व्यक्ति के बुलाने पर जाता है तो प्रायः रोगी के जो भाव उस बुलाने वाले व्यक्ति के प्रति होते हैं वही चिकित्सक के प्रति भी हो जाते हैं। मानसिक रोगों का एक प्रमुख कारण घर के मुख्य व्यक्ति के प्रति असन्तोष होता है। इस असन्तोष के भाव का दमन होने के कारण उसे स्वयं रोगी

ही इसे नहीं जानता। इतना ही नहीं कभी कभी रोगी के व्यवहार में इस प्रमुख व्यक्ति के प्रति अत्यधिक श्रद्धा पाई जाती है। यदि रोगी से कहा जाय कि उसकी इस प्रमुख व्यक्ति से मैत्री भावना नहीं है तो वह इसे स्वीकार नहीं करेगा, वरन चिढ़ जायेगा। वह जानता है कि उसके और घर के प्रमुख व्यक्ति के बीच कोई द्वेष-भावना नही है। वास्तव में यह भावना उसके अचेतन मन में रहती है। यह भावना चिकित्सक के प्रति उसी प्रकार आरोपित हा जाती है जिस प्रकार वह घर के प्रमुख व्यक्ति के प्रति रहती है। इस प्रकार आरम्भ से ही मानसिक चिकित्सा में बाधा उत्पन्न हो जाती है। जब रोगी स्वयं चिकित्सक को बुलाता है तो यह बाधा नहीं रहती। रोगी की आन्तरिक इच्छा के प्रतिकूल जब कोई चिकित्सक उसकी चिकित्सा करता है तो रोग और भी बढ़ जाता है। यदि चिकित्सक कहे कि रोगी को कोई वास्तविक रोग नहीं है तो उसे वास्तविक रोग भी हो जाता है। इस प्रकार आन्तरिक इच्छा के प्रतिकूल चिकित्सा करने से रोग दिन प्रतिदिन बढ़ते जाता हैं। इस प्रसंग में एक उदाहरण उल्लेखनीय है -

एक महिला को वमन की बीमारी हुई। इसका कोई शारीरिक कारण न था। इस रोग की चिकित्सा लेखक के एक मित्र ने प्रारम्भ की। महिला का रोग इससे और भी बढ़ता गया। साथ साथ चिकित्सक के प्रति महिला के मन में द्वेष भाव उत्पन्न हो गया। यह भाव इतना प्रबल हो गया कि वह अपने पति का घर छोड़कर नैहर चली गई। फिर वह उस स्थान पर कभी भी न गई। महिला के पति उस संस्था के नौकर थे जिसके प्रमुख अधिकारी चिकित्सक महोदय थे। स्त्री ने जब नौकरी के स्थान पर आने से बिलकुल इन्कार कर दिया तो पति महोदय को उस नौकरी को ही छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार महिला अपनी चिकित्सा से अपने आपको बचने की हठ में समर्थ हुई।

यहाँ हम देखते हैं कि महिला को दबी हुई द्वेष की भावना चिकित्सक के प्रति ही आरोपित हो गई। वास्तव में यह द्वेष-भावना पति के प्रति थी। महिला का चेतन मन इसे नहीं जानता था। जो

व्यक्ति इस प्रकार की भावना को खोदने का प्रयत्न करता है वह उसी के प्रति आरोपित हो जाती है। पति के प्रति वह द्वेष-भावना अप्रत्यक्ष थी किन्तु चिकित्सक के प्रति वह प्रत्यक्ष रुप से हो गई। इसके कारण महिला का रोग बढ़ गया और पति को अपनी नौकरी भी छोड़ देनी पड़ी।

लेखक द्वारा चिकित्सा किये गये एक मानसिक रोगी का रोग इसीलिये बढ़ता गया कि उसके पिता उसकी चिकित्सा एक होमियो-पैथिक डाक्टर के द्वारा कराते थे। पहले यह रोगी जीवन से कुछ उदासीन रहता था। उसका मन किसी काम में नहीं लगता था। पिता के आग्रह के अनुसार उसकी होमियोपैथिक चिकित्सा आरम्भ हुई। फिर उस का रोग बढ़ने लगा। अब उसे चलने फिरने में कठिनाई का अनुभव होने लगा। इसे दूर करने के लिये रोगी की मालिश की जाने लगी। रोगी न तो किसी प्रकार की दवा खाना चाहता था और न वह मालिश ही कराना चाहता था। पर दवा उसकी इच्छा के प्रतिकूल दी जाने लगी, इसी प्रकार चार मनुष्य पकड़कर बरबस उसकी मालिश करने लगे। इस के परिणाम स्वरूप उसे पेट का रोग उत्पन्न हो गया। वह बिल्कुल चल फिर नहीं सकता था। अब उसे पानी में मिला कर धोखे से होमियोपैथिक दवा पिलाई जाने लगी। डाक्टर का विश्वास था कि यदि किसी भी प्रकार उसके पेट में दवा जायेगी तो अवश्य ही लाभ पहुँचावेगी। पर इसके कारण रोगी को सभी प्रकार के पेय पदार्थों के प्रति सन्देह का भाव उत्पन्न हो गया। उसके मन में विचार आने लगा कि उसे जहर दिया जा रहा है। अतएव वह अपने सामने ही निकाला हुआ कुएँ का पानी पीने लगा। दूध भी सामने ही लगवा कर पीता था। पर इस प्रकार उसे पानी और दूध कोई कहाँ तक देता। अब उसे भारी मानसिक परेशानी होने लगी। वह कभी कभी कीमती बर्तन जमीन पर पटक देता था। डाक्टर ने भी अपनी जिद न छोड़ी। अन्त में रोगी को अनिद्रा का रोग हो गया। जिस समय लेखक रोगी से मिला वह तीन चार दिन से ठीक से नहीं सो पाया था।

रोगी का लेखक के प्रति पहले से ही मैत्रीभाव था। रोगी के पिता से लेखक की मैत्री अवश्य थी, किन्तु उससे अधिक मैत्री स्वयं रोगी से थी। लेखक इस रोगी के पास चिकित्सक के रूप में न जाकर मित्र के ही रूप में गया। उसने पहले पहल घर के लोगों को, विशेष कर पिता को समझाया कि रोगी को वास्तविक शारीरिक पीड़ा होती है। शरीर में चाहे क्षति हो अथवा न हो मानसिक रोगी शारीरिक पीड़ा का अनुभव उसी प्रकार करता है जिस प्रकार वास्तविक रोग वाला व्यक्ति। इस प्रकार धीरे धीरे रोगी के प्रति उसके पिता के विचार बदलने में लेखक समर्थ हुआ। इसे देखकर रोगी का विश्वास लेखक के प्रति और भी बढ़ गया। फिर रोगी उनसे अनेक प्रकार के काम वासना सम्बन्धी प्रश्न पूछे। इन प्रश्नों का धीरे धीरे उत्तर दिया गया। जैसे जैसे रोगी की शंकाये निवृत होती गई उसका रोग नष्ट होता गया।

इसी बीच रोगी की उसकी इच्छा के प्रतिकूल एक मानसिक चिकित्सागृह भेजा गया। यहाँ रोगी को उसकी इच्छा के विरुद्ध टहलाया जाता था और प्रार्थना में उपस्थित किया जाता था। अब उसका रोग कम तो होता गया, क्यों कि उसकी जड़ अर्थात् मानसिक ग्रन्थि शंकाओं के समाधान से ही नष्ट हो चुकी थी, पर रोगी का उक्त चिकित्सागृह के प्रति बड़ी घृणा का भाव हो गया।

मनोविश्लेषण और निर्देश की तुलनात्मक उपयोगिता

किसी भी मानसिक रोगी को आरोग्य लाभ कराने में मनोविश्लेषण और निर्देश दोनों ही लाभकारी होते हैं। इमील कुए रोगियों को आरोग्य प्रदान करने में केवल निर्देश विधि का ही प्रयोग करते थे। वे न तो विश्लेषण विधि को जानते थे और न इस प्रकार की विधि को वे मानसिक चिकित्सा में उपयोगी समझते थे। वे रोगी से उसके रोग के बारे में अधिक पूछ ताछ नहीं करते थे। यदि कोई रोगी अपने रोग के बारे में अधिक वर्णन करता तो वे उससे कहते थे कि तुम अपने रोग का कहां तक ध्यान करोगे। उनका विचार था कि रोग के बारे में

रोगी का अधिक चिन्तन करना, उसकी प्रत्येक बात को पूरी पूरी तरह से अध्ययन करना, उसे स्थिर बनाने का मार्ग है। इससे रोगी को उसका रोग भारी दिखाई देने लगता है और फिर वह जल्दी से उसे नहीं छोड़ता। रोग की स्थिरता और भयंकरता उसकी भावना में रहती है। रोग भारी ही हो, परन्तु यदि रोगी उसके विषय में लापरवाही का भाव रखे, उसके विषय में अधिक चिन्तित न हो, तो रोग रोगी को जल्दी छोड़ दे। रोग को विस्मरण करने से ही रोग जाता है। रोग चाहे मानसिक हो अथवा शारीरिक, पहले उसे विचार से निकलना होगा, पीछे वह वास्तव में जायगा। अतएव इमील महाशय किसी भी रोगी से उसके रोग के विषय में अधिक पूछ ताछ नहीं करते थे।

हमारे देश के कुछ मानसिक चिकित्सक भी इमील कूये के समान रोगी से उनके रोग के बारे में पूछ ताछ नहीं करते। उज्जैन के कल्पवृक्ष आश्रम में जो मानसिक चिकित्सा होती है उसमें रोगी से उसके रोग के बारे में अधिक पूछ ताछ नहीं की जाती। उसके विचारों को बदलने की चेष्टा मात्र की जाती है। यहाँ पर रोगी नये वातावरण में कुछ दिनों तक रखा जाता है। प्रतिदिन प्रार्थना, प्रवचन, धार्मिक चर्चा आदि होती है। इसमें रोगी को बैठाला जाता है। रोगी को को आरोग्य का निर्देश चिकित्सक महाशय देते हैं। फिर आश्रम का वातावरण भी मानसिक आरोग्य की प्राप्ति के अनुकूल होता है। कुछ रोगियों को लाभ होता है; उनकी चर्चा रोगी सुनता है। इसलिए उसके मन में भी आशा में बढ़ जाती है। इस तरह कुछ दिनों तक आश्रम में रहने से और प्रतिदिन की प्रार्थना, प्रवचन, आदि सुनने से रोगी को लाभ होता है।

लखनऊ के श्री दीपनारायण सिंह भी निर्देश विधि से बहुत से रोगियों की चिकित्सा करते हैं। वे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोगों की चिकित्सा करते हैं। लखनऊ के लोग इन्हें गर्दन तोड़ डाक्टर कहते हैं। इनका जीवन बड़ा ही सात्विक है। वे अपनी चिकित्सा के लिए रोगियों से किसी प्रकार की फीस नहीं

लेते। जब कोई रोगी इनके पास जाता है तो वे उससे केवल घर वगैरह का ही परिचय पूछते हैं। रोग क्या है इतना ही रोगी कह पाता है। जब रोगी अपने रोग का पूरा वर्णन करने लगता है तो वह कहते हैं "हम समझ गए"। इस प्रकार वे रोगी को अपने रोग के विषय में अधिक परिचय देने से रोक देते हैं। दीपनारायण जी के आश्रम में उसी प्रकार रोगियों की भीड़ सी रहती है जिस प्रकार कल्पवृक्ष आश्रम में। दीपनारायण जी सभी रोगियों को एक साथ खड़ा करते हैं और उनके गले को एक एक करके पकड़ कर दबाते हैं। कभी कभी एक ही व्यक्ति को अकेले में इसी प्रकार गले पकड़ कर दबाया जाता है। इसके परिणाम स्वरूप रोगी संमोहित सा हो जाता है। वह अपने शरीर को भी नहीं सम्हाल सकता। प्रति दिन के गले पकड़ने में देर नहीं होता। इसी चिकित्सा के लिये रोगी कई दिन तक नियम पूर्वक आते हैं। रोगियों को एक शीशा में दवा भी दी जाती है। इस दवा का दाम बहुत थोड़ा होता है। दवा खट्टी खट्टी सी होती है। प्रायः सभी प्रकार के रोगों को दवा एक सी ही दी जाती है। जब कम्पाउन्डर दवा दे देता है तो चिकित्सक उस शीशी को एक अंगुली से छू लेते हैं। इसे कहा जाता है कि दवा में बिजली डाल दी गई। विना बिजली की शक्ति डाले कोई भी दवा उपयोगी नहीं समझी जाती। बिजली दवा में प्रति दिन डालवानी पड़ती है। यदि दवा पन्द्रह दिन के लिये दे दी गई तो उसमें बिजली डलवाने के लिये किसी व्यक्ति को रोज भिजवाना पड़ता है।

उक्त चिकित्सा से बहुत से मानसिक और शारीरिक रोगी अच्छे हो जाते हैं। परन्तु आलोचनात्मक मनोवृत्ति के लोगों को इस प्रकार की चिकित्सा से लाभ नहीं होता। जो लोग श्री दीपनारायण सिंह जी के पास संशयात्मक मनोवृत्ति से जाते हैं और उनकी चिकित्सा के रहस्य को समझना चाहते हैं, उन्हें अपने रोग में कोई लाभ नहीं होता। लेखक के एक मित्र जो एक विश्वविद्यालय के एक विभाग के अध्यक्ष हैं अपने कमर के दर्द की चिकित्सा के लिये श्री

द्वीपनारायण जी के पास गये। वे पूरे दिन उनके पास जाते रहे, पर उन्हें कोई लाभ न हुआ। संभव है कि उनका रोग केवल शरीरिक हो। जिस रोग की जड़ किसी प्रकार की मानसिक भावना में होती मानसिक उपचार से उसमें अधिक लाभ होता है। परन्तु निर्देश विधि से शरीरिक रोग को भी लाभ पहुँचाया जा सकता है। कम से कम किसी रोग की पीड़ा को तो निर्देश विधि से हटाया जा सकता है।

निर्देशक के प्रति संशयात्मक और अलोचनात्मक मनोवृत्ति रखने से कभी कभी रोग बढ़ जाता है। लेखक के एक मित्र को दमा का रोग बहुत दिन से है। लेखक के देहाती घर के पास ही एक महन्त रहते हैं। ये रोगी को विशेष प्रकार की खीर कार्तिक की पूर्णिमा को खिला कर उसका रोग अच्छा करते हैं। बहुत से रोगी इस दिन आते हैं और अपनी चिकित्सा कराते हैं। लेखक का मित्र भी उसी दिन उनके पास गया। परन्तु उसे भय था कि कहीं उसका रोग और भी बढ़ न जाय। अतएव खीर खाने के बाद से ही इस मित्र को दमा के साथ साथ पेट में गर्मी का अनुभव करने का भी रोग लग गया। खीर में बहुत से गरम पदार्थ डाले जाते हैं। रोगी को इसका ज्ञान हो गया था, अतएव अपनी भावना के अनुसार उसे उक्त उपचार से फल मिला।

केवल निर्देश विधि से उपचार करने की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि रोग सब समय के लिये रोगी को नहीं छोड़ता। देखा गया है कि रोगियों को इस विधि से कुछ समय के लिये लाभ हो जाता है। परन्तु उन्हें बराबर निर्देशक के पास जाना पड़ता है। इससे यह ज्ञात होता है कि रोगी का रोग जड़ से नष्ट नहीं होता है।

उक्त स्थिति का ज्ञान फ्रायड महाशय को भली प्रकार से हो था। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि रोग के कारण को भली प्रकार से जानना ही आवश्यक है। रोग का कारण जानने के प्रयत्न में फ्रायड महाशय ने मनोविश्लेषण विज्ञान का आविष्कार कर डाला। मनोविश्लेषण क्रिया एक ओर रोग का कारण खोजने की विधि है

और दूसरी ओर रोग के उपचार की भी विधि है। रोगी के मनोविश्लेषण से रोग का वास्तविक कारण ज्ञात हो जाता है। रोगी की आन्तरिक तहों को चेतना की सतह पर लाने के प्रयत्न से उसके दबे मनोविकारों का रेचन भी हो जाता है। रोग का विनाश मनोविश्लेषक द्वारा रोग का कारण मात्र जानने से नहीं होता। उसका विनाश रोगी के अपने रोग के कारण जानने और अपनी दबी भावना को मानसिक सतह पर लाने से होता है। मनोविश्लेषक रोगी को सम्मोहित करके रोग का कारण जान ले सकता है। परन्तु इस प्रकार रोग का विनाश नहीं होता। संमोहन की अवस्था अचेतन मन की अवस्था है। संमोहन की अवस्था में जो कुछ रोगी करता, कहता, सुनता है उसका ज्ञान उसकी साधारण चेतना को नहीं होता। रोग साधारण चेतन की वस्तु है। अतएव जबतक अचेतन मन के भावों का रेचन और चेतन मन से दबे भावों का एकीकरण नहीं होता रोग का अन्त नहीं होता। इसके लिये रोगी से धीरे बात-चीत करते करते रोग का कारण खोजना चाहिये। जैसे जैसे रोगी अपनी आत्म-कथा कहते जाता है और अपने भावात्मक अनुभवों को स्मरण करते जाता है उसके मानसिक विकारों का रेचन होते जाता है और उसके मन के भीतरी और बाहरी भागों में एकता स्थापित होती जाती है। मानसिक एकता स्थापित होते ही रोग का विनाश होता है।

किसी भी मानसिक रोग का विनाश एकाएक नहीं होता। मानसिक विकार का रेचन धीरे धीरे होता है, अतएव कई दिनों तक रोगी को मानसिक चिकित्सक के पास आना पड़ता है। किसी दिन उसके रोग से सम्बन्ध रखनेवाली एक बात बाहर निकल आती है और किसी दिन दूसरी।

चिकित्सक को रोगी की विशेष आदतों, उसकी सांकेतिक चेष्टाओं, और विभिन्न लोगों से उसके सम्बन्ध का ज्ञान करना पड़ता है। उसे रोगी के स्वप्नों का भी अध्ययन करना पड़ता है। फिर रोगी के द्वारा उसे अपने निष्कर्ष को स्वीकृत कराना पड़ता है। जब तक स्वयं रोगी

ही किसी रोग के लक्षण के अर्थ को स्वीकार नहीं करता तब तक उस अर्थ को ठीक मानना अनुचित है। इसी तरह किसी स्वप्न का अर्थ तबतक ठीक नहीं माना जा सकता जबतक कि स्वयं रोगी उसे ठीक नहीं समझता। स्वप्न का ठीक अर्थ लगाने में दो प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं—एक रोगी का अपने आप को न खोलने की इच्छा और दूसरे चिकित्सक की अपनी पूर्व मान्यतायें। जब धीरे धीरे रोगी चिकित्सक के समक्ष अपने आप को खोलने लगता है और वह अपनी सभी आत्मग्लानि उत्पन्न करनेवाली बातों को चिकित्सक के समक्ष कहता है तो उसका रोग शान्त होने लगता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या रोगी को उसके मनोविश्लेषण मात्र से आरोग्य लाभ होता है अथवा इस कार्य में चिकित्सक के अनजाने निर्देश भी काम करता है। मनोविज्ञान के महान पंडित मेगडूगल महाशय का अपनी एबनारमल साइकॉलॉजी में कथन है कि रोगी को जो आरोग्य लाभ होता है उसमें प्रधान कार्य निर्देश का ही होता है। उन्हों ने सारी मनोविश्लेषण विधि की उपयोगिता इसी बात में बताई कि इसके द्वारा रोगी को चिकित्सक सफल निर्देश दे सकता है। किसी की मनोभाव के रेचन मात्र से आरोग्य लाभ नहीं हो जाता। आरोग्य लाभ के लिये रोगी को अपने पुराने अनुभव पर फिर से विचार करना पड़ता है। वह पहले जिन समस्याओं को हल करने से अपना जी चुराता था उन्हें उसे हल करना पड़ता है। ये समस्यायें सोच-विचार कर ही हल की जा सकती हैं, अतएव भूली समस्याओं को चेतना की सतह पर लाना नितांत आवश्यक है। परन्तु यदि कोई मनुष्य केवल दबे भावों के रेचन से स्थायी लाभ की आशा करे तो यह व्यर्थ होगा। अपने उस अनुभव पर बार-बार चिन्तन करने से जिसे हम भुलाना चाहते हैं मन के विभिन्न भागों में एकता स्थापित होती है।

मनोविश्लेषक के द्वारा जो लाभ होता है वह वास्तव में उसके सन्निर्देश का लाभ है। मेकड़गल महाशय का कथन है कि जब

हम किसी व्यक्ति के जीवन में इतनी रुचि दिखाते हैं कि उसके घर की और उसके सभी अनुभवों की बातों को जानने की चेष्टा करते हैं तो हम उसके मन पर विशेष प्रकार का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमारी गुप्त से गुप्त बात को मान ले ले तो वह हमारे मन को इधर से उधर घुमाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जब रोगी चिकित्सक को अपने सभी पुराने गुप्त अनुभव कहता है, जब वह अपने स्वप्नों को सुनाता है और उनके ऐसे अर्थ के प्रति भी आत्मस्वीकृति देता है जो सभी के समक्ष नहीं कहे जा सकते तो वह अपने आप को भावात्मक दृष्टि से चिकित्सक पर निर्भर कर देता है। जिस व्यक्ति से हम अपनी सभी कमजोरियाँ बता देते हैं उससे हमें विशेष प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध हो जाता है। अब यदि यह चिकित्सक परोपकारी चरित्रवान् व्यक्ति हो और हमारी श्रद्धा का पूरा पात्र हो तो वह और भी हमारे मन पर अधिकार कर लेता है। ऐसा व्यक्ति जब हमें भला सुझाव देता है तो हम उसे तुरंत ग्रहण कर लेते हैं।

मानसिक रोगी की हँसी उड़ाने वाले, उसे नीचा दिखाने वाले सभी लोग होते हैं, उसके प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाने वाले बहुत कम लोग होते हैं। यदि कोई विरला व्यक्ति उसे सच्ची सहानुभूति दिखावे तो वह उसे देवतारूप ही दिखाई देता है ऐसे व्यक्ति का निर्देश रोगी सरलता से ग्रहण कर लेता है। कोई भी चिकित्सक जब रोगी को अपने हाथ में लेता है तो वह उसे आरोग्य प्रदान करने की भावना रखता है। अब यदि चिकित्सक का व्यक्तित्व प्रभावशाली हुआ तो उसकी भावना शीघ्र ही कार्यान्वित होने लगती है। जो चिकित्सक रोगी को दुर्लभ होता है वह साधारण चिकित्सकों की अपेक्षा रोगी को अधिक लाभ पहुँचा सकता है। यहाँ निर्देश ही रोग के विनाश का कारण होता है। रोगी के मन पर प्रभाव पड़ने के लिये न केवल यह आवश्यक है कि रोगी एक बार सच्चे मन से चिकित्सक से अपनी पूरी बात कह दे, परन्तु वह कई बार चिकित्सक

के पास अपनी गाथा सुनाने के लिये आवे। प्रति दिन इस प्रकार आने से रोगी की चिकित्सक के प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है। इसके साथ साथ चिकित्सक का रोगी के मन पर प्रभाव भी बढ़ता जाता है। ऐसी अवस्था में चिकित्सक रोगी को जो निर्देश देता है वह प्रभाव कारी होता है।

चिकित्सक जितना ही अधिक रोगी के लिये कष्ट उठावेगा रोगी का लाभ भी उतना ही अधिक होगा। रोगी का मनोविश्लेषण करते करते रोगी के भावों का चिकित्सक पर ही आरोपण हो जाता है। इन भावों के आरोपित होने से रोगी की चिकित्सक के प्रति विशेष प्रकार की प्रीति हो जाती है। इस प्रक्रिया को भावों का स्थानान्तरण (ट्रान्सफरेन्स) की क्रिया कहा जाता है। बिना इस प्रकार के स्थानान्तरण (ट्रान्सफरेन्स) के आरोग्य लाभ नहीं होता। परन्तु इस प्रकार भावों के स्थानान्तरण का एक परिणाम यह भी होता है कि रोगी के मनपर चिकित्सक की बातों का प्रभाव बढ़ जाता है और फिर जैसा जैसा रोगी को चिकित्सक सुझाते जाता है वैसे वैसे रोगी अपने रोग के विषय में सोचने लगता है। चिकित्सक रोगी को विश्वास के साथ कहता रहता है कि वह अब धीरे धीरे अच्छा हो रहा है तो रोगी का आन्तरिक मन भी इसी प्रकार सोचने लगता है। इस तरह रोग का अन्त हो जाता है।

यहाँ हम देखते हैं कि जिस प्रकार सामान्य रोगों के निराकरण में चिकित्सक की सद्भावना रोगी को आरोग्य प्रदान करने में लाभकारी होती है उसी प्रकार मानसिक रोगी के प्रति चिकित्सक की सद्भावना रोगी के आरोग्य लाभ करने में सहायक होती है। इस भावना को रोगी के आन्तरिक मन की वस्तु बन जाना चाहिये। प्रतिदिन अपने मन में रोगी के लिये शुभ भावना लाने से रोगी का निश्चित रूप से लाभ होता है। भगवान बुद्ध ने रोगी को आरोग्य प्रदान करने में मैत्रीभावना की महत्ता दर्शायी है। यदि बहुत लोग किसी व्यक्ति के बारे में बार बार सोचें कि वह

आरोग्य लाभ करे तो वह वास्तव में आरोग्य लाभ करता है। इसी प्रकार यदि प्रबल व्यक्तित्व का कोई एक ही व्यक्ति, जिसके प्रति रोगी की श्रद्धा है, उसे आरोग्य प्रदान करने के विचार मन में लाता है तो रोगी को आरोग्य लाभ अवश्य होता है। मानसिक चिकित्सक एक प्रभाव शाली व्यक्ति की स्थिति में रहता है; जब वह पूरे मन से किसी रोगी का कल्याण करना चाहता है और इसके लिये उस के जीवन की विभिन्न बातों को जानने की चेष्टा करता है तो रोगी को लाभ अवश्य होता है।

रोगी को वास्तविक लाभ कराने के लिये उसके प्रति भली भावना मन में लाना नितांत आवश्यक है। जो व्यक्ति धार्मिक बुद्धि से मानसिक चिकित्सा का कार्य करता है वह रोगी के आरोग्य लाभ करने में अवश्य ही सहायक होता है। कितने ही मनोविश्लेषक रोगी की मानसिक चिकित्सा में सफल नहीं होते और कितने ही रोग को और भी बढ़ा देते हैं। इसका कारण कुछ तो चिकित्सक को रोगी से बातचीत करने में असावधानी तथा अपने विज्ञान का पूरा ज्ञान न होना है और कुछ रोगी के प्रति उचित दृष्टिकोण का अभाव है। मनोविश्लेषक का दृष्टिकोण प्रायः जड़वादी और शुद्ध वैज्ञानिक होता है। फिर वह रोग का कारण किसी अनैतिक गन्दी भावना में खोजने की चेष्टा करता है। उसकी धारणा रहती है कि रोगी जैसा बाहर से दिखता है भीतर से नहीं है। अतएव जब वह उक्त दृष्टि से उसके भीतरी मनकी खोद विनोद करने लगता है तो रोगी उससे सतर्क हो जाता है। कोई भी व्यक्ति जैसा वह बाहर से है अपने आपको उससे अधिक बुरा जानना पसन्द नहीं करता। किसी भी व्यक्ति से अपनी नैतिक गंदगी स्वीकार कराना बड़ा कठिन काम है। यह तभी हो सकता है जब स्वयं मानसिक चिकित्सक अपने आप को रोगी के समक्ष खोले और इस प्रकार वह उसे आत्म-स्वीकृति कराने में प्रोत्साहित करे।

पर रोगी को अपनी कमजोरियों का ज्ञान कराने मात्र से रोग का अन्त नहीं हो जाता। रोग का अन्त करने के लिये यह ज्ञान

कराना आवश्यक है कि उसकी कमजोरियाँ उसके सम्पूर्ण स्वत्व का क्षुद्र भाग हैं। इस प्रकार की कमजोरियां सभी लोगों में होती हैं और जैसी भूलें उसने कीं, सभी लोग करते हैं, पर वे भूलें उनकी महानता में बाधक नहीं बनतीं। अपनी पुरानी भूलों को स्वीकार करने से उनके दुष्परिणाम का अन्त हो जाता है।

जब कोई मनोविश्लेषक अपने समीप आये प्रत्येक रोगी को दैवी पुरुष मानता है तो वह रोगी की आरोग्य लाभ करने की शक्ति को बढ़ा देता है। हम दूसरे व्यक्ति के बारे में जैसा अपने आन्तरिक मन से सोचते हैं, दूसरा व्यक्ति भी अपने आन्तरिक मन में अपने विषय में उसी प्रकार से सोचने लगता है। यदि किसी के बारे में बार बार सोचा जाय कि वह शैतान है तो वह शैतान ही बन जायगा और यदि उसके बारे में बार बार सोचा जाय कि वह दैविक पुरुष है तो वह वैसा ही बन जायगा। जहाँ तक रोगी के प्रति हमारा प्रेम है और जहाँ तक रोगी की श्रद्धा हमारे ऊपर है वहाँ तक हमारे बिचार प्रभावशाली होते हैं। पर प्रेम और श्रद्धा के पारस्परिक भावों का उदय तभी होता है जब कि चिकित्सक रोगी को भला व्यक्ति माने और वह रोग का कारण किसी दुर्वासना को न मान कर रोगी की प्रगत्यात्मक प्रवृति को ही माने।

मानसिक रोग प्रायः उन्हीं लोगों को होते हैं जिन में प्रतिभा रहती है और जिन से संसार का लाभ होता है। सामान्य लोग पाशविक जीवन व्यतीत करते रहते हैं। उनके मन में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व ही नहीं होता। अन्तर्द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप ही मानसिक बिकास होता है। अतएव यदि कोई चिकित्सक मानसिक रोगी को दैवी पुरुष मानता है और उसके रोग को उसके दोष का लक्षण न मानकर उसके गुण का लक्षण मानता है तो वह उसे स्वास्थ्य लाभ कराने में सफल होता है।

मानसिक रोगी के विचार नकारात्मक होते हैं। मानसिक चिकित्सक उसके विचार रचनात्मक बनाता है। मानसिक रोगी में आत्म-

विश्वास की कमी होती है। रोगी में आत्म-विश्वास उत्पन्न कराने का कर्तव्य मानसिक चिकित्सक का होता है। वह इस कार्य को रोगी से बातचीत करके उसकी गुप्त बातों के बारे में पूछ पाछ करके, उससे कुछ क्रियायें कराकर पूरा करता है। चिकित्सक के व्यक्तित्व के प्रभाव से भी रोगी में आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है। यदि चिकित्सक कठिनाइयों के पड़ने पर अनुद्विग्न मन रहता है, यदि उसे काम, क्रोध, लोभ आदि चलायमान नहीं करते तो रोगी के मन में भी धैर्य आता है। जब ऐसा व्यक्ति किसी प्रकार का निर्देश रोगी को देता है तो उसका निर्देश रोगी का कल्याण करता है।

बाइसवाँ प्रकरण

विकासोन्मुख जीवन और आरोग्य

प्राकृतिक पदार्थों की गतिशीलता

जिस व्यक्ति का जीवन विकासोन्मुख रहता है वही मानसिक आरोग्य का उपभोग करता है। मनुष्य के मानसिक विकास में रुकावट होना ही मन का रोग-ग्रसित होना है। जगत की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। उसकी प्रत्येक वस्तु गतिवान है। मनुष्य भी जहाँ का तहाँ नहीं ठहर सकता। वह जन्म से सदा आगे बढ़ता रहता है। वह एक अवस्था पार कर के दूसरी अवस्था में जाता है। जिस प्रकार उसका शरीर बढ़ता है और उसकी शरीर की अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहता है, इसी प्रकार उसका मन भी बढ़ता है और उसको अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहता है। स्वस्थ मनुष्य का शरीर और मन दोनों ही एक साथ बढ़ते हैं और अपनी अवस्थायें बदलते हैं। मानसिक रोग की अवस्था में ऐसा नहीं होता। मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य का शरीर एक अवस्था में रहता है और उसका मन दूसरी अवस्था में रहता है। जिस प्रकार कितने ही लोगों के शरीर की बाढ़ किसी कारणवश रुक जाती है, इसी प्रकार उनके मन की बाढ़ भी किसी कारण से रुक जाती है। इस प्रकार की स्थिति मानसिक विकास की रुकावट को प्रदर्शित करती है।

मानसिक विकास की विशेषता

मनुष्य का शारीरिक विकास स्वभावगत वस्तु है। परन्तु उसका मानसिक विकास पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर नहीं करता। मनुष्य अपने मानसिक विकास में प्रकृति की सहायता कर सकता है अथवा उसके

कार्य में बाधा डाल सकता है। जब मनुष्य मानसिक विकास के प्राकृतिक नियमों को समझ कर अपनी आत्मोन्नति का प्रयत्न करता है तो वह थोड़े ही काल में अपने आप का इतना अधिक विकास कर लेता है जितना कि अविवेकी पुरुष जन्म भर नहीं कर पाता। संसार में हम बहुत से ऐसे लोगों से मिलते हैं जो शरीर से बूढ़े हैं किन्तु जो मन से बच्चे हैं। इन लोगों को हम मानसिक रोगी कह सकते हैं। संसार में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो शरीर से नवयुवक हैं किन्तु मन से प्रौढ़ व्यक्तियों अथवा वयोवृद्ध के समान विकसित हैं। संसार के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति इसी प्रकार के होते हैं। स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, सेन्ट फ्रांसिस और स्पैनोजा इस प्रकार के लोगों में थे।

मनुष्य के मन के विकास के दो पहलू हैं बौद्धिक और भावात्मक। कितने ही लोग बुद्धि में प्रौढ़त्व प्राप्त कर लेते हैं परन्तु भावात्मक दृष्टि से बच्चे ही बने रहते हैं। जिस प्रकार शरीर बढ़ते हुए भी कितने ही लोगों की का विलास नहीं होता इसी प्रकार कितने ही लोगों की बुद्धि बुद्धि बढ़ते हुए भी उनका भावात्मक विकास नहीं होता है। ऐसे लोग संसार में दूसरों को समझाने के लिए अनेक प्रकार का ज्ञान रखते हैं; उनमें तर्कयुक्त विचार करने की अच्छी शक्ति रहती है; वे विद्योपार्जन में प्रवीण होते हैं परन्तु वे छोटी-छोटी सी बातों के लिए उद्विग्न मन हो जाते हैं। दूसरों को उपदेश देने में बहुत से कुशल व्यक्ति स्वयं अंधकार में रहते हैं। ऐसे लोगों के भीतरी और बाहरी मन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उनकी बुद्धि उन्हें एक ओर ले जाती है और उनका हृदय उन्हें दूसरी ओर ले जाता है। मस्तिष्क शुद्ध ज्ञान का इच्छुक होता है और हृदय लौकिक व्यवहार का। ऐसे लोगों को अनेक प्रकार के अकारण भय, चिंताएँ और बाध्यविचार सताते रहते हैं। मनुष्य आरोग्यवान् तभी होता है जब उसके मस्तिष्क और हृदय में एकता रहती है और उसके मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ उसके हृदय का भी विकास होता है। जैसे जैसे उसके ज्ञान का विकास होता है वैसे वैसे उसकी इच्छाओं

का भी विकास होता है तभी वह स्वस्थ और सुखी रहता है। आधुनिक सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि इसमें मनुष्य का बौद्धिक विकास तो होता है परन्तु उसके हृदय का और उसकी इच्छाओं का विकास नहीं होता।

मानसिक विकास में रुकावट के कारण

मनुष्य का मानसिक विकास दो कारणों से रुकता है—पहला आदर्श हीनता से और दूसरे समय के पूर्व उच्चादर्श की प्राप्ति की चेष्टा से। मनुष्य जैसेजैसे बुद्धि में विकसित होता है वह किसी ऊँचे आदर्श को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। पशुओं में सोचने की शक्ति नहीं होती, अतएव उनमें आदर्शवादिता भी नहीं पाई जाती। जिस व्यक्ति के जीवन में आदर्शवादिता बिल्कुल नहीं है वह पशु के समान ही है। ऐसे व्यक्ति की मानसिक शक्तियाँ बिखरी हुई रहती हैं। इच्छाशक्ति ऐसी अवस्था में निर्बल रहती है। आदर्श हीन व्यक्ति का जीवन उसी प्रकार है जिस प्रकार पतवार के बिना चलनेवाली नाव। जिस प्रकार पतवार की अनुपस्थिति में नाव को किसी विशेष ओर नहीं मोड़ा जा सकता उसी प्रकार आदर्श की अनुपस्थिति में जीवन को किसी विशेष ओर नहीं बढ़ाया जा सकता। ऐसे व्यक्ति का मन सदा डाँवाँडोल अवस्था में रहता है। कभी वह एक प्रकार के भोगों की ओर दौड़ता है कभी दूसरे प्रकार के भोगों की ओर। ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार की आत्म-भर्त्सना होती है। परन्तु इन आत्म-भर्त्सना के होते हुए भी वह अपने आप को सुख की खोज से मुक्त नहीं कर सकता। विषय सुख से लिपटा हुआ मन अनेक प्रकार से मानसिक क्लेश पाते हुए भी उन्हीं की ओर सदा दौड़ता रहता है।

मानसिक रोगों का प्रयोजन

हम संसार में ऐसे अनेक लोगों को पाते हैं जो बूढ़े होने पर भी नाच-गाने और तमाशे में, धन इकट्ठा करने में, अपनी वेष-भूषा बनाने

में, निरर्थक देशाटन करने में अपने-आप को खोये रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम मानसिक विकास की दृष्टि से बच्चे ही कह सकते हैं। वे शरीर से बढ़ते हैं परन्तु मन से जहाँ के तहाँ रहते हैं। अपनी ऐसी बचपन की अवस्था से मुक्त करने के लिए ऐसे लोगों को मानसिक रोग होते हैं। उनका अन्तरिक स्वत्व उन्हें इन रोगों के द्वारा पुराने क्रीड़ास्थलों को छोड़ने के लिए बाध्य करता है। जो लोग स्वयं अपनी अवस्था के अनुसार अपने आत्म-रमण की सामग्रियों में परिवर्तन नहीं करते उन्हें बाध्य होकर उन सामग्रियों में परिवर्तन करना पड़ता है। मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश देकर प्रकृति उसे आगे बढ़ने के लिए बाध्य करती है। प्रकृति किसी भी व्यक्ति को सदा बच्चा ही नहीं बना रहने देना चाहती। स्वाभाविक विकास के नियम के अनुसार मनुष्य को नीचे स्तर की इच्छाओं को छोड़कर ऊँचे स्तर की इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रकार के विकास को इच्छाओं का विकास कहा जाता है। इस तरह इच्छाओं के विकास के साथ साथ मनुष्य के प्रेम का अथवा भावों का भी विकास होता है। प्रारंभ में उसका प्रेम स्वार्थी और आक्रमणकारी होता है परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य का मानसिक विकास होता है उसका प्रेम निःस्वार्थ और निरपेक्ष होता जाता है। वह निःस्वार्थ भाव से ही सबका कल्याण चाहने लगता है। प्रेम की पूर्णता की स्थिति में मनुष्य अपने आप को सब में और सब को में अपने आप में देखता है।

जब मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की नित्यप्रति विकसित होने की इच्छा की पूर्ति नहीं करता तो वह अनेक प्रकार की मानसिक झंझट में पड़ जाता है। यही कारण है कि कितने ही लोग जिनका जीवन युवा काल तक सुचारु रूप से चलता रहता है एकाएक किसी मानसिक रोग के शिकार बन जाते हैं। चार्ल्स युंग महाशय का कहना है कि कितने ही लोग ४० वर्ष की अवस्था के बाद, जिनका जीवन पूरी तरह से सफलता से चलता रहता है, एकाएक अपने आप को मान-

सिक उलझन में पड़े हुए पाते हैं। लेखक को ऐसे अनेक ३० वर्ष से ऊपर की आयु के व्यक्तियों से परिचय हुआ जो अपने युवाकाल में पर्याप्त लौकिक सफलता प्राप्त कर चुके थे, जिनके धन संचय करने और यश कीर्ति प्राप्त करने की अनेक लोग प्रशंसा करते थे और जिनकी सफलता को देखकर उनके समकक्ष अनेक लोग उनके ईर्ष्यालु हो गये थे। ऐसे लोगों को एकाएक कोई साधारण सी घटना से मानसिक रोग उत्पन्न हो गया और फिर उन्हें अपना जीवन भार रूप हो गया। आँख मूँद कर धन संचय करने वाले अथवा इन्द्रिय सुख में लगे हुए कुछ व्यक्तियों को कभी किसी व्यक्ति के मर जाने से अथवा किसी की बीमारी की खबर सुनने से एकाएक ऐसे मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी चिकित्सा करवाना उन्हें असंभव हो जाता है। फिर वे लोग जितने ही अपने आपको सफल समझते थे उतने ही वे अपने आपको असफल और भग्यहीन मानने लगते हैं। इस प्रकार के रोगों का आगमन दर्शाता है कि ये लोग जीवन के विकास के क्रम के साथ अपने आपको नहीं चला रहे थे। उन्हें जब उच्च स्तर की इच्छाओं को अपने जीवन में स्थान देना चाहिए था उस समय वे नीचे स्तर की इच्छाओं की तृप्ति में लगे हुए थे। यदि ये लोग जीवन के विकास के क्रम को समझ कर अपने आपको धीरे धीरे निम्न कोटि की इच्छाओं से मुक्त करके उच्च कोटि की इच्छाओं की तृप्ति में लगाते तो उनके जीवन में न तो कोई अवांछनीय घटना घटित होती और न उन्हें कोई मानसिक रोग ही होता।

मनुष्य का जीवन अपने आप के लिए नहीं है मनुष्य प्रत्येक दृष्टि से अनन्त सत्ता का एक अंग मात्र है। उसका शरीर एक परंपरा गत शरीर की शृङ्खला की एक कड़ी मात्र है। वह अपने माता पिता से शरीर पाता है और वह स्वयं अनेक दूसरे प्राणियों को शरीर देता है। जब तक वह अपने इस प्रकार के ऋण को नहीं चुका देता वह शारीरिक दृष्टि से विकसित नहीं कहा जा सकता। जब मनुष्य प्रकृति से जितना लेता है उससे अधिक देता है तब उसे विकसित कहा जाता है।

बाचपन में मनुष्य अपने शरीर के पोषण के लिए अनेक प्रकार की वस्तुएँ लेता है। प्रौढ़ होने पर उसे लेने की इच्छा न रखकर सदा देने की इच्छा रखनी पड़ती है। उसे अपनी शारीरिक भूख की चिंता न करके दूसरे की शारीरिक भूख की चिंता करनी पड़ती है। बचपन में बच्चा दूसरों के प्रेम का भूखा रहता है। जिस प्रकार उसे बचपन में भौतिक भोजन के लिये दूसरों पर निर्भर रहना आवश्यक है और उसे शोभा भी देता है, उसी प्रकार मानसिक दृष्टि से बचपन में दूसरे लोगों के प्रेम का भूखा रहना और उनके प्रेम पर निर्भर रहना स्वाभाविक है और यह उसे शोभा भी देता है। बच्चा प्रत्येक तरह से बड़ा स्वर्थी होता है और वह दूसरे बच्चों का बड़ा ईर्ष्यालु होता है, परन्तु यदि कोई प्रौढ़ व्यक्ति बच्चे के समान ही स्वार्थी और दूसरों का ईर्ष्यालु बना रहे, दूसरों को अपना प्रेम न देकर दूसरों के प्रेम का इच्छुक ही रहे, तो इस प्रकार के व्यक्ति को हम मानसिक दृष्टि से अविकसित व्यक्ति कहेंगे। वह प्रौढ़ होकर भी बच्चा ही है। जिस प्रकार बच्चे के लिए दूसरे के प्रेम-प्राप्ति की इच्छा रखना स्वाभाविक है उसी प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति को दूसरों को प्रेम देना, उनकी निस्वार्थ भाव से सेवा करना स्वाभाविक है।

प्रेम का विकास और मानसिक स्वास्थ्य

मनुष्य के प्रेम का विकास किस प्रकार होता है इसे हम बच्चे, किशोर बालक, युवा और प्रौढ़ व्यक्ति के प्रेम की प्रगति में देख सकते हैं। बच्चा जितना छोटा होता है उसका प्रेम उतना अपने आप पर ही केन्द्रित होता है। बच्चे का प्रेम स्वाश्रित होता है। इस प्रकार के प्रेम को पश्चिम के लोग नारसिसस प्रेम कहते हैं। नार्सीसस अपने ही प्रेम में इतना खो गया था कि वह किसी दूसरे को प्रेम ही न कर सका। जब बालक बड़ा होता है तब उसका प्रेम अपने ही समान दूसरे बालकों पर जाता है। वह दूसरे बालकों से प्रेम की आशा करता है और उन्हें अपना प्रेम देता भी है। किशोर बालक अपने

साथी की सेवा करता है और उसे सुखी बनाने की चेष्टा करता है। वह अपने साथी से भी इसी प्रकार की आशा करता है। उसका प्रेम सर्वथा निःस्वार्थ नहीं होता। युवावस्था में इसी प्रकार के बराबर देन लेन की परिपक्वता होती है। यदि कोई युवक किसी युवती को प्रेम करता है तो वह उससे प्रेम की आशा भी रखता है। दोनों के पारस्परिक प्रेम से उनका जीवन सुखी होता है। इस प्रेम को बढ़ाने में दोनों की काम वासना कार्य करती है।

जब पति-पत्नी के प्रेम के परिणाम स्वरूप उन्हें सन्तान उत्पन्न हो जाती है तो उनके प्रेम के विकास की एक नई अवस्था आती है। संतान के प्रति प्रेम उस प्रकार स्वार्थमय नहीं है जैसा सखा-प्रेम और दम्पत्ति-प्रेम है। संतान को प्रेम केवल प्रेम के लिए ही किया जाता है। उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह उस प्रेम का बदला चुकावे। प्रकृति ने मनुष्य को प्रौढ़त्व इसी लिए दिया है कि वह निःस्वार्थ भाव से दूसरों की सेवा करे। पहले वह अपने बच्चों को प्यार करता है, फिर संसार के दूसरे लोगों को प्यार करता है।

यदि कोई मनुष्य प्रेम के विकास के उपर्युक्त क्रम के अनुसार अपने जीवन को आगे बढ़ाता रहे तो वह स्वभावतः ही अपने जीवन को सब प्राणी मात्र की भलाई के लिए अर्पित कर देता है। वह अकारण ही दूसरों को उनके दुःखों से मुक्त करने में लग जाता है। निःस्वार्थ भाव से बालकों को पढ़ाना, प्रौढ़ों को शिक्षित बनाना, रोगियों की सेवा करना, उन्हें आरोग्य प्राप्ति के उपाय बताना, दूसरों को खुश करने के लिए सुन्दर कविता बनाना, चित्रकारी करना, कुवाँ और तालाव खुदवाना ये सब कार्य स्वभावतः ही विकासोन्मुख जीवन का व्यक्ति करता है। जो व्यक्ति इस प्रकार दूसरों की भलाई में अपने आप को भुला देता है वही सचमुच में सुखी और स्वस्थ रहता है। ऐसे व्यक्ति को मानसिक रोग नहीं सताते। दूसरों की भलाई करने में लगे हुए व्यक्ति के अनेक प्रकार के दोष अपने आप नष्ट हो जाते हैं। मानसिक रोग तभी होते हैं जब मनुष्य प्रेम के प्रसार के नियम की

अवहेलना करता है। वह अपने प्रेम को विस्तीर्ण न बनाकर संकुचित ही रखता है, दूसरे लोगों को अथवा अपनी, संतान को ही उनसे लाभ पाने की इच्छा से प्रेम करता है अथवा उनकी सहायता करता है। जब मनुष्य अपनी अवस्थानुसार आचरण बनाता है तो वह स्वस्थ और सुखी होता है।

जीवन के मूल्यों में परिवर्तन

विकासोन्मुख जीवन का व्यक्ति बाहरी मूल्यों के प्रति धीरे धीरे उदासीन हो जाता है और अध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। मनुष्य अपने जीवन के आधे भाग में सांसारिक मूल्यों की ओर दौड़ता है यह उसके लिए स्वाभाविक ही है। यदि मनुष्य का जीवन भली प्रकार विकसित होता रहा तो जीवन के दूसरे काल में वह बाहरी मूल्यों की परवाह न कर आध्यात्मिक मूल्यों की परवाह करने लगता है। भौतिक धन के संचय में अपना समय नष्ट न कर आध्यात्मिक धन के संचय में अपना समय व्यतीत करता है। चार्ल्स युंग ने मनुष्य के जीवन की प्रगति की तुलना सूर्य की गति से की है। जिस प्रकार सूर्य मध्याह्न काल तक ऊपर को चढ़ता है उसी प्रकार अपने जीवन के मध्याह्न काल तक मनुष्य स्वाभावतः लौकिक सफलता के कार्यों में अपने आप को लगाता है। ऐसा करना उसे उचित भी है। मध्याह्न काल के अनन्तर सूर्य धीमा हो जाता है, इसी प्रकार ढलती हुई उमर में मनुष्य की चेतना भी लौकिक वृद्धि के प्रति उदासीन हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि चेतना का प्रकाश सर्वथा खो जाता है। जिस प्रकार सूर्य जब एक जगह ढलता है तो दूसरी जगह पौ फूटती है और वहाँ उसका प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता है, इसी प्रकार मनुष्य की चेतना जब लौकिक व्यापारों से उदासीन हो जाती है तो वह आध्यात्मिक व्यापारों में लग जाती है; अर्थात् मनुष्य इस समय लौकिक धन, यश, कीर्ति आदि का संचय न कर आध्यात्मिक धन संचय में, अर्थात् आत्मज्ञान बढ़ाने,

सद्भावनाओं के संचय करने और अपने आपका विश्व से एकत्व स्थापित करने में लग जाता है मनुष्य जब अपनी अवस्थानुसार योग्य धन के संचय में लगता है तब उसे आत्म-भर्त्सना नहीं होती और न उसे किसी प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। मनुष्य को आत्म भर्त्सना तभी होती है जब वह अपने आप में किसी प्रकार की कमी देखता है, अपने आपको किसी प्रकार से गरीब पाता है। जो मनुष्य प्राकृतिक विकास के नियम के अनुसार अपने जीवन को चलाता है उसे अपने आप में किसी ऐसी कमी की अनुभूति नहीं होती जिसके लिए आत्म भर्त्सना करनी पड़े।

एकांगी विकास और मानसिक रोग

जीवन के विकास के क्रम के अनुसार चलने से मनुष्य के आदर्शों और विचारों में विकास होता है, उसके मन में स्वभावतः ही अच्छी अच्छी भावनाएँ उठती हैं और वह इन भावनाओं को पूरा करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। परन्तु कभी कभी मनुष्य के मानसिक विकास में गड़बड़ी आ जाती है। बालकों की उचित शिक्षा न होने के कारण उनमें एक ओर बड़ी आदर्शवादिता आ जाती है और दूसरी ओर अपने आदर्शों के अनुसार आचरण करने की क्षमता नहीं रहती। ऐसा तब होता है जब बालक को समय के पूर्व ऊंची नैतिक शिक्षा दी जाती है और उसे मारपीट कर आदर्श व्यक्ति बनाने की चेष्टा की जाती है। जिस प्रकार शिक्षा विहीन बालक के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होता, उसी प्रकार कठोर यंत्रणा में रखे गये बालक का अथवा अत्यधिक नैतिक शिक्षा दिये गए बालक का व्यक्तित्व अधूरा बना रहता है। ऐसे बालक में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है जिस बालक को बचपन में माता-पिता का समुचित प्यार नहीं मिला है वह प्रेम का भूखा रहता है। जिस व्यक्ति को बचपन की इच्छाओं की समुचित तृप्ति नहीं हुई है वह शरीर से बढ़ता है परन्तु मन से बच्चा ही बना रहता है। ऐसे व्यक्ति का कभी कभी तो

बौद्धिक विकास ही रुक जाता है और कभी कभी उसका बौद्धिक विकास तो होता है किन्तु उसके भावों का और चरित्र का विकास नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की आत्महीनता की भावनाएँ छिपी रहती हैं। इसके कारण उसका आचरण विलक्षण और दोषयुक्त होता है। वह कुछ ऐसी करामातों को दूसरों को दिखाना चाहता है जिन्हें देखकर वे दंग रह जाँय। वह असाधारण कार्य करने की चेष्टा करता है और जब ऐसे कामों में विफल हो जाता है तब आत्म-भर्त्सना करने लगता है। ऐसा ही व्यक्ति अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रसित होकर समय के पूर्व काल कवलित हो जाता है। वास्तव में उसकी अंतरात्मा ही इन रोगों का आवाहन करती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार देर तक किसी ऐसी अवस्था में ठहरे रहना, जिसे पार करना मानसिक स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है, बुरा है उसी प्रकार समय के पूर्व मानसिक परिपक्वता का आ जाना भी मानसिक रोग का लक्षण है। जो व्यक्ति समय के पूर्व ही सांसारिक कार्यों से अपना मुख मोड़ लेता है वह अपने आप को मानसिक रोग का भागी बनाता है। भारत में कितने ही लोग समय के पूर्व घर द्वार को छोड़ देते हैं अथवा लंगोटी लगाकर देश सेवा के कार्य में लग जाते हैं। ऐसे लोगों में वैसी मानसिक परिपक्वतता नहीं आती जैसी कि सांसारिक जीवन में भली भाँति रहकर उसके पार जाने से आती है। कितने ही लोग किसी भावावेश में आकर घर द्वार छोड़ देते हैं। उनका यह क्षणिक वैराग्य उन्हें दुःखदायी बन जाता है। यदि वे बुद्धिमान हुए तो अपने काम का औचित्य दूसरों के समक्ष सिद्ध कर देते हैं परन्तु वे स्वयं अपने हृदय को समझाने में असमर्थ रहते हैं। जिन लोगों का बौद्धिक विचार एक स्तर पर रहता है और उनकी हार्दिक भावनाएँ दूसरे स्तर पर रहती हैं उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। हृदय और मस्तिष्क की एकता तभी रहती है जब मनुष्य धीरे

धीरे धीरे एक एक सीढ़ी ऊपर के आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च मंजिल पर चढ़ने की चेष्टा करता है। समय के पूर्व एकाएक आगे बढ़ जाना बाद की प्रगति में रुकावट का कारण बन जाता है। इस प्रकार की प्रगति से मनुष्य की मानसिक शक्ति स्थायी रूप से पुरोगामी न बन कर प्रतिगामी बन जाती है। इस प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति केवल दिखाऊ हो जाती है। यह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बन जाती है।

मनुष्य को दोनों प्रकार की अत्यन्तता से, एकान्तता से, अपने आप को बचाना है— एक आदर्श हीनता और दूसरी अत्यधिक आदर्शवादिता। जो व्यक्ति बीच के मार्ग का अनुसरण करते हैं वे स्थायी शांति और स्वास्थ्य प्राप्त करते हैं। मनुष्य जहाँ है वहाँ ठहर नहीं सकता। उसे आगे बढ़ना ही होगा, अर्थात् उसे निम्न स्तर की वासनाओं को त्याग कर उच्च स्तर की वासनाओं को दृढ़ करना पड़ेगा। परन्तु यदि वह अपनी प्रगति को स्थायी रखना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आप को भली प्रकार से समझते हुए धीरे धीरे एक एक पग आगे रखे। उतावलापन यहाँ बड़ा ही हानिकारक होता है।

मनुष्य की दो प्रकार की भूलें

मनुष्य प्राय :दो प्रकार की भूलें करता है। पहले प्राकर की भूल सदा अपने आप को नीचे स्तर की इच्छाओं की तृप्ति में लगाये रखने की है। जब मनुष्य की अवस्था शारीरिक सुखों के त्याग करने और आध्यात्मिक आनंद प्राप्ति के उपयुक्त होती है तब भी वह अपने पुराने अभ्यास के कारण निम्नकोटि के सुखों की खोज में तथा उनकी प्राप्ति के साधनों के संग्रह में लगा रहता है। धन का संग्रह मनुष्य को केवल इन्द्रिय सुख दे सकता है, उच्चकोटि का सुख धन के त्याग से ही प्राप्त होता है। मनुष्य की आत्मा जब उच्च कोटि के सुख की भूखी होती है तब भी वह निम्न कोटि के सुखों के

साधनों के जोड़ने में अपने मन को लगाये रहता है। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य को मानसिक रोग हो जाते हैं। ये रोग उसे उन वस्तुओं का त्याग करने के लिये बाध्य करते हैं जिनका त्याग स्वयं उसे अपने आत्म-स्फूर्ति से करना चाहिये था। जब कोई बालक केवल कहने सुनने से अपना कर्तव्य नहीं करता तब उसे गुरु जी डाँट-डपट कर अथवा शारीरिक दण्ड दे कर भी अपना कर्तव्य करने के लिये बाध्य करते हैं। जब ऐसे लोग अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना न कर उसके आदेशानुसार अपना आचरण बना लेते हैं तब उनके मानसिक रोगों का अन्त हो जाता है। पृष्ठ ६ में दिये हुए मूर्छा के रोग के दृष्टान्त में रोगी के रोग का कारण उसके अन्तरात्मा की संसारिक सुखों को त्यागने और आध्यात्मिक सुखों की चाह पाई गई। रोगी के स्वप्नों से यह स्पष्टता ज्ञात होता है। जब इस रोगी ने अपना आचरण अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार बना लिया तो उसे आत्म-प्रसाद हुआ और उसे स्वास्थ्य लाभ हुआ। इसी प्रकार लेखक के एक मित्र ने, जिन्हें हृदय का रोग हो गया था पैसा कमाने से अपने मन को हटा लिया और कुछ आध्यात्मिक विचारों में तथा पूजा पाठ में अपने आप को लगाया तो उन्हें आरोग्य लाभ हुआ। आधुनिक सभ्यता इन्द्रिय सुखों को अति महत्ता देती है। अतएव जैसे-जैसे सभ्यता का प्रचार होता है मनुष्य के मानसिक रोगों की संख्या भी बढ़ती जाती है। आधुनिक काल के बहुत से विद्वान् मनुष्य को अपने मानसिक क्लेशों से बचाने के लिये अपने आपको सदा किसी लौकिक व्यवसाय में लगाये रखने की सलाह देते हैं। जिस मनुष्य को मानसिक बेचैनी, अकारण चिन्ता विषाद आदि रोग हो गया है उसे सलाह दी जाती है कि यदि वह अपने आपको खेल, तमाशे गपशप लगाने और अन्य प्रकार के कामों में लगाये रखे तो उसे उक्त मानसिक क्लेश न हों। परन्तु यह सलाह अधूरी है। सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए यह सलाह देना ठीक नहीं है। यह सलाह कुछ अविकसित मन के नवयुवकों के उपयुक्त है जिनकी भोग

वासनायें बाल्यकाल में कठोर वातावरण में रहने के कारण तृप्त नहीं हुई। परन्तु साधारण प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए यह सलाह ठीक नहीं है। मनुष्य का मन स्वभावतः ही सांसारिक सुखों से ऊब जाता है, उसे उन्हीं सुखों के पीछे पड़े रहने की सलाह देना नादानी है। इस प्रकार हम इन लोगों के मानसिक विकास को रोकते हैं और जब वे विषय भोगों से ऊँचे उठने की क्षमता प्राप्तकर चुके होते हैं तब उन्हें उन्ही सुखों में लगे रहने के लिये बाध्य करते हैं। इस प्रकार की सलाह के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की अशान्ति उत्पन्न होती हैं मानसिक रोग, अनेक प्रकार की सामाजिक कलह तथा विश्व-व्यापी युद्ध इसी सलाह के परिणाम हैं।

मनुष्य की दूसरे प्रकार की भूल मन की अपरिपक्व अवस्था में ऊँचे ऊँचे आदर्शों की प्राप्ति की चेष्टा करना है। इस प्रकार की चेष्टा अनधिकार चेष्टा है। जब मनुष्य इस प्रकार के आदर्शों के कारण अथवा बौद्धिक शिक्षा के कारण समय के पूर्व उन कामों को करना छोड़ देता है जो उसके मन को बली बनाने के लिये आवश्यक हैं, जब बालक को समय के पूर्व ही प्रौढ़ बनाने की चेष्टा की जाती है तो इससे बालक का मानसिक विकास रुक जाता है। कोई भी व्यक्ति समय के पूर्व ज्ञानी, तपस्वी और महात्मा नहीं बन जाता। जबतक शारीरिक भोगों की इच्छायें कुछ दूर तक तृप्त नहीं हो जाती, तब तक मनुष्य के मन में उच्चकोटि की इच्छाओं का उदय नहीं होता। हमारे देश में व्यक्तिगत सुख की इच्छाओं को समय के पूर्व परित्याग करने की व्यापक धारणा है। बहुत से लोग इस प्रसंग में ययाति राजा के निम्नलिखित वाक्य का उल्लेख करते हैं—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।'

"विषय-भोग की इच्छा विषय-भोग द्वारा शान्त नहीं होती।

विषय-भोग द्वारा तो वह अधिक तीव्र तथा उत्कट होती है। आग में घी डालने से वह शान्त नहीं होती, प्रत्युत प्रज्वलित ही होती है।"

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर मानसिक शान्ति पाने के लिये सभी प्रकार के लोगों को विषय भोग की इच्छाओं के दमन की सलाह दी जाती है। परन्तु इस प्रकार की सलाह भी भूल है। राजा ययाति को जो उपर्युक्त ज्ञान हुआ वह उनके जीवन भर के ठोस अनुभव के ऊपर आधारित था। उन्होंने जानबूझ कर अपने आप को इन्द्रिय सुखों में लगाया था ताकि वे उसकी वास्तविकता को पहचान लें। परन्तु जो लोग उनके वाक्य का उल्लेख किया करते हैं, उन्हें इन्द्रिय सुख की वास्तविकता का अपना कोई अनुभव नहीं रहता। इससे यह उपदेश मनुष्य को केवल बौद्धिक ज्ञान देता है, इससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा नहीं होती। सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा अर्थात् मनुष्य का सच्चा मानसिक विकास तभी होता है जब मनुष्य के बौद्धिक निष्कर्ष अपने अनुभव के द्वारा प्राप्त होते हैं। अनुभव विहीन बौद्धिक ज्ञान से मनुष्य के भीतरी अर्थात् भावात्मक स्वत्व और उसके चिन्तनशील स्वत्व में विच्छेद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क एक बात कहता है और उसका हृदय दूसरी बात चाहता है। हृदय जब अपनी बातों को स्पष्टतः मनुष्य की चेतना के समक्ष नहीं ला पाता तो वह इन बातों को उसकी सुप्तावस्था में भूलों में और अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों में व्यक्त करता है। जो व्यक्ति कठोर कष्ट सहने के बाद भी अपने हृदय की मूक भाषा को समझ लेता है और अपनी वास्तविक मानसिक स्थिति को समझकर मन की दबी हुई इच्छाओं की समुचित पूर्ति करता है वह अपने खोये मानसिक साम्य और आरोग्य को फिर से प्राप्त कर लेता है। परन्तु जो व्यक्ति हठवश पुरानी आदत को ही पकड़े रहता है वह अपने रोगों से मुक्त न होकर दुःखी ही बना रहता है। ऐसे व्यक्ति की दबी इच्छाओं की पूर्ति रोगों के द्वारा ही होती हैं। मनुष्य का अहंकार ही उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त करने,

आत्म स्वीकृति करने और अपने आप से एकत्व स्थापित करने में बाधक बनता है। जो व्यक्ति अपनी झूठी महानत को अलग करके वास्तविक स्थिति का साहसपूर्ण सामना करते हैं वे ही स्थायी शान्ति और मानसिक आरोग्य का लाभ करते हैं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अपनी पुरानी दबी इच्छाओं का आचरण में प्रकाशन उनकी तृप्ति के लिए आवश्यक नहीं है। बाल्य-काल की इच्छायें अज्ञात रहने के कारण मनुष्य के मानसिक विकास में बाधक होती हैं। जब ये इच्छायें ज्ञात हो जाती हैं तो उनकी संचित शक्ति का बहुत कुछ रेचन हो जाता है। इसके अतिरिक्त बची हुई शक्ति का समाजोपयोगी कार्य में उपयोग हो सकता है। यह दबी इच्छा का शोध कहलाता है। अपनी प्रौढ़ावस्था में मनुष्य को बालक जैसा व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं रहती; वह बाल्यकाल की इच्छाओं का केवल मानसिक प्रकाशन करके ह उनकी शक्ति को हानिकारक होने से रोक सकता है। जब मनुष्य अपने आपको समझ जाता है तो सरलता से ही वह अपनी उन्नति कर लेता है। हानि अपने आपको स्वीकार न करने की बुद्धि से ही होती है।

दूसरी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि मनुष्य का हेतु उसकी क्रियाओं के मूल्य को निर्धारित करता है। राजा ययाति ने इन्द्रिय सुखों की वास्तविकता जानने के लिये उन सुखों को ग्रहण किया था। अपने बाल्य काल की शिक्षा के परिणाम स्वरूप उन्हें इन्द्रिय सुखों की व्यर्थता का सामान्य बौद्धिक ज्ञान था। परन्तु उनका हृदय बार बार उन्हीं की ओर जाता था। अपने बाल-मन की इस भूल को सुधारने के लिये ही ययाति राजा ने जीवन भर इन्द्रिय सुखों का उपभोग किया। वे जैसे जैसे इन सुखों का भोग करते गये उनका मन उनमें अधिकाधिक लिपटने की अपेक्षा उनसे दूर हटता गया और अन्त में वे इन्द्रिय सुखों के दोषों को भली प्रकार समझ गये तथा उनकी इच्छाओं से मुक्त हो गये।

जिस प्रकार ययाति राजा ने अपने बाल-मन को समझाया, इसी

प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को संसार में पड़कर अपने मन को व्यक्तिगत सुख की इच्छाओं अर्थात् इन्द्रिय सुख की इच्छाओं से हटाना पड़ता है। यहाँ मनुष्य का बौद्धिक विचार उसकी आन्तरिक शान्ति लाभ करने की साधना का कारण बनता है। हमें बौद्धिक ज्ञान को अपना वास्तविक ज्ञान न समझ लेना चाहिये। मनुष्य का वास्तविक ज्ञान वह है जो उसके पूरे व्यक्तित्व को ओत प्रोत कर देता है और उसके न केवल मस्तिष्क को, वरन् हृदय को वैयक्तिक सुख की इच्छाओं से मुक्त कर देता है। जब तक मनुष्य पूरे मन से ऊँचा नहीं उठता उसका एकांगी विकास रोग का कारण बनता है। यहाँ मनुष्य को अपने मन को भली प्रकार से समझकर अपना आत्मनिर्माण करना पड़ता है। इस प्रकार का आत्म-निर्माण करना ही उसका परम पुरुषार्थ है।

चौबीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद का पाठ्यक्रम

प्राचीन काल में आयुर्वेद के अध्ययन का कितना समय था, यह बात स्पष्ट नहीं। यह केवल आयुर्वेद के लिए ही नहीं, अपितु व्याकरण आदि दूसरे विषयों के सम्बन्ध में भी है। इसी से पंचतंत्र में कहा है कि व्याकरण पढ़ने के लिए ही बारह वर्ष चाहिए। इसके पीछे मनु आदि के बनाये धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि पढ़ने होते हैं। इतना पढने के पीछे धर्म अर्थ, काम के शास्त्रों का ज्ञान होता है। इसके पीछे इनका मनन होता है। कहा भी है—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

पंचतंत्र, कथामुख ९

शब्दशास्त्र अनन्त है, आयु संक्षिप्त है, बीच में बहुत से विघ्न हैं, इसलिए छूँछ को छोडकर सार भाग लेना चाहिए, जिस प्रकार कि हंस पानी-मिले दूध में से दूध को ले लेते हैं, पानी को छोड़ देते हैं। इसी विचार से सम्भवत आयुर्वेद का पाठ्य-क्रम चार साल का था—

अन्तेवासी गुरोर्गृहं कृतकालं वर्षचतुष्टयमायुर्वेदशिल्पशिक्षार्थं त्वद्गृहे वसामीति।

याज्ञ०, मिताक्षरा टीका

अन्तेवासी बनकर गुरु के घर में चार साल पर्यन्त आयुर्वेद शिल्प की शिक्षा के लिए रहना होता था। नालन्दा और तक्षशिला विद्यापीठों के अध्ययनक्रम से स्पष्ट है कि वहाँ पर उच्च शिक्षा का ही प्रबन्ध था। प्रारम्भिक शिक्षा नहीं होती थी। इसी से नालन्दा में जो विद्यार्थी प्रवेश की इच्छा से आता था, उससे वहाँ का द्वारपण्डित कुछ कठिन प्रश्न करता था। उन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने पर ही उसे नालन्दा में प्रविष्ट किया जाता था। इस प्रकार से दस विद्यार्थियो में से दो-तीन को ही प्रवेश मिलता था। यह द्वारपण्डित उस विद्या का विद्वान् होता था जिस विद्या को पढ़ने के लिए विद्यार्थी आता था (हर्ष, पान्थरी)।

बिहार

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, पटना; (२) [illegible]।

उड़ीसा

गोपबन्धु आयुर्वेदिक विद्यापीठ कालेज फार्मेसी, पुरी (उड़ीसा)।

उत्तर प्रदेश

(१) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि इलाहाबाद; (२) गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार; (३) ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, हरिद्वार; (४) स्टेट फार्मेसी आफ़ आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी मेडिसिन, उत्तरप्रदेश, लखनऊ; (५) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक फार्मेसी, बनारस, (६) गवर्नमेन्ट ड्रग को-आपरेटिव ड्रग्स फैक्टरी, रानीखेत, (७) देशरक्षक औषधालय, कनखल (सहारनपुर); (८) बाबा काली कम्बली वाले की आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऋषिकेश (देहरादून)।

मद्रास

(१) दी मद्रास स्टेट इन्डियन मेडिकल प्रैक्टिशनर [illegible] फार्मेसी एण्ड स्टोर लिमिटेड, मद्रास; (२) नाबी आर आयुर्वेदिक फार्मेसी।

आसाम

गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज—फार्मेसी, गोहाटी।

केरल

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, त्रिवेन्द्रम; (२) श्री केरल वर्मा आयुर्वेद फार्मेसी, त्रिचूर; (३) आर्यवैद्यशाला, कोटाकल (केरल)।

आन्ध्र

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, हैदराबाद (आन्ध्र)।

मैसूर

निखिल कर्णाटक सैन्ट्रल आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, मैसूर।

पंजाब

(१) पजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर; (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, पटियाला, (३) पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द; (४) प्रताप आयुर्वेदिक फार्मेसी, पजाब, (५) भरद्वाज आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर; (६) श्रीकृष्ण आयुर्वेदिक फार्मेसी, नमक मण्डी, अमृतसर; (७) डी० ए० वी० फार्मेसी, जालन्धर।